आरण्यक

बांग्ला भाषा का उत्कृष्टतम उपन्यास

विभूतिभूषण बंदोपाध्याय



आरण्यक

(बंगला भाषा का उत्कृष्टतम उपन्यास)

लेखक

विभूतिभूषण बन्द्योपाध्याय

अनुवादक

श्री हंसकुमार तिवारी

भूमिका

डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी

साहित्य अकादेमी की ओर से

भारती-भण्डार, प्रयाग

साहित्य अकादमी, नई दिल्ली
की ओर से
भारती-भंडार, प्रयाग द्वारा प्रकाशित

प्रथम हिन्दी संस्करण
१९५७
मूल्य चार रुपये (४०० नये पैसे)

श्री बिन्दाप्रसाद ठाकुर द्वारा
लीडर प्रेस, प्रयाग में मुद्रित

परिचय

विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय का 'आरण्यक' बंगला और भारतीय साहित्य के उन गिने-चुने ग्रंथों में है, जो महान् हैं। और इनमें ही क्यों, किसी भी साहित्य में इसकी मर्यादा यही होगी। यह गद्य-प्रगीत है, वन की गीति का काव्य। मानव-पुत्रों के वर्धमान कुल-परिवार को जगह देने के लिए अतुल्य वनराजि का उच्छेद होता जा रहा है। इसी उच्छेद की पृष्ठभूमि पर लेखक ने सहानुभूति के साथ, तथा बरबस लोहा मनवा लेने वाली सच्चाई के साथ वन एवं आदिम ग्राम के प्रतिवेश में मानव का चित्र अंकित किया है। इस तरह 'आरण्यक' एक ऐसी कविता है, जिसका विषय प्रकृति भी है और मनुष्य भी, और जो दोनों की ही परम मनोहर छवि उपस्थित करती है। इस छवि का आधार ज्ञान एवं सह-संवेदन, दोनों हैं।

बंगला साहित्य में विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय निचले बंगाल की सदा फूलों-फलों हरी-भरी एवं सदा-बहुरंगी प्रकृति की गोद में फुदकते ग्राम-जीवन को अभिव्यक्ति देने वाले के रूप में भली भांति प्रख्यात हैं। आजकल प्रकृति के प्रेमियों का कोई अभाव नहीं है। विशेष करके ऐसी अवस्था में जब सभ्यता के क्रम-क्रम से अग्रसर हो रहे चरण हर कहीं प्रकृति माता के पुण्य प्रकोष्ठों पर चढ़ते चले जा रहे हैं, जब वन्य परिवेश से नग-जड़ से पेड़-पौधों, जंगल-झाड़ों, खुले मैदानों, डूंगरों-पहाड़ों, सोतों-झरनों और नद-नदियों के साथ हमारे मार्मिक और घनिष्ठ संपर्क टूटते जा रहे हैं। प्रकृति के प्रति आकर्षण का अनुभव हम इसलिए करते हैं कि बड़े-बड़े नगरों के दमघोंट वातावरण से हम छुटकारा पाना चाहते हैं, दम भर की राहत चाहते हैं।

पर विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय की रचनाओं में केवल इतना ही नहीं है। कुछ और है। और वह कुछ-और ऐसा कुछ है जो हमारे मानस

की गहराइयों में उतरकर हमें जगा देता है तथा अपने ही अन्तर में प्रकृति की आत्मा की एक झिलमिल-झिलमिल-सी अनुभूति करा देता है। वह पेड़ों-पौधों के, फलों-फूलों के, जड़ी-बूटियों के तथा वन्य जीवन के प्रेमी तो हैं ही, उनके पारखी भी हैं। पर उनकी निरख-परख कैंची और खुर्द-बीन वाले वनस्पति-शास्त्री की नहीं बल्कि उस व्यावहारिक मानव की है, जिसके लिए पत्तों और टहनियों में, फूलों और फलों में, पेड़ों और पौधों में भी कोई संदेश है, उनका अपना-अपना कोई व्यक्तित्व भी है, कोई नाम-धाम भी है। जंगल और जंगल के वृक्षों के लिए उनका उत्साह संक्रामक है तथा उनकी लिखी इस महान् पुस्तक को पढ़ने के बाद पाठक के प्राण इनकी असंभवानुकृति प्राकृतिक पृष्ठभूमि और परिवेश से उत्फुल्ल हो-हो उठते हैं।

कथा या वर्णन तो इस पुस्तक में नाम-मात्र को ही है। कथानायक के नाम पर एक अत्यन्त सुसंस्कृत बंगाली युवक स्नातक के अनुभव मात्र हैं। युवक किसी शिक्षणालय में शिक्षक था। रोजी गँवाकर कलकत्ता जैसे बे-आसरा शहर में चारों ओर से निरस्त-परास्त होकर मारा-मारा फिर रहा था। सौभाग्य-संयोग से उसे छात्र-जीवन के एक ऐसे साथी से भेंट हो गई, जो उसकी साहित्यिक सूझ-बूझ का प्रशंसक था। इस भेंट के फल-स्वरूप उसे किसी जमींदार के कारिंदे का पद मिल गया। काम उस जमीं-दार के एक जंगल को साफ़ करवाकर खेती और चराई के लिए किसानों के हाथों जमीन की बंदोबस्ती करने का था। कथानायक अपनी कहानी आप ही कहता है। इस काम के सिलसिले में वह बंगाल की सीमा से सटे उत्तर बिहार की एक अहल्या वनभूमि के छोर पर आ रहता है। जंगल को काट या जलाकर नौतोड़ खेती करने या दूर-दूर के शहरों में भेजने को वन-जात पैदावारें निकालने या तराई के जंगलों में छाँह-तले उपज-उपज पड़ी अंबोह घास में ढोर चराने के लिए रैयतों को जमीन उठाने की प्रक्रिया में उसे स्वयं ही जंगल के एक बड़े खित्ते को उजाड़ना पड़ जाता है। जिसे उसने प्यार करना सीखा था, उसे उजाड़ने का दायित्व उसी पर आ पड़ता है!

बड़े विशाल पैमाने पर हो रहे इस वनघात की कहानी के तलदेश में गहरी करुण विषाद-भावना की एक फल्गुधारा निरन्तर बहती रहती है। लेखक इस दुःखांत अनुभूति में हमें भी अपना सहभागी बनाये चलता है। पर अपनी पुस्तक के इन २८७ पृष्ठों में उसने एक अहल्या अरण्यानी की समस्त गरिमा, समस्त शोभा और कोमलता के, तथा साथ ही उसकी वीरानगी और आतंक-वितंक के अत्यन्त ही अद्भुत शब्दचित्र दिए हैं। वह दूर कलकत्ता में रहने वाले बड़े जमींदार का प्रतिनिधि है, और इस रियासत से उसके पास जमीन के भूखे लोगों के जो दल आते रहते हैं, वे नितान्त दरिद्र और नितान्त विनीत हैं। पर इस दयनीय दरिद्रता में उन्होंने एक ऐसे जीवन-दर्शन की उपलब्धि कर ली है, जो उन्हें ऊपर से हताश-हताश्वास लगने वाली आर्थिक स्थिति से भी अधिकाधिक सुख-संभावनाएँ निचोड़ लेने की योग्यता प्रदान करती है तथा इस तरह दरिद्रता और दुखभोग और असाध्य भुखमरी तक के डंक को निर्विष कर देती है। नये खेतिहरों के हाथ जमीन की बंदोबस्ती करने में उसकी सहायता करने के लिए जमींदार द्वारा भेजे गए कर्मचारी हों, या स्वयं वे भावी खेतिहर हों जिन्हें जमीन लेनी है, या फिर अपेक्षाकृत निम्नतर वर्गों के वे लोग ही क्यों न हों, जो वनभूमि के बड़े-बड़े टुकड़े काट-काट कर खेत बनाने अथवा गाँव बसाने के काम में लगी उस फूलती-फलती बस्ती के लाव-लश्कर के अनिवार्य अंग बने, मतलब यह कि इतनी विविध भाँति के जो भी चरित्र उसके चौगिर्द आ जुड़े, सबको उसने कुछ ऐसी अन्तर्दृष्टि के साथ चित्रित किया है कि दाद दिए बिना रहा नहीं जा सकता। चित्रण में चरित्र की पैनी परख तो है ही, मनुष्य को मनुष्य के रूप में प्यार करने की एक ऐसी भावना भी है जो निष्कपट और दृढ़विश्वासी है।

कहानी के दौरान में जिन विविध चरित्रों से हमारी जान-पहचान हो जाती है, वे सब-के-सब जीवंत व्यक्तित्व हैं। शहरों से दूर होने के कारण उन सभी के अन्दर सामान्यतः एक ऐसी सादगी और ईमानदारी है, जो आदिम मानव में ही पाई जाती है। देहातों में, जंगल के

किनारे या बीच जंगल में रहने वाले भारतवासी नर-नारियों के [illegible] में इन विविध चरित्रों में से प्रत्येक चरित्र एक-एक नये सितारे की वृद्धि करता है । राजू पांडे एक सीधा-सादा वृद्ध ब्राह्मण है । उसके जीवन का एकमात्र आनन्द तुलसीदास की रामायण पढ़ना है । धतुरिया लड़का है, नाचने की कला का सच्चा कलाकार । विधवा कुंता अपने दीन-हीन दयनीय परिवेश में भी अद्भुत साहस और सेवाभाव का परिचय देती है । युगलप्रसाद एक सच्चा वनस्पति-शास्त्री है, जो सुन्दर फूलों और विल-क्षण पौधों को प्यार करता है । बिहार के उस देहात के बंगाली डाक्टर की यतीम लड़की अपने परिवेश के कारण लगभग किसान-कन्या ही बन चुकी है । ग़रीबी और परिस्थितियों के दबाव ने उसे खट-खट कर [illegible] मरने के अभिशप्त जीवन में बांध रखा है । पूर्णतर जीवन की एक धुँधली-धुँधली-सी समझ तो उसे है ; पर उसकी कोई आशा नहीं है । स्कूल-मास्टर गनौरी तिवारी एक प्रारंभिक पाठशाला खोलने के चक्कर में दर-दर भटकता रहता है । बिहारी देहात का कवि शुद्ध व्याकरण-सम्मत हिन्दी में कविता लिखता है, और इसके लिए स्थानीय हिन्दी-पत्रिका के संपादक की प्रशंसा प्राप्त कर चुका है । उसके रंग-ढंग कितने सीधे-सादे हैं ! उसकी हृदयहारिणी पत्नी भी उस-जैसी ही सरल और सुधी है । गांव का सूद-खोर महाजन धौंस, धुप्पस और भभकी के बल पर काम चलाता है और बर्बर मालदारी की एक ऐसी जिन्दगी बिताता है, जिसमें कहीं कोई रस नहीं है, कहीं कोई आकर्षण नहीं है । यह चरित्र ही ऐसा है जो कभी किसी का भी प्यार नहीं पा सकता । मुनेश्वरसिंह पूरा सिपाही है । मल्लकनाथ पंडित दिन-रात इसी चिन्ता में घुलता रहता है कि किसी तरह एक संस्कृत पाठशाला खुल जाय तो कुछेक लड़के देववाणी में दीक्षित किये जा सकें । बूढ़े आदिवासी सरदार दोबरू पहा में असली राजसी आन-बान और शान झलकती है । उसकी परपोती भानुमती का चित्रण लेखक ने ऐसी चरम सहानुभूति और भावभीनी पैठ के साथ किया है कि कोई भी पाठक इस आदिवासी युवती के चौगिर्द फैली रोमांस-भावना से

प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। उसकी याद आते ही हर पाठक के दिल में एक मीठी-मीठी सी टीस उठने लगेगी।—इन सभी चरित्रों का समुदाय मानो जीती-जागती छवियों की कोई चित्रशाला हो! ये सब भी सचाई की ठीक वैसी ही प्रतिकृतियाँ हैं, जैसी कि उन पेड़-पौधों, फूल-पत्तियों, पहाड़ी झरनों, ऊँची-ऊँची उपजी अंबोह घासों और नीले आसमानों के चित्र, जिनके बीच कि ये लोग रहते हैं।

भारतीय साहित्य में परम्परा युगों पुरानी है। वेद-काल से अब तक भारतीय विश्व-दर्शन—व्हेल्तेनशाउउंग—का क्रम कभी टूटा नहीं है। विभूतिभूषण के 'आरण्यक' का मेल ऋग्वेद के दसवें अध्याय में एरम्मद-पुत्र देवमुनि रचित उन ऋचाओं—१४६ वें सूक्त—से खूब बैठता है, जो वनों की आत्मा—अरण्यानी—की विरुदावली के रूप में निवेदित की गई हैं। यह सूक्त वेदकाल के उस आदिम ग्राम का चित्र उपस्थित करता है, जो किसी आदिकालीन जंगल के किनारे बसा है। इन ऋचाओं में चिड़ियों की चहकारों, पेड़ों की छाँहों, पेड़ों पर पड़ती कुल्हाड़ियों की ठकाठक चोटों तथा वनदेश की रहस्यमयता और रोमांस आदि जिन विषयों की चर्चा है, उन सब की गूंज विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय के 'आरण्यक' में सुनाई पड़ती है। वेद के ऋषि ने अपना सूक्त इस प्रार्थना के साथ समाप्त किया है:

अंजनगंधिं सुरभिम् बह्वन्नाम् अकृषीवलाम्।
प्र अहम् मृगाणाम् मातरम् अरण्यानीं अशंसिषम्॥

(अंजन सी गंधवाली, सौरभ से भरी, बिना जोते-बोये ही प्रचुर अन्न देनेवाली, और वन्य जंतुओं की माता अरण्यानी की मैं प्रशंसा करता हूँ।)

भारतीय मानव ने अपने को जिस परिवेश में पाया, उस—आदिकालीन भारतीय वनों के परिवेश-प्रतिवेश—से उसे प्यार हो गया। वेदों में इसकी प्रचुर चर्चा है। अथर्ववेद का पृथ्वीसूक्त वनभूमि और कृषिभूमि की अपनी पैदावारों के द्वारा सभी का भरण करने वाली विश्व-

भरा पृथ्वी के प्रति प्रेम की व्यंजनाओं से ओतप्रोत है। महाभारत के बहुलांश की पृष्ठभूमि वन-प्रदेश ही है। रामायण का भी यही हाल है। यह उन पुराचीन दिनों के वीर पुरुष तथा शाश्वत अहल्या वनभूमि, दोनों का ही एक महान् महाकाव्य है। बाणभट्ट के उस अत्युच्च आभिजात्य-पूर्ण संस्कृत रोमांस 'हर्षचरित' में सातवें अध्याय के अन्त की ओर भारतीय साहित्य का यह महान् शब्द-चित्रकार केन्द्रीय भारत के विन्ध्याचल पहाड़ों की जंगली बस्ती का परम प्रोज्ज्वल वर्णन उपस्थित करता है। सातवीं शती के उस उत्तर-भारतीय संस्कृत लेखक की रचना के इस मनोहर प्रकरण के अनुशीलन के बाद बीसवीं शती के बंगाल के आधुनिक लेखक की कृति 'आरण्यक' को पढ़ने में और भी अधिक रस मिलता है तथा उसका समझना और भी सरलतर हो उठता है।

धरती माता का सान्निध्य ही मानव का प्राकृतिक परिवेश है। उसी परिवेश में मानव का अध्ययन करने में आनन्द पाने वालों को भारतीय साहित्य में प्रकृति के स्थान का विषय बहुत ही रोचक प्रतीत होगा। जान पड़ता है कि भारतीय मानव ने सदा ही अपने आपको विश्व के अन्य भागों के वासियों की अपेक्षा प्रकृति के निकटतर माना है। प्रारम्भिक दिनों की भारतीय कला में तथा युगों-युगों के भारतीय साहित्य में इसका निदर्शन प्रचुर परिमाण में मिलता है। भारत के व्यतिरेक में उसके पड़ोसी चीन ने बहुत प्रारम्भिक काल में ही प्रकृति के प्रति एक निर्लेप-भावना-सी विकसित कर ली थी। तभी से प्रकृति के संबंध में चीन की दृष्टिभंगी आभिजात्य रीतिग्रस्तता से कृत्रिम रही है। साथ ही, यह भी मानना पड़ेगा कि यह दृष्टिभंगी अत्यन्त ही सुसंस्कृत रही है। बहुत-कुछ वैसी ही, जैसी सुसंस्कृतता कि आधुनिक मानव की विशिष्टता मानी जाती है। अन्तर्मुखीनता के विकास तथा नगरों में सिमटे मानव के आवासों के वन से विच्छिन्न हो उठने के कारण यह दृष्टिभंगी आजकल के नर-नारी के लिए नितांत प्रसम हो चली है। विभूतिभूषण वंद्योपाध्याय का 'आरण्यक' इन दोनों ही प्रवृत्तियों के समन्वय का प्रतीक है। वह प्रकृति की परि-

सीमा में सर्वात्मना जमे हैं। सच पूछिए तो लगभग उसके अंग ही बन गये हैं। पर साथ ही, वह अपने आपको प्रकृति से निर्लिप्त कर लेने में भी समर्थ हैं, तटस्थ होकर उसकी रमणीकता, उसके ऐश्वर्य तथा उसके सर्वाच्छन्नकारी पहलुओं पर मनन करने में तथा फिर भी उससे अप्रभावित रह सकने में समर्थ हैं। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृति के प्रति उनकी दृष्टिभंगी मानव की सर्वग्रासी आवश्यकताओं के आगे प्रकृति और उसके अंगभूत जंगलों के पराभूत किये जाने पर गहन विषाद की दृष्टिभंगी है। जहाँ कभी आदिकालीन जंगल का ही एकछत्र राज्य था, वहाँ मानव की फलती-फैलती बस्तियों की स्थापना करके धरती का नक्शा ही बदल डालने वाले अपने श्रमकृत्यों की उस लीलास्थली से विदा होते समय वह मन-ही-मन इन चिन्तनों में पड़ जाते हैं :

"नाढ़ा बैहार पार हो गया, तो पालकी से गर्दन निकाल कर एक बार उलट कर देखा।

बहुतेरी बस्तियां, लोगों की बातचीत, बच्चों की हंसी-किलकारी, चीख-पुकार, गाय-भैंस, फसल के खेत। छै-सात साल में घने जंगल को काटकर यह हँसता हुआ, हरा-भरा जनपद मैंने ही बसाया है। सब लोग यही कह रहे थे—'आपके नाम को देखकर हम लोग भी धन्य हो गए हैं बाबूजी, नाढ़ा और लवटोलिया क्या था और क्या हो गया।'

मैं भी यही सोचता चला—'नाढ़ा लवटोलिया क्या था और क्या हो गया।'

दिगंत में खोए हुए महालिखारूप पहाड़ और मोहनपुरा जंगल को मैंने दूर से नमस्कार किया—

'हे वन के आदिम देवताओं, मुझे क्षमा करना। विदा!'"

वन एवं देहाती बस्तियों की आत्मा को यह कृति हमारे आगे साक्षात् खड़ा करती है और हमें प्रकृति तथा मानव दोनों को प्यार करना सिखलाती है। इस दृष्टि से यही ही उच्च कोटि के सृजनात्मक साहित्य के रूप

में इसका जो मूल्य है, सो तो है ही, उसके अतिरिक्त इसका एक और भी महत्त्व है। प्रकृति को अपनी सेवा में लगानेवाला तथा अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने के लिए धरती का दृश्यमान स्वरूप बदल डालनेवाला मनुष्य मानव की सबसे विशिष्ट स्थितियों का प्रतिनिधित्व करता है। अपनी इन विशिष्टतम स्थितियों के बीच मानव के बहुरूपदर्शी चल-शोभापट का यह कृति एक सच्चा लेख्य भी है। बिहार के बंगाल से सटे एक कोने में प्रकृति मानव के अनिवार्य आक्रमण के फलस्वरूप धीरे-धीरे पीछे हटती जा रही है। उस कोने के जीवन की एक अवस्था-विशेष के ताजा और सच्चे चित्र के रूप में, जन-मानस को प्रसन्न एवं भावाकुल करने वाले अमूल्य अभिलेख के रूप में, यह पुस्तक सदा अद्वितीय बनी रहेगी।

आशा है, साहित्य अकादेमी द्वारा आयोजित अनुवादों के माध्यम से भारत की विविध भाषाओं के पाठक इस महान् साहित्यिक सृष्टि का आस्वादन कर सकेंगे। इन पंक्तियों के लेखक की तरह वे भी इसे एक बार पढ़ लेने पर फिर इससे नाता तोड़ लेने में कदापि समर्थ न होंगे।

त्रिचूर, केरल
२० फरवरी १९५७

सुनीतिकुमार चटर्जी

जहाँ मनुष्यों की आबादी है, उसके पास कहीं घना जंगल नहीं है। जंगल है बहुत दूर, जहाँ गिरे हुए पके जंबुफल की गंध से गोदावरी-तट की हवा भाराक्रांत हो उठती है। 'आरण्यक' उसी कल्पना-लोक का विवरण है। यह भ्रमण-वृत्तांत नहीं है, न ही डायरी है—यह उपन्यास है। अभिधान में लिखा है--उपन्यास के मानी हैं गढ़ी हुई कहानी। हम अभिधानकार की बात को मान लेने को विवश हैं; लेकिन 'आरण्यक' की पृष्ठभूमि बिलकुल कपोल-कल्पित नहीं है। कोसी नदी के उस पार ऐसे दिगंत-विस्तृत प्रांतर पहले थे, आज भी हैं। और, दक्खिन भागलपुर तथा गया के जंगल-पहाड़ तो प्रसिद्ध ही हैं।

धतुरिया की याद आती—नर्तक-बालक धतुरिया · · · !

दक्खिन में अकाल पड़ा था, सो नाच-गाकर अपनी रोटी कमाने के लिए धतुरिया आया था लवटोलिया के उन जन-विरल जंगली गाँवों में · · · भाड़ा और गुड़ मिलने पर उसके होंठों पर खुशी की हँसी कैसी निखरती ! घुँघराले बाल, बड़ी-बड़ी आँखें, कुछ-कुछ औरतों-जैसी भाव-भंगी—तेरह-चौदह साल का खूबसूरत-सा लड़का। उसके न बाप था, न माँ थी—दुनिया में अपना कहने को कोई नहीं था—इसीलिए उस छोटी उम्र में उसे आप अपनी रोटी की फिक्र करनी पड़ती थी. . . समय के बहाव में कहाँ बह गया वह ! और, महाजन धौताल साहू याद आता . . .जैसे मेरे फूँस वाले बँगले के कोने में बैठा सरौते से सुपारियाँ काट रहा है। घने जंगल में अपने झोंपड़े के पास बैठा बेचारा राजू पाँडे अपनी तीन भैंसों को चराता हुआ गा रहा है—

'दया होईजी . . .'

महालिखारूप पहाड़ की तराई में वसंत उतर आया है। लवटोलिया बेहार में जहाँ देखो, पीले फूलों का मेला-सा लग गया है। धूप से जला दुपहरिया का ताँबे-जैसा आसमान बालू के तूफान से धुँधला हो गया है। रात को महालिखारूप में जगमग अग्निमालिका—सखुए के जंगल में लोगों ने आग लगा दी है। कितने ही गरीब बच्चों, नर-नारियों, न जाने कैसे-कैसे खूँखार महाजनों, गवैयों, लकड़हारों और भिखमंगों की अजीब जीवन-यात्रा से परिचय हुआ ! अपने बंगले में बैठा-बैठा रात को शिकारियों के अजीबो-गरीब किस्से सुनता—जिन्होंने मोहनपुरा रिजर्व फारेस्ट में जंगली भैंसों को फँसाने की ताक में भैंसों के देवता, विराट्काय देवता को देखा था।

इन्हीं की बातें मुझे कहनी हैं। संसार में जिस रास्ते पर सभ्य मनुष्यों का आवागमन कम है, उस रास्ते से न जाने कितनी ही अद्भुत जीवन-धाराएँ अजाने चट्टान-कगारों के बीच से चुपचाप बहती हैं, उनकी स्मृतियाँ आज भी नहीं भूल सका।

मगर अपनी यह स्मृति आनंद की नहीं, दुःख की है। स्वच्छंद प्रकृति की वह लीला-भूमि मेरे ही हाथों विनष्ट हुई। मैं जानता हूँ कि इसके लिए वन-देवता मुझे कभी माफ न करेंगे। सुना है, अपने से अपने अपराध की बात कहने से उसका भार थोड़ा हल्का होता है।

इस कहानी की अवतारणा इसीलिए हुई है।

पहला परिच्छेद

[एक]

बात पंद्रह-सोलह साल पहले की है। बी० ए० पास करके कलकत्ता में बेकार बैठा था। खाक तो बहुत जगहों की छानी, फिर भी कोई नौकरी नहीं नसीब हुई।

सरस्वती-पूजा का दिन। मेस में चूँकि बहुत दिनों से रह रहा था, इसलिए वे निकाल तो नहीं सकते थे, मगर मारे तकाजों के मैनेज़र ने नाक में दम कर रखा था। मेस में सरस्वती की प्रतिमा बिठाई गई थी। धूम-धाम भी कुछ बुरी नहीं हो रही थी। सुबह उठकर मैं सोचने लगा, आज तो सब जगह छुट्टी है। एकाध जगह कुछ उम्मीद भी थी, तो आज तो कहीं भी कुछ होने-हवाने से रहा। उससे तो यही बेहतर है कि घूम-घूमकर मूर्तियाँ देखता फिरूँ।

इतने में मेस का नौकर जगन्नाथ कागज की एक चिट थमा गया। पढ़कर देखा, मैनेजर ने तकाजा लिख भेजा था। सरस्वती-पूजा के उपलक्ष में आज मेस में खान-पान की खास तैयारी की गई है। मेरे जिम्मे दो माह के रुपए बाकी पड़े हैं। सो नौकर के हाथ कम-से-कम दस रुपए तो जरूर ही भिजवा दूँ। यदि यह न बन पड़े, तो कल से अपने खाने का कहीं और ठिकाना करूँ।

बात तो बड़ी वाजिब थी; पर अपनी कुल पूँजी महज दो रुपए और कुछ आने पैसों की ही थी। कोई जवाब दिए बिना ही मैं मेस से बाहर निकल पड़ा। मुहल्ले में कई जगह पूजा के बाजे बज रहे थे, गली के मोड़ पर जमा होकर बच्चे शोर मचा रहे थे। अभय हलवाई की दूकान में तरह-तरह की ताजी मिठाइयाँ थालियों में सजी रखी थीं। मुख्य मार्ग में कालेज-होस्टल

के फाटक पर नौबत बज रही थी। फूलों की माला तथा पूजा का और बहुत-सा सामान लिये लोग-बाग बाजार से लौट रहे थे।

सोचा, आखिर कहाँ जाऊँ? साल-भर से ज्यादा हो गया कि जोड़ासाँको स्कूल की नौकरी छोड़कर बैठा हूँ—बैठा तो वास्तव में नहीं हूँ, नौकरी की तलाश में ऐसा कोई व्यापारी-दफ्तर नहीं, ऐसा कोई स्कूल नहीं, ऐसा कोई अखबार का कार्यालय, ऐसा किसी बड़े आदमी का घर नहीं, जिसकी कम-से-कम दस बार खाक न छानी हो। मगर सब ओर से वही एक जवाब—'जगह खाली नहीं है।'

अचानक रास्ते में सतीश से भेंट हो गई। हिंदू होस्टल में हम दोनों साथ रहते थे। फिलहाल वह अलीपुर में वकालत करता है। ऐसा नहीं लगा कि वकालत से खास कुछ पल्ले पड़ता है। बालीगंज की तरफ कहीं कोई ट्यूशन है, ऐसी स्थिति में वही इस संसार-सागर में उसके लिए डोंगी है। डोंगी की बात तो दूर रही, अपने को तो टूटे मस्तूल का कोई टुकड़ा भी नसीब नहीं। जहाँ तक गोते खाना बदा है, खा रहा हूँ। सतीश को देखकर यह बात थोड़ी देर के लिए भूल गया। भूलने का यह भी कारण हो गया कि छूटते ही सतीश ने पूछा—"अरे, सत्यचरण! कहाँ चले? चलो, जरा हिन्दू होस्टल की पूजा देख आएँ—अपनी पुरानी जगह है। शाम को वहाँ महफिल भी है—जरूर आना। वार्ड छः के उस अविनाश की याद है? अरे वही अविनाश, मैमनसिंह के किसी जमींदार का लड़का! अब तो वह नामी गवैया है। शाम को उसका गाना है, मेरे नाम भी कार्ड भेजा है। मैं कभी-कभी उसकी जमींदारी का काम-धाम देखा करता हूँ न! जरूर आना, तुम्हें देखकर बहुत खुश होगा वह।"

कालेज में पढ़ते समय—पाँच-छः साल पहले—आनन्द मिल जाने पर और किसी के लिए मन नहीं चाहता था। देखा, अभी भी मन का वह भाव गया नहीं है। होस्टल में पूजा देखने गया, तो वहाँ दोपहर के भोजन का न्योता मिल गया। अपनी तरफ के जाने-पहचाने बहुत-से लड़के वहाँ थे—नहीं ही आने दिया उन लोगों ने। लाख कहता रह गया—"भई

महफ़िल तो शाम को है, अभी से क्या करना। मेस से खा-पीकर वक्त पर आ जाऊँगा।" मगर उन्होंने मेरी एक न सुनी।

कहीं उन्होंने मेरी सुनी होती, तो त्योहार का वह दिन मुझे फाके पर ही गुज़ारना पड़ता। मैनेजर की उस कड़ी चिट्ठी के बाद मेस में खीर-पूड़ी की दावत मुझसे तो नहीं खाई जाती—और जबकि मुझसे एक रुपया भी देते नहीं बना। यह अच्छा ही हुआ। भरपेट, खा-पीकर महफ़िल में जा बैठा। तीन साल पहले के छात्र-जीवन की बेताब उमंग फिर लौट आई। फिर कौन तो यह याद रखता है कि नौकरी मिली कि नहीं मिली, मेस का मैनेजर मुँह लटकाये बैठा है कि नहीं बैठा है। ठुमरी और कीर्तन के उमड़ते हुए सागर में इस कदर डूब गया कि यह भी भूल बैठा—यदि बकाया न चुका पाया, तो कल से हवा पीकर जीने की नौबत आयगी। महफ़िल टूटी, तो रात के ग्यारह बज रहे थे। अविनाश से बातें हुईं। होस्टल में हम दोनों डिबेटिंग क्लब के दीवाने थे। एक बार हम लोगों ने सर गुरुदास बंद्योपाध्याय को सभापति बनाया था। विषय था—'स्कूल-कालेजों में बाध्यतामूलक धर्मशिक्षा का प्रवर्त्तन उचित है।' अविनाश था प्रश्न पूछने वाला और मैं था प्रतिवादी पक्ष का नेता। दोनों ओर के तुमुल तर्क के बाद आखिर सभापतिजी ने अपनी राय हमारी तरफ दी। तब से अविनाश से अपनी गाढ़ी मित्रता हो गई; यद्यपि कालेज से निकलने के बाद उससे फिर यही पहली मुलाकात है।

अविनाश ने कहा—"मेरी गाड़ी है। चलो, तुम्हें छोड़ दूँ। रहते कहाँ हो?"

मेस के दरवाजे पर मुझे गाड़ी से उतारकर वह बोला—"सुनो, कल चार बजे शाम को हैरिंग्टन स्ट्रीट में मेरे घर चाय पीना। भूल मत जाना। तैंतीस बटे दो—लिख लो!"

दूसरे दिन हैरिंग्टन स्ट्रीट का पता लगाया और अविनाश का मकान भी ढूँढ निकाला। मकान खास बड़ा तो नहीं था; पर आगे-पीछे बाग लगा था। फाटक पर विस्टारिया की लत्तड़, नेपाली दरबान और पीतल

की नेम-प्लेट लगी थी। लाल सुरखी की सड़क बनी थी, सड़क के एक तरफ सब्ज लॉन और दूसरी तरफ चंपा और आम के बड़े-बड़े पेड़। ऐसी भूल कर सकने की कहीं से कोई गुंजाइश ही नहीं थी कि मकान किसी बड़े आदमी का नहीं है। जीने के ऊपर पहुँचते ही बैठक थी। अविनाश ने आकर मुझे आदर से बिठाया। फिर हम दोनों बीते दिनों की बातों में मशगूल हो गए। अविनाश के पिता मैमनसिंह के एक बड़े जमींदार हैं, मगर आजकल कलकत्ता के मकान में वे लोग हैं नहीं। पिछले अगहन में अविनाश की बहन की शादी थी। उसी सिलसिले में जो गाँव गये हैं, सो अभी तक लौटे नहीं।

इधर-उधर की बातों के बाद अविनाश ने पूछा—"तो इन दिनों कर क्या रहे हो?"

मैंने कहा—"जोड़ासाँको स्कूल में मास्टरी करता था। आजकल बेकार ही हूँ। मास्टरी करने का अब इरादा नहीं है। शायद कोई और जुगत लग जाय—एकाध जगह से कुछ उम्मीद बँधी है।"

वास्तव में कहीं से भी कोई उम्मीद नहीं थी; परंतु अविनाश ठहरा बड़े आदमी का लाड़ला। बहुत बड़ी जमींदारी का मालिक था वह। कहीं वह ऐसा न समझे कि मैं वहाँ किसी जगह का उम्मीदवार हूँ, इसीलिए ऐसा कह दिया।

कुछ सोचकर अविनाश बोला—"तुम-जैसे योग्य आदमी को नौकरी मिलने में बेशक देर नहीं होगी। मुझे तुमसे कुछ कहना है। तुमने तो कानून भी पढ़ा था—है न?"

मैंने कहा—"पास भी कर लिया था, लेकिन वकालत करने का मन नहीं है।"

अविनाश बोला—"पूर्णियाँ जिले में अपना एक जंगल—महाल पड़ता है—कोई पच्चीस-तीस हजार बीघे का। वहाँ हमने एक नायब जरूर रख छोड़ा है, मगर इतनी अधिक जमीन के बंदोबस्त का उस पर भरोसा नहीं

किया जा सकता। हमें एक योग्य व्यक्ति की तलाश है। वहाँ तुम जाना पसंद करोगे क्या ? "

मुझे पता था कि अपने कान बहुत बार लोगों को धोखा देते हैं। अविनाश यह कह क्या रहा है। जिस नौकरी के लिए मैं पूरे साल-भर से कलकत्ता की गलियों की धूल फाँकता फिर रहा हूँ, उसी नौकरी का प्रस्ताव चाय के न्योते पर इतनी आसानी से बिनमाँगे आ पहुँचा !

जो भी हो, अपना मान तो बचाना ही था। बड़े संयम से आवेश को पीकर अनमना-सा मैं बोला—"अच्छा, सोच-समझकर फिर बताऊँगा। कल तो हो तुम ? "

अविनाश खुले दिल का आदमी है। बोला—"यह सोचने-समझने की बात तो रहने दो। मैं आज ही पिताजी को लिखे देता हूँ। हमें एक विश्वासी आदमी चाहिए। जमींदारी के काइयाँ कर्मचारियों से अपना काम नहीं चलने का। ऐसे लोग ज्यादातर चोर ही हुआ करते हैं। वहाँ तुम-जैसे पढ़े-लिखे और बुद्धिमान आदमी की जरूरत है। वह सारा इलाका हमें नये रैयतों के हाथ बंदोबस्त करना है। तीस हजार बीघे का जंगल है—इतनी बड़ी जिम्मेदारी भला जिस-तिस पर कैसे छोड़ी जा सकती है ? तुमसे कुछ आज का परिचय नहीं, तुम्हारा एक-एक रग-रेशा मुझे मालूम है। तुम हामी भर दो और मैं पिताजी से नियुक्ति-पत्र मँगवाए लेता हूँ। "

[दो]

नौकरी मिल कैसे गई, विस्तार से यह बताना बेकार है, क्योंकि इस कहानी का उद्देश्य बिलकुल अलग है। थोड़े में कह दूँ, चाय की उस दावत के दो हफ्ते बाद एक दिन मैं अपने सरो-सामान के साथ बी० एन० डब्ल्यू० रेलवे के एक छोटे-से स्टेशन पर उतरा।

सर्दियों की साँझ। दूर तक फैले हुए प्रांतर में घनी छाया उतर आई थी—सुदूर वन-पंक्ति के माथे पर थोड़ा-थोड़ा कुहरा जमने लगा था।

रेलवे लाइन के दोनों ओर मटर के लहलहाते खेत---साँझ की सर्द हवा में मटर के ताजे साग की भीनी खुशबू उड़कर जो आई, तो ऐसा लगा कि जो जिंदगी मैं शुरू करने जा रहा हूँ, वह बेहद सूनी होगी, वैसी ही सूनी, जैसी कि यह जाड़े की साँझ है, जैसा सूना कि यह उदास प्रांतर और दूर की वह नीली वनश्रेणी है।

बैलगाड़ी पर पंद्रह-सोलह कोस चलना पड़ा---रात-भर चलता रहा। कंबल वगैरह ओढ़ने का जो सामान साथ लाया था, टप्पर के अंदर सर्दी के मारे पानी हो गया। यह खबर किसे थी कि इधर इतनी करारी सर्दी पड़ती है! सुबह धूप निकलने तक चलता ही रहा। झाँककर देखा, जमीन की शक्ल बदल गई है, प्राकृतिक दृश्यों ने और ही रूप अपनाया है---कहीं खेत-खलिहान नहीं, गाँव-घर भी शायद ही कहीं हैं। जिधर देखिए जंगल और जंगल---कहीं कुछ घने, कहीं कुछ छिछले, बीच-बीच में खुला मैदान, मगर फसल का नाम तक नहीं।

दस बजे के करीब जमींदारी कचहरी में पहुँचा। जंगल में दस-पंद्रह बीघे का रकबा साफ-सुथरा कर लिया गया था, जिसमें जंगल के बाँस-फूँस के बने हुए कई घर खड़े थे। सूखी घास और झाऊ की बनी टट्टियाँ---उन पर मिट्टी की पुताई।

घर नये बने थे। अंदर दाखिल होते ही ताजे कटे रबड़, अधकच्ची घास और बाँस की बू आई। पूछने से पता चला, कचहरी पहले जंगल के उस ओर कहीं और थी, मगर चूँकि वहाँ जाड़े में पानी की बेहद तकलीफ हो जाती थी, इसलिए हाल में यहाँ बनवाई गई है। पास ही एक झरना बहता है, जिससे पानी की कमी नहीं पड़ती।

[तीन]

जिंदगी के ज्यादा दिन कलकत्ता में बिताए। बंधु-बांधवों का संग-साथ, 'पुस्तकालय, सिनेमा-थियेटर, यह सोच भी नहीं सकता था कि इनके सिवाय और भी जिंदगी हो सकती है।' ऐसे में नौकरी की गिनी-गिनाई कुछ

रुपल्लियों की खातिर ऐसी जगह आ निकला हूं, ऐसी सूनी जगह की कभी कल्पना भी नहीं की थी। दिन बीत रहे थे। दूर के पहाड़ और जंगलों पर पूरब-नभ में सूरज का उगना देखा करता। फिर साँझ आए झाऊ और लंबी घास के जंगल को सिंदूर से रँगकर सूरज का डूबना देखता—इस उदय-अस्त के बीच जाड़े के ग्यारह घंटे का लंबा और उदास दिन मानो काटने दौड़ता हो। इन दिनों को किस तरह पार करूँगा, शुरू-शुरू में मेरे लिए यही बहुत बड़ी समस्या हो उठी। करने को काम तो बहुत सारे किये जा सकते थे, मगर मैं नितांत नया था। लोगों की बोली भी अभी अच्छी तरह नहीं समझ सकता था, काम का बंटवारा भी करते नहीं बन रहा था। सो अपने साथ जो थोड़ी-सी किताबें ले आया था, उन्हींमें उलझकर किसी तरह दिन काटने लगा। कचहरी में जो नौकर-चाकर थे, निरे जंगली से। न मेरी बात वे समझें, न उनकी मैं समझूँ। शुरू के दस दिन बड़ी तकलीफ से गुजरे। कितनी ही बार जी में आया, ऐसी नौकरी से बाज आया मैं। यहाँ घुट-घुट कर मरने से तो कलकत्ता में भूखा रहना कहीं बेहतर है। अविनाश के आग्रह पर इस जन-हीन जंगल में आकर बड़ी भूल की है मैंने। यह जिंदगी अपने लिए नहीं है।

रात को कमरे में बैठा यही सब सोच रहा था कि किवाड़ खोलकर बूढ़े मुहर्रिर गोष्ठ बाबू अंदर आए। यहाँ यही एक ऐसे आदमी थे, जिनसे अपनी जुबान में बातें करके जी जुड़ाता था। कुछ नहीं तो सत्रह-अठारह साल से यह यहाँ हैं। बर्दवान जिले के वनपाश स्टेशन के पास किसी गाँव में इनका घर है। मैंने कहा—"गोष्ठ बाबू, आइए, बैठिए...!"

दूसरी एक कुर्सी पर वे बैठ गए। बोले—"आपको अकेले में एक बात कहने आया हूँ कि यहाँ के किसी आदमी पर एतबार मत कीजिए। यह अपना मुल्क नहीं है। यहाँ के लोग-बाग बड़े बुरे हैं..."

मैं बोला—"लेकिन गोष्ठ बाबू, अपनी तरफ के सब लोग, अच्छे ही हैं, ऐसा तो नहीं है।"

"वह मैं जानता हूँ मैनेजर बाबू! उसी दुःख से और मलेरिया के

सताये ही तो यहाँ भाग आया था। शुरू-शुरू में बेहद तकलीफ हुई—इस जंगल में दम मानो फूलता रहता—मगर अब तो यह हाल है कि देश की बात तो दूर रही, काम से कभी पूर्णियाँ या पटना भी जाता हूँ, तो दो से तीन दिन रहना मुहाल हो जाता है।"

मैंने कौतूहल से उनकी तरफ देखा—"भलामानस कह क्या रहा है यह !"

पूछा—"आखिर और कहीं रह क्यों नहीं सकते ? जंगल के लिए जी तड़प उठता है क्या ?"

मेरी ओर देखकर वे जरा हँसे। बोले—"तड़प ही उठता है कहिए। आप पर भी गुजरेगा। आप अभी-अभी कलकत्ता से आए हैं, वहाँ के लिए मन उड़ता रहता है, फिर आपकी उम्र भी क्या है अभी ! कुछ रोज यहाँ रह लीजिए, फिर देखिएगा।"

—"देखना क्या है ?"

—"यही कि जंगल की माया आपको दबोच बैठेगी। भीड़-भाड़ और शोरो-गुल नहीं सुहायगा। मुझ पर यही बीत रहा है। यही पिछले महीने का किस्सा है, मुकदमे के सिलसिले में मुंगेर गया था—बस यही लग रहा था कि कब यहाँ से निकल भागूँ।"

मैंने मन-ही-मन सोचा था—"इस मुसीबत से मुझे भगवान् बचाएँ। मैं ऐसी नौबत आने से पहले ही नौकरी को नमस्कार करके कलकत्ता में जा रहूँगा !"

गोष्ठ बाबू बोले—"इलाका यह अच्छा नहीं है—रात-बिरात बंदूक को सिरहाने रखकर सोया कीजिए। कचहरी में इसके पहले एक बार डाका पड़ भी चुका है। गनीमत है कि अब यहाँ रुपए नहीं रक्खे जाते।"

कौतूहल से मैंने पूछा—"डकैती ? कितने दिन पहले हुई ?"

—"यही कोई सात-आठ साल पहले। कुछ दिन यहाँ रह लीजिए, सारी बातें आप ही समझ में आ जायँगी। बेहद बुरी जगह है। फिर कोई मारकर ही डाल दे, तो देखने वाला कौन है यहाँ ?"

गोष्ठ बाबू लौट गए। मैं खिड़की पर जा खड़ा हुआ। दूर जंगल के ऊपर चाँद उगता आ रहा था और उगते हुए चाँद की पृष्ठभूमि में झाऊ की एक आड़ी-टेढ़ी शाख आ अटकी थी—मानो जापानी शिल्पी हकुसाई की कोई तस्वीर हो!

"अपनी किस्मत, नौकरी की और कोई जगह ढूंढे नहीं मिली! इतनी खतरनाक है यह जगह, पहले से जानता होता, तो अविनाश को हर्गिज वचन नहीं देता।"

मगर दुर्भावना के बावजूद उगते हुए चाँद की शोभा ने मुझे मोह लिया।

[चार]

कचहरी से कुछ ही दूर पर पत्थर का एक टीला था—टीले पर एक बड़ा ही पुराना और बहुत बड़ा बरगद का पेड़ था। पेड़ का नाम था—ग्रांटसाहब का बरगद। क्यों जो पेड़ का नाम ऐसा पड़ा, छान-बीन करके भी नहीं जान सका। एक दिन शाम को सूर्यास्त की छटा देखने के लिए मैं घूमता-घामता उस टीले पर जा निकला।

बरगद के नीचे आसन्न संध्या की घनी छाया में खड़ा-खड़ा लहमे भर में जाने मैं कहाँ का कहाँ पहुँच गया—कोलूटोला का मेस, कपाली टोला का वह ब्रिज का अड्डा, गोलदिग्घी में मेरी वह प्यारी बेंच—जिस पर बैठकर मैं कालेज स्ट्रीट के विरामहीन जन-प्रवाह और बस-मोटरों का ताँता देखा करता था। अचानक लगा, ज़ाने कितनी दूर छूट गए वे। मन रो उठा—'यह मैं कहाँ आ गया। मामूली नौकरी के लिए यह किस वीरान जंगल में फूंस की झोंपड़ी में रह रहा हूँ! यहां भी कोई आदमी रह सकता है। निरा अकेला—ऐसा भी कोई नहीं कि दो बातें कर सकूं। यहाँ के इन निहायत मूर्ख और जंगली लोगों के साथ ही दिन बिताने पड़ेंगे, जो कि बात तक नहीं समझ सकते? उस सुदूरप्रसारी दिगंत व्यापी सूनी साँझ में खड़ा-खड़ा जी उदास हो आया, कुछ डर भी लगा। सो मैंने संकल्प कर लिया, इस महीने के तो खैर और कुछ ही दिन रह गये हैं, किसी तरह से आनेवाला

महीना भी काट दूंगा और फिर अविनाश को लिखकर नौकरी से जवाब देकर कलकत्ता के बंधु-बांधवों के स्नेह-स्वागत के बीच, सभ्यों का खाना खाते हुए, सभ्य सुर के गीत सुनते हुए अनगिनती लोगों के आनंद-उल्लास भरे कंठस्वर में नई जिंदगी बिताऊँगा।'

यह पता पहले थोड़े ही था कि मनुष्यों के बीच रहना इतना पसंद है मुझे! मनुष्य को इतना प्यार करता हूँ! लोगों के लिए जो कुछ मुझे करना चाहिए, हर समय वह करते तो नहीं बनता शायद; पर प्यार उन्हें जरूर करता हूँ। वरना उनसे दूर रहने से यह तकलीफ क्यों होती?

प्रेसिडेंसी कालेज की रेलिंग पर वह जो बूढ़ा मुसलमान किताबें बेचा करता है, जाने कितनी बार वहाँ खड़ा-खड़ा पुरानी किताबों और मासिक-पत्रों के पन्ने पलटता रहा हूँ, कुछ खरीदना तो जरूर वाजिब था; पर खरीद नहीं पाया—वह भी मानो नितांत अपना-सा लगा—उसे जाने कितने दिनों से नहीं देख पाया हूँ।

कचहरी लौट आया। अपने कमरे की मेज पर बत्ती जलाई और एक किताब खोलकर बैठा कि प्यादा मुनेश्वरसिंह सलाम बजाकर सामने खड़ा हो गया। पूछा—"क्या है मुनेश्वर?"

इस बीच मैं वहाँ की टूटी-फूटी बोली बोलने लगा था। उसने कहा—"मेरे लिए एक कड़ाही खरीद देने का हुक्म मुहर्रिर बाबू को दे देते, तो बड़ी दया होती हुजूर!"

—"कड़ाही का क्या होगा?"

पाने की उम्मीद से मुनेश्वर का चेहरा दमक उठा। उसने झुके हुए स्वर में कहा—"लोहे की कड़ाही से सहूलियत कितनी होती है हुजूर। जी चाहे जहाँ साथ ले जाओ। उसमें चावल पकाया भी जा सकता है, खाया भी जा सकता है और सामान भी रक्खा जा सकता है। टूटने-फूटने का डर नहीं। मेरे पास कड़ाही नहीं है। न जाने कब से एक कड़ाही खरीदने की सोच तो रहा हूँ, मगर गरीब आदमी ठहरा। एक कड़ाही छै आने की आती है। इतने पैसे मैं कहाँ से लाऊँ? इसी से हुजूर के पास आया हूँ।

हुजूर मालिक हैं। कड़ाही खरीदने की इच्छा मेरी बहुत दिनों की है। अगर हुजूर की मंजूरी मिल जाय।"

'लोहे की मामूली कड़ाही जो इतने काम की होती है और उसके लिए लोग रात को सपने भी देखा करते हैं—' अपने जीवन में ऐसी बात मैंने पहली बार सुनी। इतने भी गरीब लोग इस दुनिया में हैं, जो सिर्फ छै आने की एक कड़ाही पाकर समझते हैं कि मुट्ठी में स्वर्ग आ गया! सुना जरूर था कि इधर के लोग बड़े गरीब हैं। मगर इतने गरीब हैं, यह नहीं जानता था। बड़ी ममता हो आई।

मेरे हस्ताक्षर वाले कागज के एक टुकड़े को देकर दूसरे ही दिन मुनेश्वर सिंह नौगछिया बाजार से पाँच नंबर की एक कड़ाही ले आया और मेरे कमरे की जमीन पर उसे रखकर मुझे सलाम करके खड़ा हो गया—"हुजूर की किरपा से कड़ाही हो गई!" खुशी से खिले उसके मुखड़े की तरफ ताककर इतने दिनों के बाद आज पहली बार मुझे लगा—"बड़े भोले हैं ये लोग। बड़ी तकलीफ है तो बिचारों को!"

दूसरा परिच्छेद

[एक]

लाख कोशिश करने पर भी मैं यहाँ की इस जिंदगी से अपना मेल नहीं मिला पा रहा था। हाल ही में बंगाल से आया, सारी जिंदगी कलकत्ता में गुजारी, ऐसा लग रहा था कि इस अरण्य भूमि का सूनापन चट्टान की तरह मेरे कलेजे पर सवार हो गया है।

किसी-किसी दिन तीसरे पहर मैं बड़ी दूर तक घूमने निकल जाता। कचहरी के पास तो फिर भी आदमी का कंठस्वर सुनाई पड़ता था—दो-एक रस्सी आगे निकला नहीं कि जंगली झाऊ और कसाल की भीड़ में कचहरी गुम जाती और लगता, इस इतनी बड़ी दुनिया में बस मैं ही एक हूँ—अकेला। उसके बाद जितना ही आगे जाता—चौड़े मैदान के दोनों ओर घनी वन-पंक्ति दूर तक चली गई है—जंगल और झाड़ियाँ, गजारी और बबूल के पेड़, कँटीले बाँस और बेतों की झुरमुटें हैं। जंगल-झाड़ों के माथे-माथे डूबता हुआ सूरज सिंदूर छिड़क देता, वनफूलों और तृण गुल्मों की भीनी खुशबू से लदी साँझ की बयार, झाड़ी-झाड़ी चिड़ियों की चहक से मुखरित, जिनमें हिमालय के तोते भी होते। खुला, घास से ढँका सुदूर-प्रसारी प्रांतर और श्यामल वन-भूमि का मेला। ऐसे में कभी-कभी यह भी जी में आता कि प्रकृति का जो रूप यहाँ देख रहा हूँ, वह और कहीं भी देखने को नहीं मिला। जहाँ तक आँखें जातीं, वह सारा कुछ मानो मेरा ही है—मैं ही यहाँ एकमात्र आदमी हूँ—मेरी निर्जनता भंग करनेवाला कोई नहीं—और, उस खुले आसमान के नीचे सूनी संध्या में दूर दिगंत की सीमा-रेखा तक मैं अपने मन और कल्पना को फैला देता।

कचहरी से कोई कोस भर हटकर एक ढलवाँ जगह थी। वहाँ पर कई छोटे-छोटे पहाड़ी झरने झिर-झिर कर बहते थे। दोनों तरफ जलज

लिली की भीड़। कलकत्ता के बागों में इसी लिली को 'स्पाइडर लिली' कहते हैं। मुझे जंगली स्पाइडर लिली देखना कभी नसीब नहीं हुआ था, जानता भी नहीं था, ऐसे एकांत झरनों के पथरीले किनारों पर खिली लिली की इतनी शोभा होती है, हवा में ये इतनी भीनी और मीठी खुशबू बिखेरा करती हैं! कितनी ही बार यहाँ चुप-चाप बैठकर मैंने आसमान, साँझ और सूनेपन का उपभोग किया है।

बीच-बीच में घोड़े पर घूमा करता। शुरू-शुरू में घोड़ा चढ़ना ठीक से आता नहीं था, बाद में अच्छी तरह आ गया। चढ़ना आ जाने पर मैंने जाना, इतना आनंद और किसी बात में नहीं। ऐसे निर्जन आकाश-तले दिगंत-व्यापी वन-प्रांतर में जिसने कभी घोड़े की पीठ पर सैर नहीं की हो, उसे यह समझा सकना मुश्किल है कि वह आनंद क्या है! कचहरी से दस-पंद्रह मील के फासले पर सर्वेपार्टी की नाप-जोख चल रही थी। आज-कल प्राय: रोज सबेरे एक प्याला चाय पीकर जो घोड़े की पीठ पर बैठता, सो कभी तीसरे पहर लौटता, तो कभी लौटते-लौटते जंगल के माथे पर तारे निकल आते, आसमान में वृहस्पति झलमला उठता। चाँदनी रात में वन-फूलों की महक चाँदनी में घुल जाती, स्यारों का 'हुक्का-हुआ' शब्द रात के पहर की सूचना देता, झींगुरों का दल एक स्वर में झीं-झीं करता रहता।

[दो]

जिस काम के लिए यहाँ आया था, उसकी कोशिशें चल रही थीं। हजारों बीघे जमीन की नाप-जोख करना कोई आसान बात तो थी नहीं। फिर यहाँ आकर एक और बात मेरी समझ में आई। आज से तीस साल पहले ये सारी जमीनें नदी के पेट में समा गई थीं। बीस साल हुए फिर से बाहर निकली हैं; लेकिन यहाँ के जो लोग उस समय अपने बाप-दादों की जमीन छोड़कर लाचार होकर और कहीं जा बसे थे, जमींदार उन पुराने रैयतों को इस पर दखल नहीं देना चाह रहे थे। मोटी सलामी और ज्यादा मालगुजारी के लोभ से वे नई रैयतों को बसाना चाहते थे और उस घर-

बार विहीन गरीब रिआया को, जो अपने वाजिब हक से वंचित की गई थी, लाख आरजू-मिन्नत करने और रोने-धोने के बावजूद भी जमीन नहीं दी जा रही थी।

बहुत-सी रैयत मेरे पास भी पैरवी करने पहुँची थी। उसकी हालत देखकर सचमुच ही तकलीफ होती थी, मगर पुरानी रैयतों के हाथ जमीन बन्दोबस्ती का हुक्म ही नहीं था ; इसलिए कि कहीं यदि एक बार उन्हें उस पर बैठने की गुंजाइश हो गई, तो वे कानूनन अपने हक का दावा भी कर सकते हैं। जमींदार को लाठी का जोर ज्यादा था, बेचारी रैयत के पास न जमीन थी, न घर ; आज बीस साल से वह जीविका के लिए भटकती घूम रही थी ; कोई मजूरी पर पेट चला रहा था, किसी-किसी के पास मामूली सी जोत जमीन थी ; बहुतेरे इस संसार से कूच भी कर चुके थे, जिनके बाल-बच्चे नाबालिग और निरीह थे—ऐसे में बलवान जमींदार के खिलाफ वे खड़े भी होते, तो धार में अड़ने वाले तिनके-से बह जाते।

लेकिन नई रैयत लाई जाय, तो कहाँ से ? मुंगेर, पूर्णियाँ, भागलपुर, छपरा—पास-पड़ोस के जिलों से जो लोग आते थे, सलामी और मालगुजारी की दर सुनते ही भड़क जाते। कोई-कोई दो-चार बीघे ले भी रहे थे। अगर यही मद्धिम गति बन्दोबस्ती की रही, तो दस-दस हजार बीघे जमीन को रैयतों के बीच बाँटने में बीस-पच्चीस साल का अरसा लग जायगा।

यहाँ से उन्नीस मील पर अपनी एक कचहरी और थी—वह भी घने जंगल का इलाका था। उस जगह का नाम था नवटोलिया। जंगल जैसा यहाँ था, वैसा ही वहाँ भी। मगर वहाँ कचहरी रखने का मतलब यह था कि वह जंगल गाय-भैंस चराने के लिए हर साल ग्वालों को मालगुजारी पर उठा दिया जाता था। इसके सिवा वहाँ कोई दो-तीन सौ बीघे का बेर का जंगल था। लोग लाह की खेती के लिए उसे लगान पर लिया करते थे। इन रुपयों की वसूली के लिए वहाँ दस रुपये माहवार पर एक पटवारी और छोटी-सी कचहरी रक्खी गई थी।

बेर के वन को इजारा देने का समय आ रहा था। घोड़े की पीठ पर

सवार होकर एक दिन मैं नवटोलिया के लिए रवाना हुआ। बीच में कोई सात-आठ मील लम्बा लाल मिट्टी का एक ऊँचा मैदान पड़ता था, जिसे 'फुलकिया बैहार' कहते थे। जानें कितनी तरह के पेड़-पौधे और झाड़ी-झुरमुटों से भरा था यह बैहार! कहीं-कहीं जंगल इतना घना था कि पेड़ों के डाल-पत्ते घोड़े को लगते थे। जहाँ यह बैहार समतल पर जा उतरा था, वहीं पथरीली जमीन पर एक छोटी-सी पहाड़ी नदी बहती थी—चानन। बरसात में उसमें काफी पानी रहता। अभी सर्दी के दिनों में उतना पानी नहीं था।

नवटोलिया मैं पहली बार गया था। मामूली-सा घर था कचहरी का—रबड़ की छौनी, कसाल और झाऊ के डाल-पत्तों से तैयार की गई थी घेरे की टट्टियाँ। साँझ से कुछ पहले पहुँचा। जहाँ मैं रहता था, वहाँ ऐसी करारी सर्दी नहीं थी, यहां बेर डूबने के पहले ही सर्दी से मानो जम जाने की नौबत आ गई।

प्यादों ने सूखी लकड़ियाँ बटोर कर आग जलाई, उसी के पास कैंप-चेयर पर मैं बैठ गया—और-और लोग आग के चारों ओर गोल बना कर बैठे।

पटवारी जाने कहाँ से एक पाँच सेर की रोहू मछली जुगाड़ कर लाया था। अब समस्या यह सामने आई कि उसे पकाए कौन? मेरे साथ रसोइया नहीं था। मैं अपने आप भी रसोई बनाना नहीं जानता था। सात-आठ आदमी वहाँ मुझसे मिलने आए थे। मेरे इन्तजार में वे वहाँ पहले से ही बैठे थे। उन्हीं में से कंटू मिश्र नाम के एक मैथिल ब्राह्मण को पटवारी ने रसोई के काम में लगा दिया।

मैंने पटवारी से पूछा—"यही लोग इजारे के लिए आए है?"

उसने कहा—"जी नहीं हुजूर, ये तो आए हैं खाने के लिए। आपके यहाँ आने की खबर जो हुई, सो ये आज दो दिन से यहीं पड़े हैं। इधर ऐसा ही होता है। कल शायद और भी लोग आएँ।"

ऐसी बात मैंने पहले कभी नहीं सुनी। कहा—"मगर मैंने तो इन्हें न्योता नहीं दिया है?"

—"हुजूर, ये बेचारे बेहद गरीब हैं। भात खाना इन्हें कभी नसीब ही नहीं होता। बारहों महीने ये उड़द और मकई का सत्तू खाकर ही गुजारा करते हैं। सो भात इनके लिए बहुत बड़ी बात है। आपका आना सुना, समझा यहाँ दो मुट्ठी भात मिलेगा। इसी लोभ से आ धमके। कल तक देखिए, और न जाने कितने लोग आते हैं!"

मुझे लगा, इनके मुकाबले अपनी तरफ के लोग बहुत सभ्य हो गए हैं? कह नहीं सकता क्यों, उस रात मुझे भात के लोभी ये सीधे-सादे लोग बड़े भले लगे! आग के चारों तरफ बैठे वे आपस में बातें करते रहे, मैं बैठा-बैठा उनकी बातें सुनता रहा। पहले तो वे मेरे पास की आग के समीप बैठना ही नहीं चाह रहे थे—सम्मान की दूरी रखने के लिहाज से। मैं खुद उन्हें बुला लाया। पास ही कंटू मिश्र आसन की लकड़ियाँ झोंक कर मछली पका रहा था—धुएँ के साथ धूप-जैसी गंध उड़ रही थी। आग के पास से हटने पर ऐसा लग रहा था, कि मानो बर्फ की बारिश हो रही हो। इतनी सर्दी!

खाते-पीते रात बहुत बीत गई। कचहरी में जितने भी लोग थे, सबने खाया। खा-पीकर फिर सब आग को घेर कर गोल होकर बैठे। सर्दी के मारे नसों का खून तक जैसे जमता आ रहा था। शायद खुली जगह होने से ऐसी कड़ाके की सर्दी थी, या हो सकता है, हिमालय पास पड़ता है इसलिए।

आग के पास हम सात-आठ आदमी बैठे थे। घर दो ही थे छोटे-छोटे, रबड़ के। एक में मुझे रहना था, दूसरे में बाकी सबको। हमारे चारों तरफ फैला था अँधेरा जंगल और मैदान, ऊपर तारों से भरा दूर-व्यापी अंधकार से आच्छादित आकाश। मुझे बड़ा अजीब-सा लगा, मानो अपनी सदा की जानी-पहचानी दुनिया से दूर महाशून्य की किसी गुहा में एक अजानी और रहस्यमयी जीवन-धारा में मैं जा पड़ा हूँ।

इतनी बड़ी भीड़ में से तीस-बत्तीस की उम्र के एक आदमी ने मुझे सबसे ज्यादा आकर्षित किया। नाम था उसका गनौरी तिवारी; साँवला रंग, दोहरा बदन, बड़े-बड़े बाल, कपाल पर टीका। इस कड़ाके की सर्दी में भी उसके बदन पर मोटिया की एक चादर के सिवाय और कुछ नहीं था। इधर मिरजई पहनने का आम रवाज है, उसके बदन पर वह भी न थी। बड़ी देर से मैं यह गौर से देख रहा था कि वह सबकी तरफ कैसे कुंठित भाव से ताक रहा है। वह किसी के भी कहने का कोई प्रतिवाद नहीं करता था, गो कि वह बात किसी कद्र कम नहीं कर रहा था।

मैं जो भी कहूँ, उसी पर वह कह उठता—"हुजूर!"

इधर के लोग जब किसी बड़े या आधिकारी की बात माने लेते, तो महज आगे की तरफ को जरा सिर झुकाकर कहते—"हुजूर!"

गनौरी से पूछा—"तिवारीजी, तुम रहते कहाँ हो?" उसने मुझे कुछ इस तरह ताका, मानो मुझसे उसे इतना सम्मान पाने की उम्मीद न थी, वह सोचता ही न हो कि मैं सीधे उससे कुछ पूछ भी सकता हूँ! बोला—"भीमदास टोला, हुजूर!"

उसके बाद उसने अपनी राम-कहानी कह सुनाई। एक साँस में जरूर नहीं सुनाई। मैंने जैसे-जैसे पूछा, वैसे-वैसे, रुक ठहर कर।

जब वह बारह साल का था, उसका बाप उसे छोड़ गया। बूढ़ी फूफी उसे पालने लगी। पाँच-छः साल के बाद फूफी भी चल बसी। तब गनौरी भाग्य की खोज में दुनिया में निकल पड़ा। दुनिया भी उसकी बहुत ही महदूद थी—पूरब में पूर्णियाँ शहर, पच्छिम में भागलपुर जिले की सरहद, दक्खिन, यह फुलकिया बैहार और उत्तर में कोसी नदी, बस। यही थी उसकी दुनिया की हद। इसी चौहद्दी के अन्दर इस-उस गाँव में कभी किसी के यहाँ पूजा करके, तो कभी किसी पठशाला में गुरुअई करके बड़ी मुश्किल से उड़द के सत्तू और मड़ए की रोटी जुटा कर वह अपना पेट पालता था। बहरहाल वह अब दो महीने से बेकार है। परबत्ता गाँव की पाठशाला उठ गई। दस हजार बीघे का यह फुलकिया बैहार जंगल-झाड़ से भरा, न कहीं

गाँव, न कोई बस्ती। इन जंगलों में जो भैंसवाले भैंस चराने आए थे, उन्हीं के बथानों पर माँग-माँग कर जीविका चला रहा था। उसे आज खबर मिली कि मैं आ रहा हूँ, सो औरों के संग वह भी आ पहुँचा।

क्यों आ पहुँचा वह, यह बात और भी मजे की थी।

—"ये इतने लोग यहाँ क्यों आए हैं तिवारीजी?"

—"हुजूर, लोगों ने बताया कि कचहरी में मैनेजर बाबू आए हैं, यहाँ भात की जुगत बैठेगी। लोग-बाग इसीलिए आए हैं और मैं भी उनके साथ आ गया हूँ।"

—"यहाँ के लोगों को क्या भात नहीं मिलता?"

—"भात कहाँ नसीब होता है हुजूर! नौगछिया के मारवाड़ी लोग रोज भात खाया करते हैं। यही समझिए कि मुझे आज कोई तीन महीने में भात के दर्शन हुए हैं। पिछले भादों की संकरात के दिन रासबिहारी-सिंह राजपूत के यहाँ न्योता था। वहीं भात खाया था—बस।"

जितने भी लोग आए थे, कपड़ा उनमें से किसी के भी बदन पर न था। रात को आग ताप कर ही वे लोग रह लेते थे। रात की आखिरी घड़ियों में जब सर्दी ज्यादा बढ़ जाती, किसी भी कदर नींद नहीं आती, तो वे आग के पास और सिमट जाते और जाग कर सबेरा करते।

जानें ये सब लोग अचानक मुझे इतने भले क्यों लगे! इनकी यह गरीबी, यह भोलापन और जीवन के इस कठोर-संग्राम में जूझते रहने की ऐसी क्षमता। इस अँधेरी वन-भूमि और बर्फ बरसाने वाले आसमान ने इन्हें विलासिता की फूल बिछी राह पर नहीं जाने दिया—इन्हें वास्तविक मर्द बना दिया। दो मुट्ठी भात खाने की खुशी में जो बेबुलाए नौ दस मील की मंजिल मार कर भीमदास टोला और परबत्ता से यहाँ आ गए—उनके आनन्द ग्रहण की शक्ति कितनी पैनी है—मैं यह सोच कर दंग रह गया।

बहुत रात बीते किसी की आवाज से नींद उचट गई। मारे सर्दी के मुंह निकालना भी मुहाल था। चूँकि यह पता नहीं था कि यहाँ इस कदर

सर्दी पड़ती है, इसलिए जितने चाहिए थे, गरम कपड़े और तोशक-लिहाफ साथ नहीं लाया था। कलकत्ता में जो कंबल बराबर ओढ़ा करता था, उसी को लाया था। रात के चौथे पहर में वह कन्कन् पानी-सा हो जाता। जिस करवट सोता, शरीर की गरमी से, उधर फिर भी किसी तरह का रहता, मगर जहाँ करवट बलदता, लगता पूस की रात में किसी पोखर में उतर पड़ा हूँ। पास ही जंगल से पैरों की आहट आ रही थी—कुछ तो दौड़ते जा रहे थे, मानो—पेड़-पौधों, सूखे झाऊ के पौधों को पटापट तोड़ते हुए दौड़े जा रहे थे।

समझ नहीं सका कि आखिर माजरा क्या है। मैंने प्यादा विष्णु पांडेय और गुरुजी गनौरी तिवारी को आवाज दी। वे निंदियाई आँखों से दौड़े आए। जो आग रात जलाई गई थी, उसकी आखिरी आभा में उनके चेहरे का आलस, संभ्रम और नींद का भाव झलक उठा। जरा कान लगा कर गनौरी तिवारी बोल उठा—"वह कुछ नहीं हुजूर, नीलगायों का झुंड जंगल में दौड़ रहा है।"

कहना खतम करके वह फिर सो जाना चाहता था कि मैंने पूछा—"इतनी रात गए ये नीलगायें आखिर दौड़ क्यों रही हैं?"

मुझे ढाढस देते हुए प्यादे ने कहा—"किसी जानवर ने पीछा किया होगा, और क्या?"

—"किस जानवर ने?"

—"जानवर और क्या, जंगली जानवर, शेर होगा या भालू—"

एकाएक मेरी नजर अपने कमरे के दरवाजे पर जा टिकी। कसाल की बनी महज एक टट्टी। इतनी हल्की कि बाहर से कोई कुत्ता भी मुँह मारे तो दूसरे दम अन्दर आ गिरे। ऐसे में यह कहना फिजूल है कि बगल के जंगल में बाघ-भालू नीलगायों पर टूटे हैं, इस खबर से मैं निश्चिन्त नहीं हो सका।

कुछ ही देर में सबेरा हो गया।

[तीन]

दिन जाने लगे और जंगल की माया मुझे कसकर जकड़ती चली गई। इसके इस सूनेपन और साँझ के सिन्दूर बिखरे झाऊ-वन में ऐसा कौन-सा जादू है, नहीं जानता। धीरे-धीरे मुझे ऐसा लगने लगा कि इस सुदूर प्रसारी वन-प्रांतर को छोड़कर, यहाँ की धूप से जली माटी की ताजी खुशबू, वन-फूलों की महक, यह आजादी और यह उन्मुक्तता छोड़ कर अब कलकत्ता की हलचल में लौट सकना संभव नहीं।

ऐसा नहीं कि यह खयाल एक ही दिन में हुआ हो। कितने रूप और बाने से मेरी मुग्ध और अनभ्यस्त दृष्टि के आगे आ-आकर जो इस वन्य प्रकृति ने मुझे लुभाया!—कितनी साँझ तो वह आई माथे पर अनुपम रक्तमेघ का मुकुट पहने, चिलचिलाती दोपहरियों में आई उन्मादिनी भैरवी के वेश में; कभी गहरी रात में ज्योत्स्नावरणी सुर-सुन्दरी का रूप लिये हिमस्निग्ध वन-फूलों की गंध मले—गले में आकाश भरे तारों की माला—अँधेरी रात में कालपुरुष का अग्निखड्ग हाथ में लिये विराट् कालीमूर्ति के रूप में!

[चार]

एक दिन की बात तो मैं आजीवन न भूल सकूँगा। याद है, उस दिन होली थी। प्यादों ने छुट्टी ली थी और तमाम दिन ढोलक-झाँझ बजाकर होली खेलते रहे थे। शाम तक भी उनका नाच-गान खत्म नहीं हुआ था। यह देख कर मैंने कमरे की बत्ती जलाई। और बड़ी रात तक अपने कार्यालय के पत्रादि लिखे। घड़ी देखी। एक बज रहा था। मारे ठंढ के मानो जम रहा था। मैंने एक सिगरेट सुलगाई और खिड़की से बाहर झाँका। बाहर जो झाँका, तो मुग्ध और विस्मित होकर खड़ा ही रह गया! जिस चीज ने मुझे इस कदर मोह लिया, वह थी पूनो की चाँदनी। ऐसी चाँदनी कि बयान नहीं किया जा सकता।

जब मे आया, जाड़ों के दिन होने की वजह से शायद काफी रात गए

कभी बाहर नहीं निकला, या दूसरे जिस किसी कारण से भी हो, फुलकिया बैहार में परिपूर्ण चाँदनी रात का रूप मैंने आज ही पहली बार देखा था।

दरवाजा खोल कर मैं बाहर जा खड़ा हुआ। कहीं कोई नहीं था। प्यादे सारे दिन के मौज-मजे के बाद थक कर सो गए थे। घनघोर सन्नाटा, निस्तब्ध और सूनी रात। उस चाँदनी रात का वर्णन नहीं हो सकता। वैसी छायाविहीन चाँदनी मैंने जिन्दगी में कभी नहीं देखी, कभी नहीं। बड़े-बड़े पेड़ इधर कम ही हैं, झाऊ के छोटे-छोटे पौधे और कसाल। इनमें कुछ खास छाया नहीं होती। चकमकाती बालू मिली यहाँ की माटी और अधसूखे कास-वन पर उतर कर चाँदनी ने एक ऐसे अपार्थिव सौन्दर्य की सृष्टि की थी कि देख कर भय-सा हो गया। एक कैसा उदास, बंधनहीन भाव मन में जाग पड़ा, मन हाहाकार कर उठा। चारों ओर निगाह फैलाकर उस मौन निशीथ में , चाँदनी से धुले आसमान के नीचे खड़े-खड़े ऐसा लगा कि जैसे मैं किसी अजाने परी-देश में जा निकला हूँ—यहाँ मनुष्य का कोई नियम-कानून नहीं लग सकता। ये जन-विहीन एकान्त कोने गहरी रात हुए चाँदनी के आलोक से परियों की क्रीड़ा-भूमि बन जाते हैं। मैंने यहाँ अनधिकार प्रवेश करके अच्छा नहीं किया।

इसके बाद तो फुलकिया बैहार की चाँदनी रात कितनी ही बार देखी—फागुन के बीचोबीच जब दुधली फूल खिल कर सारे मैदान में रंगीन गलीचा बिछा देते, तब वैसी कितनी ही चाँदनी से नहाई शुभ्र रातों में मैं जी भर कर हवा से दुधली फूलों की मीठी सुवास लेता रहा हूँ। हर बार जी में यही आया किया कि चाँदनी भी ऐसी अपूर्व हो सकती है, यह ऐसा भी भय-मिश्रित उदासी का भाव मन में जगा सकती है, अपनी तरफ रहते हुए कभी ऐसा सोच भी तो नहीं सका ! उस चाँदनी की रूप-रेखा रखने की कोशिश भी न करूँगा, वैसे सौन्दर्य लोक का जब तक प्रत्यक्ष परिचय नहीं होता, तब तक कानों से सुन कर या पढ़ कर उसकी हर्गिज उपलब्धि नहीं हो सकती—होना मुमकिन नहीं। केवल वैसा ही मुक्त आकाश, वैसी ही निस्तब्धता, वैसा ही सूनापन, वैसी ही दिगंत विसर्पित वन-पंक्ति के बीच

वैसा रूप-लोक रूपायित हो सकता है। जिंदगी में एक बार भी वैसी चाँदनी रात देखनी चाहिए ; जिसने वह रात नहीं देखी, ईश्वर की सृष्टि का एक अपूरब रूप उसके लिए सदा-सदा को अनचीन्हा ही रह गया समझिए !

[पाँच]

एक दिन डीह आजमाबाद के सर्वे-कैंप से लौट रहा था। साँझ का समय था। जंगल में राह भुला बैठा। जंगली जमीन हर जगह समतल नहीं थी। कहीं झाड़ी-झुरमुटों से ढँके बलुआही टीले, फिर दो टीलों के बीचो-बीच छोटी-सी उपत्यका। मगर जंगल तमाम एक-सा। टीले पर चढ़ कर मैंने चारों तरफ निगाह दौड़ाई, किसी तरह कचहरी के महावीरी झंडे की रोशनी दिखाई पड़ जाय ; लेकिन रोशनी का कहीं नाम-निशान तक नहीं—सिर्फ ऊँचे-नीचे टीले और झाऊ-कसाल के जंगल—बीच-बीच में सखुए और आसान के पेड़। दो-ढाई घंटे तक चक्कर काट कर भी जब कोई कूल-किनारा न मिल सका, तो याद आया, तारों से ही क्यों न मदद ली जाय ? गरमी के दिन, कालपुरुष ठीक माने पर उगा था। समझ नहीं सका, आखिर वह किधर से माथे की सीध में आया ! सतभैया को भी खोज कर न निकाल सका। लाचार, ग्रहों से दिशा-निर्णय की उम्मीद छोड़ कर घोड़े को उसी की मर्जी पर छोड़ दिया। कोई दो मील चलने पर जंगल में एक जगह रोशनी दिखाई दी। उसी रोशनी को देख कर चलते-चलते वहाँ पहुँचा। लगभग बीस वर्गहाथ जमीन साफ-सुथरी कर ली गई थी। उसी में खड़ी थी घास-फूस की एक झुकी-झुकी-सी झोंपड़ी। गरमी के दिन थे, फिर भी सामने आग जल रही थी। आग से थोड़ा हटकर एक आदमी बैठा-बैठा कुछ कर रहा था।

घोड़े के पैरों की आहट से चौंक कर उसने झट से पूछा—"कौन ?" और तुरन्त मुझे पहचान कर वह पास आया। बड़ी खातिर से मुझे घोड़े पर से उतारा।

थक गया था। लगभग छै घंटे से घोड़े की पीठ पर ही था। सर्वे-कैम्प

में भी अमीन के पीछे-पीछे काफी चक्कर काटना पड़ा था। उसने घास की जो चटाई डाल दी, उसी पर बैठ गया। उसका नाम पूछा। बोला—"मेरा नाम गोनू महतो है—जात का गंगोता हूँ।" इतने दिन इस इलाके में रहा, मुझे पता था कि इधर के गंगोतों की जीविका खेती और पशुपालन है। मगर इस घने जंगल के बीच यह शख्स अकेला क्या करता है?

पूछा—"तुम यहाँ क्या करते हो? घर कहाँ है तुम्हारा?"

—"भैंसें चराता हूँ सरकार। घर यहाँ से दस कोस पड़ता है, उत्तर। धरमपुर-लछमिनियाँ टोला।"

—"भैंसे तुम्हारी अपनी हैं? कितनी होंगी?"

बड़े गर्व से वह बोला—"पाँच हैं हुजूर!"

"पाँच भैंसें?" मैं तो दंग रह गया। महज पाँच भैंसें लेकर यह आदमी दस कोस की दूरी से आकर इस घने जंगल में झोंपड़ा बाँध कर रह रहा है, चरी की मालगुजारी दे रहा है! इस छोटी-सी झोंपड़ी में इसका समय गुजर कैसे जाता है? मैं ठहरा कलकत्ता का नौजवान, थियेटर-बायस्कोप के वातावरण में पला। यह बात मेरी समझ में न आ सकी।

मगर इस इलाके में जब और दिन बीते, जानकारी की पूँजी और बढ़ी, तो बात समझ में आई कि गोनू महतो आखिर वैसे क्यों रहता है। असल में उसके जीवन की धारणा ही ऐसी थी, इसके सिवाय इसका और कोई कारण नहीं। पाँच भैंसें हैं, तो उन्हें चराना ही पड़ेगा और जब चराना पड़ेगा, तब जंगल में झोंपड़ा बाँध कर अकेला रहना ही पड़ेगा। निहायत मामूली-सी बात, इसमें ताज्जुब है भी क्या?

सखुए के पत्ते की एक चुट्टी (चुरुट) बना कर मुझे देते हुए गोनू ने मेरा स्वागत किया। आग की आभा में मैंने उसका चेहरा देखा। खासा चौड़ा कपाल, ऊँची नाक, काला रंग—चेहरे पर सरलता, निगाह शांत। उमर साठ से ज्यादा होगी। सिर का एक भी बाल काला नहीं रह गया था। मगर बदन इतना गठा हुआ कि उस उमर में भी एक-एक नस गिन लीजिए।

आग में उसने और कुछ लकड़ियाँ डाल दीं। खुद भी एक चुट्टी सुल-

गाई। आग की आभा से झोंपड़े के अन्दर कभी-कभी पीतल का एकाध बर्त्तन झकमका उठता था। आग के चारों ओर गाढ़े अँधेरे का घेरा, घना जंगल। मैंने कहा—"क्यों गोनू, इस घने जंगल में अकेले रहते हो, जीव-जन्तु का डर नहीं लगता?" वह बोला—"डरने से क्या हम गरीबों का गुजारा है हुजूर, यही रोजी ठहरी। उस दिन रात को झोंपड़े के पीछे बाघ आ निकला। भैंस के दो बच्चे हैं। उन्हीं पर उसकी नजर है। आहट पाते ही जग पड़ा। कनस्तर पीटता रहा, मशाल जलाई, चीख-पुकार मचाई, फिर तमाम रात सो नहीं सका हुजूर। जाड़ों में तो ऐसा होता ही रहता है।"

—"खाते आखिर क्या हो यहाँ? दूकान तो है नहीं—चीजें कहाँ मिलती हैं? चावल, दाल—"

—"चीजें खरीदने को अपने पल्ले पैसे कहाँ है हुजूर और हमें क्या बंगाली बाबुओं की तरह खाने को रोज भात नसीब होता है? पास ही जंगल के पिछवाड़े दो बीघा जमीन है। खेड़ी उपजती है। जंगल में बथुआ मिल जाता है। खेड़ी और बथुआ उबाल लेता हूँ, थोड़ा-सा नमक ऊपर से। यही अपना खाना है। फागुन में जंगल में गुरमी होती है, नमक से कच्ची गुरमी मजे की लगती है। लत्तड़ होती है उसकी-छोटा-छोटा फल। इधर के गरीब लोग महीना भर तो गुरमी खाकर ही काट देते हैं। गुरमी के लिए दुनिया-भर के लोग यहाँ आते रहते हैं।"

पूछा—"आखिर रोज-रोज खेड़ी और बथुआ उबाल कर खाना अच्छा लगता है?"

—"और दूसरा उपाय ही क्या है हुजूर? दोनों जून भात कहाँ से नसीब हो? इलाके-भर में केवल दो ही आदमी दोनों जून भात खाते हैं—रासबिहारीसिंह और नन्दलाल पांडेय। तमाम दिन भैंसों के पीछे दौड़ता हूँ, शाम को लौटते-लौटते इतनी तेज भूख लग जाती है कि जो भी मिल जाता है, वही अच्छा लगता है।"

मैंने पूछा—"तुमने कलकत्ता शहर देखा है गोनू ?"

—"जी नहीं हुजूर, सुना है। भागलपुर एक बार गया हूँ—बड़ा भारी शहर है। हवागाड़ी देखी। अचरज की चीज है हुजूर। न घोड़ा, न कुछ और मजे में चलती है।"

इस उम्र में उसकी ऐसी तन्दुरुस्ती देख कर ताज्जुब हुआ। उसमें हिम्मत भी है, यह भी मानना पड़ा।

गिनी-चुनी ये भैंसें ही गोनू के गुजारे का एकमात्र सहारा थीं। जंगल में दूध तो खैर कहाँ बिकता, वह मक्खन निकाल कर घी गलाता। तीन महीने का घी जमा करके यहां से नौ मील दूर धरमपुर बाजार में मारवाड़ियों के हाथ बेंच आता। इसके सिवाय खेड़ी का दो बीघा खेत था। खेड़ी तो इधर के लगभग सभी गरीबों का प्रधान खाद्य ही ठहरा। गोनू मुझे कचहरी तक पहुँचा गया। मुझे वह इतना अच्छा लगा कि कितनी ही बार साँझ को मैं वहाँ गया। झोंपड़े के सामने आग तापते हुए उससे बातें कीं। गोनू से उधर की जितनी खोज-खबर मिली, उतनी कोई नहीं दे सकता।

कितने ही अजीबो-गरीब किस्से गोनू से मैंने सुने। उड़ने वाले साँप की कहानी, जीते पत्थर की कहानी, तुरन्त पैदा होकर चलने वाले लड़के की कहानी, और भी न जाने क्या-क्या। जंगल के उस निर्जन पारिपार्श्विक में वे कहानियाँ बड़ी उपयोगी और रहस्यमय मालूम होतीं—यों मैं जानता हूँ कि अगर कलकत्ता में उन्हें सुनता, तो वे अनोखी और झूठी लगतीं। जो भी कहानी जहाँ-कहीं भी नहीं रुचती, कहानी का माधुर्य उसकी पृष्ठभूमि और पारिपार्श्वक पर कितना ज्यादा निर्भर करता है, यह कहानी-प्रिय प्रत्येक व्यक्ति जानता है। गोनू के सभी अनुभवों में से जंगली भैंसों के देवता टाँड़बारो का किस्सा मुझे बड़ा आश्चर्यजनक लगा।

लेकिन चूँकि उस किस्से का एक अद्भुत उपसंहार है, इसलिए उसे यथास्थान कहूँगा। एक बात बताए देता हूँ कि गोनू की ये कहानियाँ रूप-

कथा नहीं, उसकी अपनी अभिज्ञता थीं। गोनू ने जिन्दगी को देखा है, मगर दूसरे ढंग से। सारी जिन्दगी जंगल में बिता कर वह जंगली प्रकृति का विशेषज्ञ बन गया था। उसकी बातें यों ही उड़ा देने लायक नहीं। मुझे यह भी नहीं लगा कि इतनी बातें गढ़ कर कहने-जैसी कल्पना-शक्ति उसमें है।

तीसरा परिच्छेद

[एक]

गरमी के दिन आते ही पीरपैंती की तरफ से उड़कर बगलों की जमात ने ग्रांट साहब के बरगद पर अड्डा जमा दिया। दूर से ऐसा लगता था कि पेड़ की चोटी सफेद फूलों से लद गई है।

एक रोज मैं अधसूखे कास के वन के किनारे मेज लगाकर काम कर रहा था कि मुनेश्वरसिंह प्यादे ने आकर कहा—"हुजूर, नन्दलाल ओझा गोलावाला आपसे मिलने आए हैं।"

जरा ही देर में, प्रायः पचास साल का एक बूढ़ा आदमी मेरे सामने आया और सलाम करके खड़ा हो गया। मेरे इशारे से वह पास की तिपाई पर बैठ गया। बैठते ही उसने एक रेशमी बटुआ निकाला, फिर बटुए में से एक बहुत ही छोटा सरौता और दो सुपारियाँ निकाल कर काटने लगा। दोनों हाथों में कटी सुपारी रखकर आदर से मेरी ओर बढ़ाता हुआ वह बोला—"लीजिए हुजूर!"

इस तरह से सुपारी खाने की मेरी आदत तो नहीं थी; पर भद्रता के नाते ले ली। पूछा—"आप कहाँ से आ रहे हैं। क्या काम है?"

उसने जवाब में बताया—उसका नाम नन्दलाल ओझा है, मैथिल ब्राह्मण। यहाँ से ग्यारह मील दूर जंगल के उत्तर-पूरब कोने में सुंगठिया दीयरा में उसका घर है। काश्तकारी है, कुछ महाजनी भी। अगली पूर्णिमा के दिन मुझे अपने घर भोजन करने का न्योता देने आया है। उसने पूछा—"क्या आप मेरे घर अपने चरणों की धूल देने की कृपा करेंगे? यह सौभाग्य पा सकूंगा मैं?"

ग्यारह मील चल कर न्योता खाने की अपनी इच्छा नहीं थी; लेकिन

ओझा बुरी तरह पीछे पड़ गया। लाचार होकर मैंने हामी भर दी। इधर के लोगों के बारे में कुछ जानकारी पाने का लोभ भी छोड़ते न बना।

पूर्णिमा के दिन भरी दोपहरी में कास की झुरमुटों से किसी का हाथी आता हुआ दिखाई पड़ा। हाथी मेरी कचहरी में आकर रुका। महावत से मालूम हुआ, वह नन्दलाल ओझा का अपना हाथी है। मुझे लिवा लाने के लिए भेजा है।—"इसकी कोई जरूरत तो नहीं थी। अपने घोड़े से मैं इससे कम ही समय में पहुँच सकता था। खैर।"

हाथी से ही रवाना हुआ। हरे-भरे वन का माथा मेरे पैरों तले और आकाश मानों मेरे माथे से आ लगा। दूर-दूर तक फैली गिरिमाला ने इस वनभूमि को घेर कर जैसे किसी मायालोक की रचना की हो और मैं उसी मायालोक का अधिवासी होऊँ—स्वर्ग का देवता। कितनी ही मेघमालाओं के नीचे के श्यामल भूमि-खंडों पर के नील वायु-मंडल को पार करता हुआ मेरा यह अदृश्य आवागमन !

रास्ते में चमटा की खाई मिली। सर्दियों का अन्त हो रहा था, फिर भी सिल्ली और बत्तखों के झुंडों से खाई भरी थी। जरा और गरमी पड़ी नहीं कि ये उड़ भागे। जगह-जगह गरीब बस्तियाँ। काँटों से घिरे तम्बाकू के खेत और झोंपड़े।

हाथी आखिर सुंगठिया में पहुँचा। मैंने देखा—मेरे स्वागत में रास्ते के दोनों ओर कतार बाँधे लोग खड़े हैं। गाँव में घुसते ही थोड़ी दूर पर नन्दलाल का घर था।

आठ-दस घर अलग-अलग एक बहुत बड़े आँगन से सम्बद्ध। मैं घर में दाखिल हुआ कि अचानक बन्दूक की दो आवाजें हुईं। मैं चौंक-सा गया। इतने में सामने आकर नन्दलाल ने मेरा स्वागत किया। अन्दर ले जाकर एक बरामदे में कुर्सी पर मुझे बिठाया। कुर्सी सीसम की लकड़ी और गाँव के ही कारीगर के हाथ की बनी थी। इसके बाद दस-ग्यारह साल की एक लड़की हाथ में थाली लिए मेरे सामने आ खड़ी हुई—थाली में कई तो थे पान के पत्ते, कई समूची सुपारियाँ, मधुपर्क के-से एक छोटे कटोरे में जरा-

सा इत्र, दो-चार सूखे खजूर ; इनका क्या करना होता है, यह मुझे मालूम न था। मैं अनाड़ी जैसा हँसा और अँगुली की कोर डुबा कर केवल जरा-सा इत्र-भर लेकर रह गया। उस बच्ची से दो मीठी बातें कीं। वह थाली वहीं रखकर चली गई।

उसके बाद आई खाने की बारी। मैंने यह सोचा भी नहीं था कि नन्द-लाल ने खाने का ऐसा जम कर इन्तजाम किया है। बैठने के लिए लकड़ी का एक बहुत बड़ा पीढ़ा। उसके सामने आई एक इतनी बड़ी पीतल की थाली, जैसी कि हमारी तरफ पूजा का प्रसाद बाँटने के लिए होती है। थाली में परसी गई हाथी के कान जितनी बड़ी पूरी, बथुआ का साग, खीरे का रायता, कच्ची इमली की तरकारी, भैंस के दूध का दही, पेड़े। खाने की चीजों का ऐसा अनोखा मेल मैंने और कहीं नहीं देखा था। आँगन में मुझे देखने वालों की भीड़ लग गई। सब मुझे कुछ इस तरह से ताकने लगे, मानो मैं कोई अनोखा जीव हूँ। पता चला, ये सब लोग नन्दलाल की रैयत हैं।

साँझ से पहले जब मैं चलने लगा, तो नन्दलाल ने एक छोटी-सी थैली मुझे थमाकर कहा—"हुजूर का नजराना।" मैं हैरत में आ गया। थैली में काफी रुपए थे। पचास से कम न होंगे। नजराने में कोई किसी को इतने रुपये क्यों दे भला, फिर नन्दलाल तो अपनी रैयत भी न था। भेंट लौटा देना भी शायद अपमान समझा जाता हो। सो मैंने थैली में से एक रुपया निकाल लिया और थैली उसे देते हुए बोला—"इन रुपयों के बच्चों को पेड़े ला देना।"

नन्दलाल थैली लेने को किसी भी तरह राजी नहीं था। मैंने उसकी सारी अनसुनी कर दी और बाहर आकर हाथी पर सवार हो गया।

दूसरे ही दिन नंदलाल मेरी कचहरी में हाजिर! साथ में पहुँचा उसका बड़ा लड़का। मैंने उनकी बहुत आव-भगत की ; लेकिन वे खाने को हर्गिज राजी न हुए। पता चला कि दूसरे ब्राह्मण की बनाई रसोई मैथिल ब्राह्मण नहीं खाते। इधर-उधर की बहुतेरी बातें हुईं। अंत में नंदलाल ने अपनी सुनाई कि उसका यह लड़का फुलकिया बैहार की तहसीलदारी

का उम्मीदवार है। कृपा करके इसकी बहाली करनी पड़ेगी। मैंने अचरज से कहा—" यहाँ का तहसीलदार तो पहले ही से है। वह जगह खाली कहाँ है ? " जवाब में नंदलाल ने कनखी मारकर कहा—" मालिक तो आप हैं हुजूर, आप चाहें तो क्या नहीं हो सकता ? "

मुझे और भी अचरज हुआ—" कहते क्या हैं आप ? बेचारा तहसीलदार अच्छा ही काम कर रहा है, उसे आखिर अलग किस कसूर पर करूँ। "

नंदलाल बोला—" हुक्म फरमाएँ, हुजूर को पान खाने के लिए कितने रुपए पेश करूँ। आज ही साँझ को रुपए हाजिर हो जायँगे। मगर यह तहसीलदारी हुजूर मेरे बेटे को देनी ही पड़ेगी। कितने रुपए हाजिर करें—पाँच सौ ? "

अब मेरी समझ में आया कि नंदलाल के न्योते का वास्तव में मतलब क्या था। अगर मैं यह जानता होता कि इधर के लोग ऐसे फरेबी हैं, तो हरगिज भी न जाता। यह तो अच्छी मुसीबत मोल ली मैंने !

मैंने नंदलाल को साफ-साफ ही कहकर रुखसत किया। मगर यह भी मैं समझ गया कि वह अभी ना-उम्मीद नहीं हुआ है।

और एक दिन देखा कि जंगल के किनारे खड़ा हुआ नन्दलाल मेरी राह देख रहा है।

किस बुरी साइत में इस कंबख्त का न्योता खाने गया था। अगर मालूम होता कि दो पूरियाँ खिलाकर यह इस कदर मेरी नाक में दम कर देगा, तो उसकी छाया भी न छूता !

मीठा हँसकर वह बोला—" नमस्ते हुजूर ! "

—" हूँ। क्या खबर है ? "

—" खबर क्या हुजूर से छिपी है। मैं हुजूर को बारह सौ रुपए नकद देने को तैयार हूँ। मे` बेटे को उस जगह पर बिठा दें। "

—" पागल हुए हो नंदलाल। अरे, बहाल करने का मालिक मैं थोड़े ही हूँ। जिनकी जमींदारी है, उनके पास दरखास्त भेज सकते हो। फिर

बात यह भी है कि बहरहाल उस जगह पर जो काम कर रहा है, उसे किस कसूर पर छुड़ाया जाय ? "

मैंने और ज्यादा कुछ न कहा---" घोड़े को एड़ लगाई। अपने ऐसे रूखे व्यवहार से आखिर नंदलाल को मैंने अपना और जमींदारी का कट्टर दुश्मन बना लिया। तब भी मैं नहीं जान सका था कि वह कितना खौफनाक आदमी है। मुझे अच्छी तरह इसका फल भोगना पड़ा।

[दो]

उन्नीस मील दूर डाकघर से डाक लाना यहाँ की एक निहायत जरूरी घटना थी। इतनी दूर रोज-रोज आदमी भेज सकना तो संभव नहीं था, सो हफ्ते में दो बार डाक के लिए आदमी जाता था। मध्य एशिया की अपार और भयावनी मरुभूमि के तंबू में बैठे मशहूर पर्यटक सेवेन हेडिन भी शायद ऐसी ही बेसब्री से डाक का इंतजार करते होंगे। यहाँ आए आठ-नौ महीने हो गए। इस सूने वनप्रांतर में सूर्यास्त, चंद्रोदय, चाँदनी और नीलगायों की दौड़ को देखते हुए जिस बाहरी दुनिया से अपना सारा संबंध ही चुक गया था, डाक से आनेवाली कुछेक चिट्ठियों से कुछ हद तक वह संयोग स्थापित होता था।

जवाहरसिंह डाक लाने गया था। आज दोपहर को उसे डाक लेकर लौटना था। मैं बार-बार अंदर-बाहर कर रहा था। मेरी और उस बंगाली मुहर्रिर बाबू की निगाह दूर जंगल की ओर अटकी हुई थी। यहाँ से कोई डेढ़ मील पर एक टेकरी थी। राह उसी पर से गई थी। उस पर पहुंचते ही जवाहरसिंह साफ दिखाई पड़ता था।

दोपहर हो गई, मगर उसका कहीं भी पता नहीं। मैं कभी अंदर जाता, कभी बाहर चहलकदमी करता। यहाँ काम कुछ कम था नहीं। अलग-अलग अमीनों का विवरण पढ़ना, रोज के रोकड़ पर हस्ताक्षर करना, सदर से आई हुई चिट्ठियों का जवाब देना, पटवारी और तहसीलदार की वसूली का हिसाब, आई हुई दरखास्तों पर कार्रवाइयाँ, मुंगेर, पूर्णियाँ, भागलपुर

में जो मामले लगे थे, उनके बारे में वकील और कारिंदों के ब्योरे देखना और जवाब देना—और भी बहुत-से बड़े-छोटे काम। रोज का काम रोज निबटा न लिया जाता, तो इतने काम जमा हो जाते कि जान पर आ बनती। और डाक के साथ तो ढेरों नई जिम्मेदारियाँ आ जातीं—तरह-तरह के खत, तरह-तरह के हुक्म—यहाँ जाइए, उनसे मिलकर अमुक जगह बंदोवस्त कीजिए इत्यादि-इत्यादि।

दिन के कोई तीन बजे दूर पर जवाहरसिंह की सफेद पगड़ी चमकती दिखाई पड़ी। बंगाली मुहर्रिर बाबू ने आवाज दी—"मैनेजर साहब, आइए, डाक-प्यादा आ रहा है। वह, वहाँ—"

मैं दफ्तर से बाहर निकला। इतने में जवाहरसिंह टेकरी से उतर कर फिर जंगल में धँस पड़ा था। मैंने ऑपेरा-ग्लास मँगवाकर गौर से देखा, जंगल की आड़-ओट में वह आता दिखाई दिया। दफ्तर में फिर जी नहीं लगा। उफ़, कैसा बेसब्र इंतजार है! जो चीज़ जितनी ही मुश्किल से मिलनेवाली होती है, मनुष्य के लिए वह उतनी ही ज्यादा कीमती होती है। यह जरूर है कि वह कीमत मनुष्य की अपनी आँकी हुई, कृत्रिम होती है, जिस चीज को हम चाहते हैं, उसकी अच्छाई-बुराई से हकीकत में उसका कोई लगाव नहीं होता। मगर दुनिया की ज्यादा-से-ज्यादा चीजों पर हम एक नकली कीमत थोपकर उसे बड़ी-छोटी समझने के आदी हैं।

कचहरी के सामने ही बलुआही जमीन के उस पार आ धमका जवाहरसिंह। मैं कुर्सी पर से उठ गया। मुहर्रिर साहब आगे बढ़ गए। जवाहर ने उन्हें सलाम किया और जेब में से चिट्ठियाँ निकालकर उन्हें दीं।

दो-एक पत्र मेरे अपने भी थे—बहुत ही जाने-पहचाने अक्षर। उन्हें पढ़ते-पढ़ते अपने चारों ओर के जंगल को ताक कर मैं अवाक् रह गया। यह मैं हूँ कहाँ! जिंदगी में कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि मैं कभी ऐसी जगह भी रहूँगा, दिन-पर-दिन, महीने-पर-महीने गुजारूँगा। एक विदेशी पत्र का ग्राहक बन गया था। वह पत्र आज की डाक में आया था। ऊपर ही लिखा था—'हवाई डाक से'। जहाँ मारे आदमी के तिल धरने

की जगह नहीं, ऐसे कलकत्ता शहर में बैठकर क्या समझा जा सकता है कि बीसवीं सदी के इस वैज्ञानिक आविष्कार की सहूलियत क्या है! यहाँ, इस सुनसान बियाबान में बहुत कुछ सोचने और सोचकर दंग रह जाने की गुंजाइश है—यहाँ की पारिपार्श्विक अवस्था वैसी अनुभूति ला देती है।

अगर सच कहूँ, तो कहूँगा कि जिंदगी में सोचने का सबक यहीं आकर पढ़ा है। मन में जाने कितनी ही बातें जगतीं, कितनी पुरानी बातें याद आतीं—अपने मन को इस तरह से उपभोग करने का मौका और कभी नहीं मिला। यहाँ हर असुविधा के बावजूद यह आनंद नशे की तरह दिन-दिन मुझ पर सवार होता जा रहा था।

और सच पूछिए तो मैं प्रशांत महासागर के किसी जन-हीन टापू में निर्वासित तो नहीं था! शायद बत्तीस मील पर रेल का स्टेशन था। चाहता तो महज घंटे भर में पूर्णियाँ और तीन घंटे में मुंगेर पहुँच सकता था ; लेकिन एक तो स्टेशन तक जाना ही एक कठिन काम था, फिर वह कठिनाई झेली भी जा सकती, बशर्ते कि पूर्णियाँ या मुंगेर जाकर कोई फायदा होता। जाकर लाभ भी क्या था, न वहाँ कोई मुझे पहचानता था, न मैं किसी को जानता था। जाकर भी क्या होगा?

कलकत्ता से आने के बाद किताबों और साथियों की कमी बेतरह खटकती रही। कितनी ही बार सोचा कि नहीं, यहाँ रहना अपने बस की बात नहीं। अपने लिए तो सर्वस्व कलकत्ता ही है। मुंगेर और पूर्णियाँ में अपना पुरसाँहाल ही कौन है, जिसके पास जाऊँ? लेकिन सदर दफ्तर की इजाजत के बिना कलकत्ता जा नहीं सकता था, फिर खर्च इतना ज्यादा था कि सिर्फ दो-चार दिन के लिए जाना पुसाता नहीं था।

[तीन]

दुख-सुख से कई महीने गुजर जाने के बाद चैत खत्म होते-होते एक ऐसी घटना का सूत्रपात हुआ, जो मेरी अभिज्ञता में कभी थी ही नहीं।

पूस में नाम-मात्र की बारिश हुई थी। उसके बाद ही से अनावृष्टि के आसार। माघ में पानी नहीं पड़ा, फागुन में नहीं, चैत में नहीं, वैशाख में नहीं। साथ ही जैसी पड़ी शिद्दत की गरमी, वैसा ही आया घोर जल-कष्ट।

केवल गरमी और जलकष्ट कहने से उस विभीषिका के प्राकृतिक विपर्यय का स्वरूप नहीं समझाया जा सकता। उत्तर में आजमाबाद से दक्खिन में किसनपुर तक, पूरब में फुलकिया बैहार और नबटोलिया से लेकर पश्चिम में मुंगेर जिले की सरहद तक—सारे जंगल में जहाँ-जहाँ भी खाई, खंदक, कुंड थे, सब सूख गए। कुआँ खोदने से भी पानी नहीं मिलता था। बालू में चुँआड़ी खोदने पर थोड़ा-बहुत पानी मिलता भी था; पर एक डोल पानी जमने में घंटा भर से ज्यादा लग जाता। चारों ओर हाहाकार मच गया। पूरब में कोसी ही एकमात्र भरोसा थी, वह भी हमारे इलाके की पूरबी हद से सात-आठ मील पर थी—मशहूर मोहनपुरा रिजर्व फॉरेस्ट के उस पार। अपनी जमींदारी और मोहनपुरा होकर नेपाल की तराई से एक पहाड़ी नदी बहती थी, लेकिन इस समय बालू और चट्टानों में उसके चरणचिह्न ही ढँके पड़े थे। बालू खोदकर जो थोड़ा-सा पानी मिलता, उसी के लोभ से कितनी दूर-दूर के गाँवों से घड़ा लिये औरतें जातीं और तमाम दोपहर बालू-कीचड़ से माथा कूटकर आधा घड़ा कदोड़ पानी लिये घर लौटतीं।

किंतु यह पहाड़ी नदी, मिद्दी, हमारे किसी काम नहीं आती। बहुत दूर पड़ती थी। कचहरी में पक्का बँधा कोई बड़ा कुआँ नहीं था। जो छोटा-सा कुआँ था भी, उससे पीने भर का पानी जुटा सकना एक समस्या हो उठी। महज तीन डोल पानी इकट्ठा होते-होते सबेरे से दोपहर हो जाती।

दोपहर में बाहर खड़े होकर ताँबे से तपे और आग उगलनेवाले आसमान तथा अधसूखे झाऊ और घास के जंगल की ओर देखने में डर लगता। दिशाएँ जैसे धू-धू कर जल रही हों, बीच-बीच में लहकती आग की लपटों से गरम हवा के झोंके बदन को झुलसा देते। सूरज की ऐसी शकल, दोपहर

की धूप का ऐसा भयानक रुद्र-रूप न तो मैंने कभी देखा था और न इसकी कल्पना ही की थी। किसी-किसी रोज पश्चिम से बालू की आँधी उठती। इन इलाकों में चैत-वैशाख पछुवा हवा का समय है। कचहरी से सौ गज की दूरी की चीजें भी बालू और धूल के बादल से दिखाई नहीं पड़तीं।

रामधनियाँ टहलू प्रायः आकर बताता—"हुजूर, कुएँ में पानी नहीं है। किसी-किसी दिन तो वह दिन में घंटाभर उपछ-उँपछ कर मेरे स्नान करने के लिए आधी बालटी गला हुआ कीचड़ ही ला देता। उस भयानक गरमी में उन दिनों वही अमूल्य था।

एक दिन दोपहर के बाद मैं कचहरी के पिछवाड़े एक बहेड़े के पेड़ की छाया में खड़ा था। सहसा चारों तरफ का नज़ारा देखकर मन में आया, दोपहर की ऐसी शक्ल कभी देखी तो नहीं है, यहाँ से जाने के बाद कभी देख भी न पाऊँगा। बंगाल की दोपहरी जनम-जनम से देखता रहा हूँ, जेठ की जलती हुई दोपहरी बहुत देखी, लेकिन उसकी ऐसी रुद्र-मूर्ति कहाँ! मुझे इस भीम-भैरव रूप ने मोह लिया। सूरज की तरफ ताका, जैसे एक विराट् आग का कुंडा कैलसियम जल रहा है, हाइड्रोजन जल रहा है, निकेल और कोबाल्ट जल रहा है। जानी-अजानी सैकड़ों प्रकार की गैसें और धातु एक करोड़ योजन व्यास की उस भट्ठी में एक साथ धधक रही हैं और उसी की धू-धू करती लपटें असीम शून्य के ईथर की परतों को पार करके फुलकिया बैहार और लोधई टोले की दूर तक फैली तृणभूमि को छू रही हैं। उन लपटों ने हरियाली के रेशे-रेशे से रस को सोख लिया है और दिगंत को झुलसाकर नाश का तांडव नाचना शुरू कर दिया है। दूर तक आँखें दौड़ाईं, प्रांतर में तमाम खेल रही थीं तापतरंगें और ताप से घिर आई थी। ऊपर-ऊपर धुंधले कुहरे की परत। गरमी की दोपहरी में यहाँ मैंने नीला आसमान क्यों नहीं देखा, देखा, ताम्राभ, मटमैला। एक भी गिद्ध या चील नहीं, चिड़ियाँ इलाके को छोड़कर और कहीं चली गई हैं। इस दोपहर का कैसा अनोखा सौंदर्य निखर आया है! तीखे उत्ताप की उपेक्षा करके मैं बहेड़े के नीचे कुछ देर तक खड़ा रहा। सहारा की मरुभूमि मैंने नहीं देखी, सेवेन हेडिन का

टकला-मकान रेगिस्तान नहीं देखा, गोबि नहीं देखी, मगर यहाँ दोपहर के इस रुद्र-भैरव रूप में उन सभी जगहों की धुँधली झाँकी अवश्य मिल गई।

कचहरी से तीन मील पर पेड़-पौधों की सघनता से घिरे एक कुंड में कुछ पानी था। सुना था, पिछले साल बरसात में उसमें मछलियाँ खूब हुई थीं। कुंड में गहराई थी। इसीलिए इस सूखे मौसम में भी वह एकबारगी सूखा नहीं था। लेकिन उस कुंड का पानी किसी के काम नहीं आता था। एक तो वहाँ से बड़ी दूर तक कहीं आबादी नहीं थी, दूसरे पानी तक पहुँचने में बड़ी दलदल थी, पाँव रखिए कि कमर तक धँस जाय। घड़ा-भर कर किनारे पर लौट आने की उम्मीद ही न थी। एक वजह और भी थी कि उसका पानी अच्छा नहीं था, नहाने-पीने के बिलकुल योग्य नहीं। पानी में क्या कुछ मिला था, पता नहीं ; पर उसमें से एक अजीब-सी बू आती थी।

एक दिन जब पछुआ के हू-हू करनेवाले झोंके धीमे पड़े और ताप कम हो आया, तो मैं घोड़े पर उस कुंड के पास पहुँचा। पीछे ग्रांट साहब के उस बड़े बरगद की ओट में सूरज डूब रहा था। कचहरी का थोड़ा-सा पानी बच जायगा, यह सोचकर मैंने घोड़े को वहाँ पानी पिलाना चाहा। जितनी ही दलदल चाहे हो, पानी पीकर घोड़ा जरूर निकल आयगा। सो मैं झाड़ियाँ पार करके कुंड के करीब गया। कुंड के किनारे एक अद्भुत दृश्य नजर आया। कुंड के चारों-तरफ आठ-दस छोटे-बड़े साँप और तीन बड़े-बड़े भैंसे एक साथ पानी पी रहे थे। साँप सभी विषैले थे, करैत और शंखचित्ते, जो आम तौर पर इधर पाए जाते हैं।

ऐसे भैंसे मैंने और कभी नहीं देखे। बड़े-बड़े सींग, बदन में लंबे रोएँ और प्रकांड शरीर। पास में न कोई वस्ती थी, न बथाना। फिर ये भैंसे आए कहाँ से, कुछ समझ नहीं सका। सोचा—हो सकता है चरी की मालगुजारी न देनी पड़े, इस नीयत से चोरी-चोरी किसी ने कहीं आस-पास बथान रक्खा हो शायद ! लौटकर कचहरी के पास पहुँचा कि मुनेश्वरसिंह से भेंट हो

गई। उससे जब इस सम्बन्ध में पूछा तो वह चौंक उठा—"हनुमानजी की कृपा हुजूर कि सही सलामत लौट आए। वे पालतू नहीं, जंगली भैंसे थे हुजूर, खूँखार जंगली भैंसे! मोहनपुरा के जंगल से पानी की तलाश में आ गए होंगे। वहाँ कहीं पानी नहीं है।"

कचहरी में तुरत ही यह बात फैल गई। एक स्वर से सब ने यही कहा—"भाग्य था कि बच गए हुजूर! बाघ से तो फिर भी बच सकते हैं आप, मगर जंगली भैंसे के हाथों पड़ने से खैर नहीं। और ऐसी साँझ को उस सुनसान में अगर भैंसे टूट पड़ते, तो घोड़े को भगाकर आप उनसे हर्गिज नहीं निकल सकते थे।"

उसके बाद से तो वह कुंड जंगली जानवरों के पानी पीने का एक प्रधान अड्डा बन गया। सूखा जितना ही बढ़ता गया, धूप की बढ़ती हुई प्रखरता से दावदाह जितनी ही प्रचंड होती गई, क्रमशः खबर मिलने लगी कि उस कुंड में लोगों ने बाघ को पानी पीते देखा, जंगली भैंसे को पानी पीते देखा, हिरनों के झुंड को पानी पीते देखा—नीलगाय और जंगली सूअरों की तो बात ही क्या, ये दोनों जानवर तो यहाँ बहुत ही ज्यादा थे। एक दिन मैं खुद घोड़े पर सवार होकर चाँदनी रात में वहाँ शिकार को गया, साथ में तीन-चार प्यादे, दो-तीन बंदूकें भी थीं। उस रात को जो दृश्य मैंने वहाँ देखा, वह जिंदगी भर नहीं भुलाया जा सकता। उसे समझने के लिए कल्पना में एक निर्जन चाँदनी रात और दूर तक फैले वन-प्रांतर की तसवीर आँक लेने की जरूरत है! जरूरत है कल्पना करने की—सारी वन-भूमि पर थमकते हुए एक अजीब सन्नाटे की। यद्यपि बिना अनुभव के वैसे सन्नाटे की कल्पना ही असंभव है!

अधसूखे कसाल की गंध से सूखी बयार भर गई थी। बस्ती से बहुत दूर निकल आया था, दिशा का ज्ञान खो बैठा था।

कुंड में एक तरफ दो नीलगायें और एक तरफ दो हायना चुपचाप पानी पी रहे थे; कभी नीलगायें हायना को ताक लेती थीं, कभी हायना नील-गायों को। दोनों के बीच नीलगाय का दो-तीन महीने का एक नन्हा-सा

बच्चा खड़ा था। ऐसा करुणाजनक दृश्य मैंने कभी नहीं देखा—देखकर मुझे उन प्यास से आकुल निरीह जानवरों पर गोली चलाने की इच्छा नहीं हुई।

वैशाख बीत गया। बूंद भर पानी का ठिकाना नहीं। एक नई मुसीबत आई। इस इतने बड़े वन-प्रांतर में अक्सर राही भटक जाया करते थे। अब वैसे भटके हुओं की जान जाने की नौबत आ गई; इसलिए कि आस-पास कहीं पानी न था। फुलकिया बैहार से ग्रांट साहब के बरगद तक की विशाल वन-भूमि में कहीं बूँद-भर भी पानी मिलने की गुंजाइश नहीं। एकाध जगह सूखे कुंड थे भी, तो राह-भूले पथिकों के लिए उन्हें ढूँढ निकालना आसान न था। एक रोज की घटना सुनाऊँ।

[चार]

दिन के चार बजे थे। गरमी के मारे किसी काम में जी नहीं लग रहा था। न जाने कौन-सी किताब लेकर पढ़ रहा था कि रामबिरिजसिंह ने आकर इत्तला दी—"हुजूर, कचहरी के पश्चिम वाले उस टीले पर एक अजीब पागल-सा आदमी नजर आ रहा है, वह हाथ-पाँव के इशारे से कुछ बता रहा है।" मैं बाहर निकला तो देखा, सचमुच ही टीले पर कोई खड़ा था। ऐसा लगा, शराबी की तरह झूमता-झामता वह इसी तरफ आ रहा है। कचहरी के जितने भी लोग थे, सब मुँह बाए उसी तरफ देख रहे थे। मैंने उसे लिवा लाने के लिए दो प्यादों को भेज दिया।

प्यादे उसे ले आए। उसके बदन पर कोई कपड़ा नहीं था। सिर्फ एक साफ धोती पहने था, चेहरा अच्छा था, रँग गोरा; लेकिन उसकी शकल बड़ी भयानक हो गई थी, गाल के दोनों किनारों से फेन छूट रहा था, दोनों आँखें गुड़हल के फूल-जैसी गहरी लाल थीं, और निगाह पागल-जैसी थी। बरामदे पर एक डोल में पानी था—नजर पड़ते ही वह पागल की तरह उस पर टूट पड़ा। मुनेश्वरसिंह ने लपककर डोल को वहाँ से हटा लिया। उस आदमी को बिठाकर उसका मुँह खुलवाकर देखा, उसकी जीभ फूलकर

बड़ी घिनौनी-सी हो गई थी। बड़े कष्ट से उसकी जीभ को एक तरफ हटाकर बूँद-बूँद पानी उसके मुँह में टपकाया गया। आध घंटे में वह कुछ होश में आया। नीबू का रस मिलाकर एक गिलास गरम पानी उसे पिलाया गया। धीरे-धीरे घंटे भर में वह चंगा हो गया। पता चला, घर उसका पटना है। लाह की खेती करने के इरादे से वह बेर के जंगल की खोज में इधर आया। पूर्णियाँ से दो दिन पहले ही चला है। आज दोपहर के लगभग वह इस हलके में आया और भटक गया। जंगल का यहाँ एक-जैसा ही सिलसिला है, उसमें राह भूल जाना आसान बात है, खासकर किसी विदेशी के लिए। कल की उस खौफनाक लू-लपट में वह तमाम दोपहर भटकता फिरा, न किसी आदमी से कहीं भेंट हुई, न कहीं पानी की एक बूँद नसीब हुई। लाचार होकर रात में एक पेड़ के नीचे पड़ रहा। आज सुबह से फिर उसने चक्कर काटना शुरू किया। ठंढे दिमाग से जरा सूरज की तरफ देखकर सोचता तो दिशा का पता चल सकता था, कम-से-कम पूर्णियाँ तक तो लौट ही सकता था, लेकिन डर के मारे किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर कभी इधर, तो कभी उधर टकराता फिरा। दोपहर को देर तक जोर-जोर से चीखता-चिल्लाता रहा कि कोई आदमी मदद को मिल जाय ; मगर आदमी कहाँ ? फुलकिया बैहार में बेर का जंगल जिधर था, वहाँ से नवटोलिया, कोई दस-बारह वर्गमील के इलाके में कहीं बस्ती नहीं—सारा वन-प्रांतर जन-मानव-हीन और सुनसान। लिहाजा उसकी चीख-पुकार किसी ने नहीं सुनी, तो ताज्जुब क्या ! उसके इस बेतरह डर जाने की एक वजह और भी थी। उसे लगा कि वह जिन (भूत) के चंगुल में पड़ गया है। वह जान लिये बिना पिंड नहीं छोड़ने का। बदन पर उसके कुरता था। आज दोपहर के बाद मारे प्यास के सारे बदन में ऐसी जलन शुरू हुई कि जाने कहाँ उसे उतार कर फेंक दिया। अगर इस कचहरी की महावीरी ध्वजा अचानक उसे दिखाई नहीं पड़ जाती, तो आज शायद वह जिंदा भी नहीं रह पाता।

ऐसी ही गरमी और जल-कष्ट के दिनों में एक रोज दोपहर को खबर मिली कि मील भर दूर नैऋत कोने के जंगल में आग लग गई है। और

वह आग फैलती हुई इसी तरफ को बढ़ती आ रही है। सुनते ही हम सब लपक कर बाहर निकल पड़े। देखा, धुएँ के बादल के साथ आग की लोल लपटें लपलपाती हुई आसमान को उठ रही हैं! उस दिन पछुआ के झोंके भी चल रहे थे। इस तीखी धूप से कसाल और घास तो अधसूखी होकर बारूद बन रही थी! किसी चिनगी ने छुआ नहीं कि सारी झाड़ी लहक उठी। चारों तरफ धुएँ के नीले बादल और आग की लपटें और चट्-चट् की आवाज। हवा के झोंकों के साथ-साथ आग की आड़ी-टेढ़ी लपटें डाक-गाड़ी की तेजी से अपने फूंस के इन घरों की तरफ मानो दौड़ी आ रही हों। सबके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। यहाँ रहने से तो झुलस कर मरना होगा—आग आ ही धमकी!

सोचने का भी समय नहीं। कचहरी के कागजात, तहवील के रुपए, दस्तावेज, नक्शे—बहुत-कुछ थे। इनके अलावा हमारी निजी चीजें। सर्वस्व जाने की नौबत! सूखे चेहरे लिये डरी हुई आवाज में प्यादों ने कहा—"आग तो आ गइल हुजूर!" मैंने कहा—"चीजें निकालना शुरू कर दो, सरकारी रुपए और कागजात सबसे पहले।"

कई आदमी उस जंगल का सफाया करने में जुट पड़े, जो आग और कचहरी के बीच में पड़ता था। जहाँ तक बन पड़े, काटने की कोशिश की जाय। बथान वाले रैयतों ने आग को फैलते जो देखा, सो कचहरी को बचाने के लिए कुछ लोग दौड़ आए। पछुआ के झोंकों से ही उन्हें लगा कि कचहरी खतरे में है।

एक अजीब नज्जारा था! पेड़-पौधों को तोड़-मरोड़कर अपनी जान लिये नीलगायें बेतहाशा भागी जा रही हैं, सियार सरपट भाग रहे हैं, कान खड़े किए खरगोश दौड़ रहे हैं, जंगली सूअरों का एक जत्था तो बच्चे-कच्चे के साथ घबराकर कचहरी में होकर ही निकल गया! बथानों की बँधी भैंसे खोल दी गईं। प्राण लिये उनकी वह दौड़; तोतों का एक दल इकट्ठा होकर माथे के ऊपर से उड़ भागा, उसके पीछे-पीछे निकला लाल बतखों का जत्था। तोतों की फिर एक जमात, उसी के पीछे कुछ

बिल्ली। हैरत में आकर रामबिरिजसिंह ने कहा—"पानी त कहीं नै छै...
ई लाल बत्तख केरो जेरा कहाँ से ऐलै हो भाइ रामलगन ?" मुहर्रिर साहब
आजिज़ आ गए। बोले—"अरे बाबा छोड़ भी। यहाँ जान की पड़ी है
और तुम्हें लाल बत्तख़ कहाँ से आए, इसकी कैफ़ियत चाहिए !"

बीस-एक मिनट में आग पास ही आ पहुँची। घंटे भर तक दस-पंद्रह
लोग उससे इस क़दर जूझते रहे कि बयान नहीं किया जा सकता ! पानी
का नाम नहीं, हरी डालें और बालू ही उससे लड़ने के औज़ार। धूप और
आग के ताप से झुलस कर सबकी शक्ल राक्षस-जैसी खौफ़नाक हो उठी।
सारे बदन में राख और कालिख ! हाथ की नसें फूल उठीं, कितनों के शरीर
में फोले पड़ गए। इधर कचहरी के सारे असबाब—बक्से, खाट, आलमारी
—निकाल-निकालकर बाहर फेंके जा रहे थे। कौन-सी चीज कहाँ गई,
यह खबर किसे ? मैंने मुहर्रिर साहब से कहा—"नकद और दस्तावेज
आप अपने जिम्मे रक्खें।"

कोई लगाव न पाकर आग उत्तर दक्खिन होकर पूरब की तरफ़ दौड़
गई—किसी तरह से कचहरी तो बच गई। चीजें फिर से उठाकर अंदर
रक्खी गई। पूरब आसमान को रँग कर वह प्रलयंकर आग की लपटें रात-
भर धधकती रहीं और भोर होते-होते मोहनपुरा रिजर्व फॉरेस्ट की सीमा
पर जा धमकीं।

दो-तीन दिन के बाद खबर मिली कि कारो और कोसी के किनारे दलदल
में आठ-दस जंगली भैंसे, दो चीते और कई नीलगायें गड़ी हुई मरी पड़ी
हैं। आग के भय से ये जान लेकर मोहनपुरा जंगल से भागे और इस
दुर्गत के शिकार हुए। वैसे कोसी-कारो से रिज़र्व फॉरेस्ट आठ-नौ मील पर
होगा।

चौथा परिच्छेद

[एक]

वैशाख-जेठ बीता, आया आसाढ़। आसाढ़ में कचहरी की तौजी। लोगों का मुँह इधर मुश्किल से ही देखने को मिलता, सो मेरी यह एक हार्दिक इच्छा थी कि तौजी के दिन न्योत कर काफी लोगों को खिलाऊँगा। आस-पास में तो गाँव थे नहीं। मैंने गनौरी तिवारी को भेजकर दूर-दूर की बस्तियों में न्योता भिजवाया। तौजी के एक दिन पहले से ही आसमान बादलों से घिर गया। टिपटाप पानी भी पड़ता रहा। तौजी के दिन तो मानो आसमान ही फट पड़ा। और इधर दोपहर से न्योता खानेवालों का ताँता बँधा। भोज खाने के लोभ से वे बारिश झेलकर भी आने लगे। उन्हें बैठने की जगह देना भी मुश्किल हो गया। बाल-बच्चों को लेकर बहुतेरी औरतें भी आ पहुँची थीं। औरतों के लिए दफ्तर में बैठने का इन्तजाम कर दिया। मर्द लोग जहाँ-तहाँ बैठ गए।

इधर के लोगों को खिलाने में कोई झमेला नहीं। कोई मुल्क इतना भी ग़रीब हो सकता है, मैं यह नहीं जानता था। बंगाल बड़ा ही ग़रीब है, फिर भी इधर के आम लोगों के मुकाबले में वहाँ के गरीब-से-गरीब भी संपन्न हैं। इस मूसलाधार वर्षा में भींगते हुए ये थोड़ा-सा माढ़ा, खट्टा दही, गुड़ और लड्डू खाने को इतनी दूर आए थे। यही चीजें यहाँ आम तौर से भोज में खिलाई जाती थीं।

सुबह से ही आठ-दस साल का एक छोटा लड़का बड़ी मिहनत कर रहा था। चीन्हता नहीं था। नाम था उसका बिशुआ। पास ही की किसी बस्ती से आया होगा। दस बजे के करीब उसने थोड़ा-सा जलपान माँगा। भंडार का भार था नवटोलिया के पटवारी पर। उसने उसके अँचरे में थोड़ा-सा माँढ़ा और नमक दे दिया।

मैं पास ही खड़ा था। वह छोरा जामुन-जैसे रंग का था। मुखड़ा सुंदर, जैसे काले पत्थर की कृष्णमूर्ति हो! अपने मोटिया कपड़े की कोर फैलाकर उसने जब वह मामूली जलपान लिया, तो उसके चेहरे पर खुशी की जो हँसी फूट उठी, कह नहीं सकता।

ब्राह्मणों का खिलाना तो किसी तरह निबट गया। तीसरे पहर मैंने देखा, अविराम वर्षा में तीन औरतें आँगन में पत्तल डाले काँप रही हैं। पत्तल में माढ़ा था, दही गुड़ के लिए वे ताक रही थीं। मैंने पटवारी को बुलाकर पूछा—"इस तरफ परोस कौन रहा है? और इन्हें बारिश में नीचे किसने बैठाया?"

पटवारी बोला—"हुजूर, ये जात की दुसाध हैं। इन्हें बरामदे में बैठाऊँ, तो सारी चीजें फेंक देनी पड़ेंगी, उन चीजों को फिर कोई भी ब्राह्मण, छत्री या गंगोता नहीं खा सकते। और, दूसरी जगह भी कहाँ है?"

मैं खुद भीगता हुआ उन गरीबिन दुसाध औरतों के पास जा खड़ा हुआ। यह देखकर लोग जल्दी-जल्दी उन्हें परोसने लगे। वह माढ़ा, गुड़ और पनछा दही एक-एक ने इस कदर खाया कि अपनी आँखों देखे बिना यकीन नहीं आ सकता। लोगों में भोज खाने की ऐसी धुन देखकर मैंने मन-ही-मन तै किया कि इन दुसाध औरतों को न्योता देकर और किसी दिन खूब अच्छी तरह अच्छा खाना खिला दूँगा। हफ्ते भर बाद दुसाधटोली की उन औरतों को बुलवाकर मैंने पूरी, मछली, माँस, खीर, दही, चटनी खूब खिलाया। जिंदगी में ऐसा भोज खाने की उन्होंने कल्पना भी न की होगी। उनके विस्मित और आनंदित आँख-मुंह की वह हँसी बहुत दिनों तक मुझे याद रही। वह छोकरा विशुआ भी उस भोज में था।

[दो]

उस दिन घोड़े पर सर्वे-कैंप से लौट रहा था। रास्ते के जंगल में कसाल की झाड़ी के पास बैठा एक आदमी उड़द का सत्तू सानते हुए मिला। उसके पास कोई बर्तन नहीं था, इसलिए मैले कपड़े के छोर में ही वह उसे सान

रहा था। इतना-इतना सत्तू एक आदमी, चाहे वह कोई हो, कहीं का हो, कैसे खा सकता है, यह मेरी अकल में आ सकने लायक बात नहीं थी। मुझे देखकर अदब से वह खड़ा हो गया और सलाम करके बोला—"माफ कीजिएगा मैनेजर साहब, जरा नाश्ता कर रहा हूँ हुजूर।"

मुझे यह भी समझ में नहीं आया कि कोई एकांत में बैठकर नाश्ता कर रहा हो, तो उसमें माफ करने की बात क्या आती है? मैंने कहा—"करो, अपना नाश्ता करो। उठने की कोई जरूरत नहीं। नाम क्या है तुम्हारा?"

वह बैठा नहीं। मेरा लिहाज करते हुए खड़ा-खड़ा ही बोला—"गरीब का नाम धौताल साहू है हुजूर।"

मुझे लगा, उमर उसकी साठ से ज्यादा ही होगी। दुबला लंबा बदन, रंग काला, पहनावे में मैला लट्ठा और मिरजई। पाँव नंगा।

उससे मेरा यही पहले-पहल परिचय हुआ।

कचहरी में पहुँचकर मैंने रामजोत पटवारी से पूछा—"धौताल साहू को पहचानते हो तुम?"

रामजोत बोला—"जी हुजूर! धौताल को इलाके में कौन नहीं जानता? लखपती है हुजूर—बहुत बड़ा महाजन। इधर के सभी उसके कर्जदार हैं। नौगछिया में घर है।"

पटवारी की बात सुनकर मैं आश्चर्य-चकित होग या। लखपती आदमी और एक मैले कपड़े में सत्तू सानकर खाता है! मुझे लगा, पटवारी ने दून की हाँक दी। मगर कचहरी में जिससे भी पूछा, उसीने यह उत्तर दिया—"धौताल साहू? उसके रुपयों का कोई लेखा-जोखा नहीं हुजूर।"

बाद में अपने काम से धौताल साहू कई बार मेरे पास आया। धीरे-धीरे पता चला कि एक अजीब लोकोत्तर चरित्र के आदमी से परिचय हुआ है। देखे बिना यह यकीन ही नहीं हो सकता कि बीसवीं सदी में भी ऐसा आदमी है।

जैसा कि अंदाज था, उसकी उम्र तिरसठ-चौंसठ की होगी। कचहरी

से पूरब-दक्खिन कोई बारह-तेरह मील दूर नौगछिया में उसका घर था। इलाके के क्या काश्तकार, जमींदार और क्या खेतिहर-व्यापारी सभी उसके खातक थे। मगर मजे की बात यह थी कि धौताल कर्ज देकर अदायगी के लिए कभी कड़ा तकाजा नहीं करता था। कितनों ने उसकी पूँजी डुबाई, यह नहीं कहा जा सकता। उसके जैसे निरीह और सज्जन आदमी को महाजनी करनी ही नहीं चाहिए थी ; लेकिन वह भी क्या करे, लोगों की आरजू-मिन्नत उससे टालते नहीं बनती। खास तौर पर उसका यही कहना था कि लोग जब सूद का वायदा करते हैं, तब व्यवसाय के लिहाज से भी तो कर्ज देना लाजिमी है। एक दिन वह बहुत सारे दस्तावेज कपड़े में बाँध कर मुझसे मिलने आया। बोला—"हुजूर, मिहरबानी करके जरा इन दस्तावेजों को देख दें।"

मैंने छानबीन की। देखा, समय पर नालिश नहीं किये जाने से कोई आठ दस हजार के दस्तावेज बेकार हो गये थे।

कपड़े के दूसरे छोर से उसने कुछ और भी पुराने कागज निकाले—"जरा इन्हें भी देख लें हुजूर। कभी-कभी जी में आता है, शहर जाकर वकीलों को दिखा दूँ और नालिश कर दूँ। मगर मुकदमा कभी लड़ा नहीं, लड़ना बनता नहीं। तकाजा करता हूँ—आज दूँगा, कल दूँगा करते-करते बहुतेरे देते ही नहीं।"

देखा, सारे-के-सारे दस्तावेज बेकार हो गए थे। ये सब भी चार-पाँच हजार से कम के न होंगे। भले को सभी धोखा देते हैं। कहा—"साहूजी, यह महाजनी आपके बस की बात नहीं। महाजनी तो इधर रासबिहारीसिंह राजपूत-जैसा आदमी ही कर सकता है, जिसके आठ-आठ लठैत हैं, खुद घोड़े पर सवार होकर कर्जदारों के खेतों पर जाकर लठैतों को मुस्तैद कर आता है—जबर्दस्ती फसल पर कब्जा करके पूँजी और सूद अदा करके छोड़ता है। तुम जैसे भले को लोग बाकी रुपये नहीं दे सकते। आइन्दा किसी को देना ही नहीं।"

मगर धौताल को मैं समझा ही न सका। वह बोला—"सभी धोखा

नहीं दिया करते हुजूर। अभी भी चांद-सूरज उगता है, सिर पर दीन-दुनिया का मालिक अभी भी है। और रुपये को सूद पर लगाए बिना गुजारा नहीं हुजूर। यही हमारा पेशा है।"

सूद के लोभ से पूँजी से भी हाथ धो बैठना किस किस्म का रोजगार है, नहीं जानता। उसने मेरी ही आँखों के आगे उन पन्द्रह-सोलह हजार रुपयों के दस्तावेजों को टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दिया। इस तरह से फाड़ फेंका, गोया वे निहायत बेकार कागज हों—बेकार की कोटि में अब वे आ जरूर गए थे। न तो इसमें उसके हाथ सहमे, न आवाज काँपी।

बोला—"सरसों और रेंड़ी के बीए बेच कर ये रुपए मैंने जोड़े थे, वरना बाप-दादों की विरासत में तो फूटी पाई भी नहीं मिली थी। मैंने ही पैसे पैदा किए, मैं ही गँवा रहा हूँ। रोजगार में नफा-नुकसान तो होता ही है।

नफा-नुकसान तो बेशक होता है, मगर ऐसे कितने लोग मिलेंगे, जो चेहरे पर शिकन लाए बगैर इतने बड़े नुकसान को सह लें, मैं यही सोचने लगा। महज एक बात में मैंने उसकी अमीरी देखी। लाल कपड़े के एक बटुए से जब-तब वह एक सरौता और सुपारी निकालता और काटकर खा लेता। मेरी ओर हँसते हुए देखकर बोला—रोज एक छटाँक सुपारी मैं खा जाता हूँ हुजूर, सुपारी का बड़ा लम्बा खर्च है। धन से उदासीनता और बहुत बड़े नुकसान की परवाह न करना अगर दार्शनिकता है, तो धौताल साहू-जैसा दार्शनिक कम-से-कम मैंने तो नहीं देखा।

[तीन]

फुलकिया गाँव से होकर मैं जब भी गुजरता, जयपालकुमार के जनेरे के पत्तों से बने घर के सामने से भी गुजरता। जयपाल जाति का भूमिहार ब्राह्मण था।

एक बड़े और पुराने पाकर के पेड़ के नीचे उसका घर था। दुनिया में वह निपट अकेला था ; उमर वाला आदमी, दुबला बदन, माथे पर सफ़ेद

लम्बे बाल। जब भी मैं वहाँ से गुजरता, तब ही उसे अपने घर के दरवाजे पर बैठा पाता। तम्बाकू वह नहीं पीता था। उसे कभी कोई काम करते हुए भी देखा हो , ऐसा याद नहीं पड़ता। गीत भी गाते हुए नहीं सुना। कोई बिल्कुल निठल्ला-सा कैसे बैठा रह सकता है, नहीं कह सकता। उसे देखकर मुझे बड़ा ही अचरज और कुतूहल होता। हर बार वहाँ घोड़े को रोक कर उससे दो बातें किए बिना मैं आगे बढ़ ही नहीं सकता।

पूछा—"यों बैठे-बैठे तुम क्या करते हो ?"

—"बस, यों ही बैठा हूँ हुजूर।"

—"उम्र क्या होगी तुम्हारी ?"

—"उम्र का हिसाब तो रक्खा नहीं हुजूर। यों समझिए कि जिस साल कोसी पर पुल बना, मैं भैंस चराने लायक हुआ था।"

—"शादी की थी ? बाल-बच्चे हुए थे ?"

—"बीस-पच्चीस साल हुए, स्त्री चल बसी। दो बच्चियाँ थीं। वे भी गुजर गईं। उसको भी तेरह-चौदह साल हो गए। अब तो बस मैं ही हूँ।"

—"अच्छा यह तो कहो, ऐसे जो अकेले बैठे रहते हो, न कहीं जाते-आते हो, न किसी से बोलते-बतियाते हो, न ही कोई काम करते हो, यह सब तुम्हें अच्छा लगता है ? ऊब नहीं आती इससे तुम्हें ?"

वह अचरज से मुझे देखकर बोला—"अच्छा क्यों न लगेगा हूजूर ? मजे में रह लेता हूँ।"

उसकी बात मेरी समझ से परे थी। कलकत्ता के कालेज में पढ़कर बड़ा हुआ, या तो कोई काम-धंधा हो या दोस्त-अहबाबों के साथ गुलछर्रे, नहीं तो किताब, वह भी नहीं तो सिनेमा या सैर-सपाटे—इनके बिना आदमी रहता कैसे है, समझ नहीं सकता। दुनिया में कितना कुछ रद्दो-बदल हो गया इन बीस वर्षों में, अपने द्वार पर बैठने वाला जयपाल उसकी खबर भी क्या रखता है ? मैं जब स्कूल में पढ़ रहा था, जयपाल तब भी ऐसा ही बैठा रहता होगा और अब जब मैंने बी० ए० पास कर लिया, जय-

पाल उसी तरह बैठा रहता है! जो छोटी-बड़ी घटनाएँ अपने ही जीवन की अपने लिए खासे अचरज की चीज, थीं उन्हीं से मैं जयपाल के इस वैचित्र्यहीन जीवन के बीते दिनों की बात मिलाकर सोचा करता।

जयपाल का मकान था तो गाँव के बीच में; पर पास में काफी खाली जमीन थी, मकई के खेत थे; इसलिए घर से सटी हुई कोई आबादी नहीं थी। यह फुलकिया निहायत छोटी-सी बस्ती थी। गिने-चुने दस-एक घर होंगे। सभी भैंस चराकर गुजर चलाते थे। दिन-भर सब-के-सब करारी मिहनत करते। शाम को उड़द का भूसा जलाकर चारों ओर सब बैठ जाते—गप्प-सटाका करते, खैनी खाते या सखुए के पत्ते में तम्बाखू लपेट कर चुट्टी पीते। नारियल पीने का रिवाज इधर बहुत ही कम था; लेकिन जयपाल के साथ कभी किसी को बोलते-बतियाते मैंने नहीं देखा।

उस पुराने पाकड़ पर बहुतेरे बगुलों ने बसेरा बना रक्खा था। लगता, पेड़ पर सादे फूलों की बहार आई है। छाँह-भरी और निर्जन जगह थी वह, फिर वहाँ खड़े होकर जिधर भी आँखें जातीं, उसी तरफ दूर दिगंत तक नन्हे बच्चे-बच्चियों-जैसी एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर नील गिरिमाला मंडलाकार खड़ी दिखती। मैं पाकड़ की घनी छाया में खड़ा-खड़ा जब जयपाल से बातें करता, तब उस प्रकांड पेड़ के नीचे की निविड़ शांति और मकान मालिक की अनुद्विग्न, निस्पृह और धीर जीवन-यात्रा धीरे-धीरे एक विचित्र प्रभाव मुझ पर डालती। आखिर यों मारा-मारा फिरने में लाभ क्या है? कैसी मनोहर छाया है इस श्याम वंशी-वट की, कैसी मधुरी चाल है यमुना की, अतीत की सैकड़ों सदियों को पार करके, समय के बहाव में बह जाना कितना सुखकर है, कितना आरामदेह!

कुछ तो जयपाल की ऐसी जीवन-यात्रा का प्रभाव और कुछ आस-पास की उन्मुक्त प्रकृति मुझे भी धीरे-धीरे जयपालकुमार-जैसा ही निर्विकार और उदासीन बनाती जा रही थी। केवल इतना ही क्यों, मेरी जो आँखें खुली नहीं थीं, अब खुल गईं, जो मैंने कभी नहीं सोचा, बरबस वही सोचने को विवश किया। फलस्वरूप इस खुले मैदान और हरे-भरे जंगल

क्षो मैं इस हद तक प्यार कर बैठा कि यदि कभी काम से एक दिन को भी पूर्णिया या मुंगेर जाता, तो मन भाग-भाग करता रहता, हर्गिज जी नहीं लगता। लगता, कब उस जंगल को लौट जाऊँ, कब उस सुनसान में, उस अनोखी चाँदनी में, सूर्यास्त और दिगंत व्यापी काल वैशाखी के मेघों में, खचाखच तारों भरी निदाघ-निशीथ में अपने को डुबा दूँ!

पाँचवाँ परिच्छेद

[एक]

खूब रह-रह चाँदनी और वैसी ही हड्डी हिलाने वाली करारी सर्दी। पूस बीत चला था। नवटोलिया कचहरी के निरीक्षण के लिए गया हुआ था। खाते-पीते रात के ग्यारह बज जाते। एक रात खा-पीकर मैं रसोई से बाहर निकला। देखा, उतनी रात गए और वैसे हिमवर्षी आकाश के नीचे कोई औरत खिली चाँदनी में कचहरी के अहाते में खड़ी है। मैंने पटवारी से पूछा—"वहाँ वह कौन खड़ी है ?"

पटवारी ने कहा—"वह कुंता है हुजूर। कल मुझसे कह रही थी, मैनेजर बाबू आने वाले हैं। मैं उनका जूठन बटोर लाऊँगी। इन दिनों मेरे बच्चों को बड़ी तकलीफ है।"

मैंने कह दिया था—"अच्छा।"

मैं बातें ही कर रहा था कि नजर पड़ा, बलुआ टहलू ने मेरा सारा जूठन समेट कर उस औरत के एक ऊँची कोर के पीतल के बर्तन में ले जाकर उँड़ेल दिया। वह चली गई।

उस बार आठ-दस दिनों तक नवटोलिया कचहरी में रहा। रोज ही रात को वह औरत मेरी जूठन के लिए इतनी रात गए, उस कन-कन सर्दी में महज अँचरा ओढ़े आकर कुएँ के पास खड़ी रहती। एक दिन मैंने आखिर कौतूहलवश पटवारी से पूछा—"अच्छा, यह रोज भात जो ले जाती है, वह कुंता है कौन ? इस जंगल में वह कहाँ रहती है ? दिन में तो यह कभी भी नजर नहीं आती ?"

पटवारी बोला—"जी, बताता हूँ।"

शाम से कमरे में गन्गन् आग जलाई गई थी। उसी के पास कुर्सी पर बैठा देर से किश्तों की वसूली का लेखा देख रहा था। भोजन करके

लौटा तो सोचा, आज दिन-भर का काम बहुत हो चुका। कागज-पत्तर समेट कर रख दिए और पटवारी का किस्सा सुनने को तैयार हुआ।

—"तो सुनिए हुजूर। दसेक साल पहले इस इलाके में देवीसिंह राजपूत का बड़ा दबदबा था। उसके डर के मारे यहाँ के सारे गंगोते, सभी किसान और चरी वाले रैयत थरथर काँपते रहते थे। उसका रोजगार था काफी मोटे सूद पर रुपया उधार देना और फिर लाठी के जोर से सूद समेत रुपए वसूल करना। आठ-नौ तो उसके लठैत थे। आज-कल यहाँ का जैसा महाजन रासबिहारीसिंह है, तब देवीसिंह था।

देवीसिंह जौनपुर जिले से पूर्णियाँ में आकर बस गया था। उसके बाद कर्ज दे-देकर और अपने जोर-जुल्म से इधर के सभी डरपोक गंगोतों को उसने मुट्ठी में कर लिया। यहाँ बसने के कुछेक साल बाद एक बार वह काशी गया। वहाँ किसी तवायफ के कोठे पर गाना सुनने गया और उसकी चौदह-पन्द्रह साल की बेटी से उसे मुहब्बत हो गई। देवीसिंह उसे यहाँ भगा लाया। तब उसकी उमर सत्ताईस-अट्ठाईस वर्ष की होगी। देवीसिंह ने उससे ब्याह कर लिया। आखिर जब लोगों पर यह बात जाहिर हो गई कि वह किसी तवायफ की लड़की है, तब बिरादरी के लोगों ने देवीसिंह को बिरादरी से निकाल दिया। देवीसिंह के पास पैसे की कमी तो थी नहीं। उसने इसकी परवाह न की। उसके बाद ऐश-मौज में रुपए उड़ा कर और रासबिहारीसिंह से मुकदमेबाजी में वह कंगाल हो गया। चार साल हुए कि वह चल बसा। उसकी वही विधवा है यह कुंता। कभी वह भी समय था कि किमखाब की झालरवाली पालकी पर चढ़कर यह नवटोलिया से कोसी और कलबलिया नहाने जाया करती थी, बिकानी की मिसरी से पानी पीती थी—उसकी आज यह दुर्गत है! उस पर से मुसीबत यह कि सभी जानते हैं कि वह तवायफ की लड़की ह, सो क्या पति की अपनी बिरादरी राजपूतों में और क्या गंगोतों में, उसकी जात नहीं। गेहूँ की कटनी खत्म हो चुकने पर वह खेतों से गिरी-पड़ी बालियाँ चुन कर ले आती है। उसी से साल में दो महीने बच्चों को अधपेट खिलाकर रखती है; मगर

हुजूर, आज तक कभी किसी ने उसे कहीं हाथ फैलाते हुए नहीं देखा। आप जमींदार के मैनेजर हैं, राजा के बराबर हैं, आपके यहाँ प्रसाद लेने में वह अपनी हेठी नहीं समझती।"

मैंने पूछा—"और उसकी माँ, उस तवायफ ने फिर इसकी कभी खोज नहीं ली?"

पटवारी बोला—"मैंने कभी देखा तो नहीं हुजूर। कुंता ने भी कभी अपनी माँ की पूछ-ताछ नहीं की। ऐसी ही दुख-तकलीफ से वह बच्चों को पालती आ रही है। और आज आप कुंता को क्या देखते हैं हुजूर, कभी वह ऐसी खूबसूरत थी कि वैसी खूबसूरती इधर के इलाके में कभी किसी ने देखी भी नहीं होगी। अब तो उम्र भी ढल गई, जिस पर विधवा होने के बाद से दुःख झेलते-झेलते उस रूप का रह ही क्या गया! बड़ी नेक और शांत औरत है यह। मगर यहाँ कोई फूटी निगाहों भी उसे नहीं देखना चाहते, नाक-भौं सिकोड़ते हैं, नीचा देखते हैं, शायद इसीलिए कि वह एक तवायफ की लड़की है।"

मैंने कहा—"वह तो खैर है, मगर रात के बारह बजे वह घने जंगल की राह अकेले नवटोलिया कैसे जायगी—नवटोलिया तो कोई तीन पाव जमीन होगी यहाँ से?"

—"हाँ, मगर डरे तो काम कैसे चले बेचारी का? उसे तो हरवक्त इस जंगल में अकेली ही घूमना पड़ता है। न घूमे, तो है कौन जो चलाए?"

पूस का महीना था। उस किश्त की अदायगी का तकाजा करके मैं लौट आया। एक छोटे-से चरी महाल के इजारे के लिए माघ ही के बीचो-बीच मुझे फिर वहाँ जाने की जरूरत पड़ी।

सर्दी तब भी कम नहीं हुई थी। ऊपर से तमाम दिन पछुआ जो चलती, सो शाम के बाद दुगनी हो जाती। एक दिन घूमने निकला। महाल के उत्तरी हिस्से में बड़ी दूर तक निकल गया। उधर दूर-दूर तक केवल बेर का जंगल फैला था। इन जंगलों को बन्दोबस्त पर लेकर छपरा और मुजफ्फरपुर के कलवार-जातीय लोग लाह की खेती से काफी पैसा पैदा करते। बेर

के जंगल में मैं राह भूल-सा पड़ा था कि किसी औरत का आर्त्त-चीत्कार, बच्चों का रोना-धोना और मर्द की डाट-डपट, गाली-गलौज मेरे कानों में पड़ी। मैं जरा आगे बढ़ा, देखा, लाह के इजारेदारों के नौकर झोंटा पकड़े एक औरत को घसीटे ला रहे हैं। औरत मैला चीथरा पहने है, पीछे-पीछे दो-तीन छोटे-छोटे बच्चें रोते आ रहे हैं। जो दो छत्री नौकर थे, उनमें से एक के हाथ में आधी टोकरी पके बेर। मुझे देखकर उन नौकरों ने जो कहा, थोड़े में उसका मतलब यह हुआ कि "यह गंगोतिन हमारे जंगल में बेर तोड़ रही थी। हम इसे पकड़कर पटवारी के पास फैसले के लिए ले जा रहे हैं। अच्छा ही हुआ कि हुजूर मिल गए।"

मैंने डाट बताकर सब से पहले तो उनके चंगुल से उस औरत को छुड़ाया। डर और लज्जा से सिमट कर वह एक बेर की झाड़ी की आड़ में जा खड़ी हुई। बेचारी की दुर्गत देखकर मुझे बेहद तकलीफ हुई!

वे भला उसे सहज ही कैसे छोड़ देते? मैंने समझाया—"देखो, एक गरीबिन ने बच्चों को खिलाने के लिए ये खट्टे बेर थोड़े-से तोड़ ही लिये, तो तुम्हारी लाह की खेती में कौन-सा नुकसान हुआ? बेचारी को अपने घर जाने दो।"

उनमें से एक बोला—"आप इस औरत को जानते नहीं हैं हुजूर। नाम है इसका कुंता। नवटोलिया में रहती है। बेर चोरी करना इसका पेशा बन गया है। पिछले साल भी इसे रँगे हाथों पकड़ा था—इस बार इसे खासा सबक दिए बिना—"

मैं लगभग चौंक पड़ा। कुंता! पहचान तो नहीं सका मैं; शायद इसलिए कि दिन में मैंने उसे कभी देखा ही नहीं, जब भी देखा रात में। मैंने डरा-धमका कर उसे तुरन्त रिहाई दिलाई। वह लाज से गड़-सी गई। बाल-बच्चों को लेकर घर लौट गई। जाते समय बेर की टोकरी और लग्गी वहीं छोड़ गई। भय और संकोच से शायद। मैंने उन लोगों में से एक को कहा कि बेर की यह टोकरी और लग्गी कचहरी में पहुँचा दो। सुनकर वे बड़े खुश हो गए। सोचा, टोकरी और लग्गी जरूर ही जब्त कर ली जायगी।

कचहरी लौट आने के बाद मैंने पटवारी से कहा—"तुम्हारी तरफ के लोग इतने निर्दयी क्यों होते हैं बनवारीलाल ?" बनवारी बड़ा दुखी हुआ। आदमी वह अच्छा था। इधर के दूसरे लोगों से उसके हृदय में सचमुच ही दया-माया थी। उसने प्यादे की मार्फत टोकरी और लग्गी उसी वक्त कुंता के घर, नवटोलिया भिजवा दी।

उस रात कुंता लाज से भात लेने के लिए कचहरी भी नहीं आई

[दो]

जाड़ा बीत गया, वसन्त आया।

अपने इस महाल की पूरबी-दक्खिनी सरहद के सात-आठ कोस पर यानी सदर मुकाम से लगभग चौदह-पसन्द्रह कोस पर फागुन में होली के दिन हर साल बड़ा मशहूर मेला लगता था। मैंने इस बार वहाँ जाने का निश्चय किया था। एक तो अरसे से कहीं इतने लोगों का समागम देखना नसीब नहीं हुआ था, दूसरे इधर के मेले-ठेले कैसे होते हैं, इसे जानने का भी कौतूहल था ; मगर कचहरी के लोग बारम्बार मना करते रहे। रास्ता बड़ा बीहड़ है, शुरू से आखिर तक जंगल और पहाड़—तमाम जंगली भैंसें और बाघ का खतरा। छुटपुट बस्ती है जरूर, लेकिन इतनी-इतनी दूरी पर है कि कोई आफत आन पड़े, तो उनसे कोई मदद नहीं मिलने की।

जिन्दगी में कभी साहस का छोटा-सा काम करने का भी मौका हाथ नहीं आया। यहाँ रहते-रहते जो कर सकूँ, गनीमत। कलकत्ता लौट जाने पर फिर कहाँ यह जंगल और कहाँ जंगली भैंसे और बाघ ! मेरी आँखों में, भविष्यत् में मुझसे किस्सा सुनते हुए नाती-पोतों के चेहरे और उत्सुक तरुण आँखें झूल गईं। और मुनेस्वर महतो, पटवारी और मुहर्रिर बाबू लाख मना करते रहे, मैं मेले के दिन तड़के ही घोड़े पर सवार होकर निकल पड़ा। दो घंटे तो अपने ही महाल की हद पार करते करते लग गए, क्योंकि पूरब-दक्खिन सीमा पर ही जंगल ज्यादा घना था, रास्ता था ही नहीं

कहिए, घोड़े के सिवाय दूसरी किसी सवारी से चलना मुश्किल था। जहाँ तहाँ छोटी-बड़ी चट्टानें, सखुए का जंगल, झाऊ और कसाल का जंगल। ऊँची-नीची, ऊबड़-खावड़ राह, बीच-बीच में बालू के टीले, रंगीन मिट्टी की टेकड़ियाँ, छोटी पहाड़ी, पहाड़ी पर घने कँटीले पेड़ों का जंगल। मैं घोड़े को जब जैसा, कभी तेज, कभी धीमा हाँक रहा था। दुलकी चाल पर घोड़े को लिए चलने की गुंजाइश न थी। रास्ता बुरा, फिर जहाँ-तहाँ चट्टानों के बिखरे रहने से थोड़ी-थोड़ी दूर पर ही चाल टूट जाती। कभी गैलप, कभी दुलकी तो कभी पा-पा चल रहा था।

लेकिन मैं कचहरी से कूच करते ही मगन मन हो गया था। जब से इस नौकरी पर यहाँ आया था, तभी से यहाँ का यह धू-धू करता हुआ आंतर और जंगल धीरे-धीरे मुझे अपना गाँव-घर भुलाए दे रहा था। सभ्य दुनिया के सैकड़ों आराम के उपकरण और आदतें भुलाए दे रहा था। बन्धु-बांधवों तक को भुला देने पर तुला था। घोड़ा आहिस्ते या धीरे, जैसे चाहे जाय, जब तक पहाड़ की तलहटी में वसंतागम से खिले पलाश के रंगीन फूलों का मेला लगा है, पहाड़ के नीचे, ऊपर, मैदान में तमाम नन्हें पौधों की फूलों के भार से झुकी ये डालियाँ हैं, गलगली के पत्रविहीन दूध-धवल काँडों पर सूरजमुखी जैसे इन पीले-पीले फूलों ने दोपहर की धूप को अपनी मीठी महक से अलस कर दिया है, ऐसी हालत में इसका लेखा कौन रक्खे कि कितनी दूरी तै हुई?

मगर कुछ-न-कुछ हिसाब रखना भी जरूरी था, नहीं तो प्रतिपल दिशा और राह भूल जाने का खतरा था। अपने जंगल की हद पार करने के पहले ही यह बात मेरी समझ में आई। जरा देर मैं अन्यमनस्क रहा। अचानक सामने दूर पर एक बहुत ही बड़े जंगल का ऊपरी हिस्सा नील रेखा-जैसा क्षितिज के इस छोर से उस छोर तक फैला दिखाई दिया! आखिर इतना बड़ा जंगल वहाँ आया कहाँ से? कचहरी में तो किसी ने यह जिक्र तक भी नहीं किया था कि मैंचंडी के मेले के आस-पास कहीं इतना बड़ा कोई जंगल भी है? दूसरे ही क्षण मुझे खयाल आया, हो न हो, वह

मोहनपुरा रिजर्व फॉरेस्ट है, जो कि अपनी कचहरी के उत्तर-पूरब के कोने पर पड़ता है। असल में मैं भटक गया हूँ। इधर जानी-पहचानी पगडंडी शायद ही मिलती—लोग-बाग वहीं से ही आते-जाते हैं। जिधर देखिए, एक ही-सा दिखता है, एक ही-सी टेकड़ी, वैसे ही गलगली और धातुप फूलों का जंगल और उनके साथ काँपती रहने वाली ताप-तरंग। ऐसे में अनाड़ी व्यक्ति को भटक जाने में देर नहीं लगती।

फिर से घोड़े का मुँह फेर दिया। सँभल कर अपने लक्ष्य को ठीक किया और उधर की दिशा का एक चिह्न चुन कर मन में रक्खा। अपार सागर में जहाज को ठीक राह पर ले जाना, अनंत आकाश में हवाई जहाज के चालकों का काम और ऐसे दूर तक फैले किसी पथ-हीन जंगल में घोड़े पर चढ़कर ठिकाने पर पहुँचना, प्रायः एक ही-जैसे काम हैं। जिन्हें ऐसा साबका पड़ा है, उन्हें इसकी सचाई समझने में देर न लगेगी।

फिर शुरू हुआ धूप से जले नंगे पेड़-पौधों का समूह, फिर जंगली फूलों की मंद-मधुर खुशबू, फिर रक्तपलाश की वही शोभा। समय काफी हो गया था। लगा, कि कहीं पानी पीने को मिलता तो अच्छा था। कारो नदी के सिवाय इधर कहीं पानी नहीं मिलता, यह मुझे मालूम था ; मगर अभी तो अपने ही जंगल की सीमा पार नहीं हो सकी थी, कारो तो अभी बहुत दूर रही—यह सोचते ही प्यास अचानक और तेज हो आई।

मुकुन्दी चकलादार से मैंने कहा था कि अपने महाल की हद पर बबूल या महावीरी झंडे-जैसा कुछ, जो भी हो, सीमा की जानकारी के लिए गाड़ देना। इसके पहले सीमा पर कभी आने का मौका नहीं मिला। आज देखा, मेरे इस हुक्म की तामील नहीं हुई है। सोचा होगा, अरे, तुम भी क्या लेते हो, कलकत्ता के मैनेजर बाबू भला कभी इस सीमा पर आने के ! मुफ्त की बला कौन माथे ले। जैसा है, रहे।

अपनी हद से बाहर राह से कुछ हट कर एक जगह से धुआँ उठ रहा था। मैं वहाँ पर गया। कुछ लोग लकड़ियाँ जलाकर कोयला बना रहे थे। यही कोयला वे गाँवों में जा-जा कर बेचेंगे। इधर के ग़रीब-गुरबे लोग

अँगीठी में कोयला जलाकर उसी से ताप कर जाड़ा काटते हैं। पैसे का चार सेर कोयला बिकता था, वह भी खरीदने की जुर्रत बहुतों की न थी! मेरी समझ में यह भी न आया कि इस मशक्कत से कोयला बना कर पैसे के चार सेर के भाव से बेच कर इन कोयले वालों को ही कौन-सा मुनाफा होता होगा! मैंने शुरू से गौर किया है कि यहाँ पैसा और जगहों जितना सस्ता नहीं। कैंत और आँवले के जंगल में एक छोटा-सा झोंपड़ा था। कसाल और साबै घास की छौनी। मैं जब वहाँ पहुँचा, तब वे लोग उसी में खाने बैठे थे। मिट्टी की हँडिया में मकई को उबाल लिया था और सखुए के हरे पत्ते पर उसी को परोसा था। नमक के सिवाय दूसरा कोई उपकरण नहीं था। पास ही बड़े-बड़े गढ़ों में डाल-पत्ते जल रहे थे। एक छोकरा सखुए की डाल से आग पर पड़ी लकड़ियों को उलट-पलट रहा था।

मैंने पूछा—"उस गढ़े में क्या जल रहा है?" खाना छोड़ कर सब--के-सब उठ खड़े हुए। भयभीत नेत्रों से मेरी ओर देखते हुए वे सकपका कर बोले—"लकड़ी का कोयला है हुजूर।"

मुझे घोड़े पर सवार देख कर वे डर गए थे—शायद उन्होंने मुझे जंगल-विभाग का कर्मचारी समझ लिया था। इधर के सारे जंगल सरकार के खास महाल में पड़ते थे। इजाजत के बिना वहाँ लकड़ी काटना या कोयला जलाना गैर-कानूनी था।

मैंने उन्हें दिलासा दिया—"घबराओ मत, मैं कोई सरकारी मुलाजिम नहीं हूँ। जी चाहे जितना कोयला तुम बनाओ। मुझे थोड़ा-सा पानी चाहिए। मिलेगा क्या?" खाना छोड़ कर एक आदमी उठा। एक बड़े से कटोरे में झट से उसने पानी ला दिया। खूब साफ पानी। पूछने पर पता चला, पास ही कोई झरना है, उसी का यह पानी है।

झरना? मुझे बड़ा कौतूहल हुआ—"कहाँ है वह झरना? मुझे तो खबर ही नहीं थी कि इधर भी कोई झरना है!"

उन्होंने कहा—"झरना नहीं हुजूर, एक गढ़ा है। पत्थरों में से पानी

धीरे-धीरे जमता रहता है। घंटे भर में सेर आधेक पानी होता है। खूब साफ पानी; खूब ठंडा।"

मैं वह जगह देखने गया। कितनी सुन्दर और शीतल वन-वीथि! इस सूने जंगल में चट्टानों के नीचे शरत्-वसन्त में या गंभीर रात में चिड़ियाँ जल-केलि को उतरती होंगी शायद! जंगल वहाँ पर बड़ा ही घना। पियार और केंद की घनी डालों से घिरी एक गहराई, नीचे काले पत्थर की सतह; जैसे पत्थर की एक बहुत बड़ी वेदी घिसते-घिसते गहरी हो गई है। जैसे कुदरत का बनाया एक बहुत बड़ा पत्थर का कटोरा हो। पियार की फूली हुई डालें चारों ओर से उस पर झुक आई थीं, जिससे वहाँ बड़ी शीतल छाया थी। पियार और सखुए के फूलों की खुशबू छाया में भुरभुरा रही थी। गड्ढे में बूँद-बूँद पानी सिमट रहा था। अभी-अभी कोई वहाँ से पानी भर कर ले गया था, सो वहाँ आधी छटाँक भी पानी जमा नहीं हो पाया था।

उन लोगों ने कहा—"इस झरने का पता बहुतों को नहीं है हुजूर। हम आठों पहर जंगल की खाक छाना करते हैं, इसलिए हम जानते हैं।"

पाँचेक मील और जाने के बाद कारो नदी मिली। दोनों तरफ बालू के काफी ऊँचे कगारे, काफी खड़ी उतराई के बाद नदी का पाट। उसमें नाम को ही पानी था। दोनों तरफ दूर तक धू-धू करते बालू के किनारे। लगा, जैसे किसी पहाड़ से उतर रही हो। पार होते-होते एक जगह घोड़े के रिकाब तक पानी हो आया। पाँव समेट सम्हल कर पार हुआ। उस पार खिले रक्तपलाश का जंगल था। ऊँची-नीची रंगीन चट्टानें और जहाँ देखो पलाश-ही-पलाश। चारों तरफ लाल फूलों का अपार मेला। कुछ दूर पर धातुप फूल के जंगल से एक जंगली भैंसा निकलता हुआ दिखाई दिया। रास्ते में खड़े होकर वह खुर से मिट्टी खुरचने लगा। लगाम सम्भाल कर मैं भी ठहर गया। कहीं न आदमी, न आदमजाद—कहीं सींग सँभाल कर खेदना न शुरू कर दे? मगर भाग्य से वह रास्ते से उतर कर जंगल में गायब हो गया।

नदी से और कुछ दूर बढ़ जाने पर रास्ते का दृश्य कैसा हृदयहारी

हो आया ! वह भी तो समझिए कि चिलचिलाती दोपहरी थी, अपराह्न की न तो थी छाया, न थी रात की चाँदनी। निर्जन जलती हुई दोपहरी में बाईं तरफ खड़ी थी वन से ढँकी गिरिमाला, दाएँ लोहा-पत्थर और पायोराहट बिखरी ऊबड़-खाबड़ जमीन में केवल गलगली फूल के सफेद टहनियों वाले पेड़ और रंगीन धातुप फूल के जंगल। अद्भुत स्थान ; वैसा रूखा फिर भी सुन्दर, फूलों की भीड़ से भरा फिर भी उद्दाम और इतनी ज्यादा जंगली शोभा मैंने कभी देखी ही नहीं थी। ऊपर से दोपहर की खाँ-खाँ करती हुई धूप। माथे पर आसमान का नीला वितान। ऊपर कहीं कोई चिड़िया नहीं, एकदम सूना ; नीचे कोई आदमी या जीव-जन्तु नहीं, सन्नाटा, घोर सुनसान ! प्रकृति की इस एकान्त रूप-लीला को देखते हुए मैं खो गया—जानता ही न था कि भारतवर्ष में भी कहीं ऐसी जगह है ! यह तो मानो फिल्म में देखी हुई दक्खिन अमरीका की एरिजोना या नेवोजा मरुभूमि या हडसन की किताब में जिसका जिक्र आया है, उस गिला नदी के मुहाने का इलाका हो।

मेले में पहुँचते-पहुँचते एक बज गया। बड़ा भारी मेला था। बाईं ओर जो गिरिमाला राह में लगभग तीन कोस से मेरे साथ-साथ चली आ रही थी, उसी के एक बारगी दक्खिन एक गाँव के पास पहाड़ की तलहटी में साल-पलाश के जंगल में यह मेला लगा था। महिषावाड़ी, कड़ारी तिनटंगा, लछमितिया टोला, भीमदास टोला, महालिखारूप—इन दूर-पास के गाँवों के लोग, खासकर औरतें मेले में आई थीं। तरुणियों ने बालों में पियार या धातुप के फूल खोंस रक्खे थे, किसी-किसी के जूड़े में काठ की कंघी भी लगी थी। उनकी देह की बनावट बड़ी लावण्यमयी थी। मौज से वे नकली मोती, जापान या जर्मनी के सस्ते साबुन, सीटी, आईना, निहायत निकम्मे एसेंस खरीद रही थीं; मर्द पैसे की दस वाली सिगरेट खरीद रहे थे। बच्चे बच्चियाँ तिलकुट, रेवड़ी, रामदाने के लड्डू और पकौड़ियाँ खरीद कर खा रहे थे।

अचानक किसी औरत के रोने की आवाज से मैं चौंक पड़ा। एक टीले

पर कुछ युवक-युवतियाँ गप-सटाके और हँसी-खुशी में मशगूल थीं। उसी टोली में से रोने की आवाज उठी। आखिर माजरा क्या है? कोई एकाएक चल तो नहीं बसा? एक आदमी से मैंने पूछा। पता चला, वैसी कोई बात नहीं। असल में किसी बहू की अपने नैहर की किसी औरत से भेंट हो गई है। इधर का रिवाज ही शायद ऐसा है कि किसी औरत को बहुत दिनों पर कहीं कोई नैहर की स्त्री, कोई सखी या कोई रिश्ते की औरत मिल जाय, तो वह जार-बेज़ार रोने लगेगी। जो न जानता हो, ऐसा आदमी देखे, तो जरूर यही समझेगा कि उनका अपना कोई मर गया होगा; लेकिन हकीकत में यह उनके आदर-सत्कार का एक ढंग है। न रोए तो शिकायत हो। अगर कोई लड़की नैहर के किसी व्यक्ति को देख कर न रोए, तो मतलब यह हुआ कि ससुराल में वह खूब सुखी है—औरत के लिए यह एक बड़ी शर्मनाक बात है!

एक जगह एक दूकानदार टाट पर किताबें फैलाए बठा था—"गुलबकावली', 'लैला-मजनूं', 'बैताल पच्चीसी', 'प्रेमसागर' आदि-इत्यादि। एकाध बुजुर्ग किस्म के लोग उनके पन्ने पलट रहे थे। मैंने समझा, किताबों की दूकान पर खड़े पाठक का जो हाल अनातोले फ्रांस के पेरिस में है, कड़ारी तीनटंगा के होली के मेले में भी वही है। मुफ्त में खड़े-खड़े पढ़ने को मिल जाय, तो किताबों पर शायद ही कोई कुछ खर्चना चाहे; मगर दूकानदार भी बड़ा काइयाँ था। पढ़ने में मशगूल एक आदमी से उसने कहा—"किताब खरीदनी है तो खरीदो; नहीं तो और काम देखो।"

मेले से कुछ हटकर सखुओं की छाया में बहुतेरे लोग खाने-पकाने में लगे थे। ऐसों के लिए मेले में एक तरफ सब्जियों का बाजार लगा था। सखुए के हरे-हरे पत्तों के दोनों में सुंगठी और लाल चींटे के अंडे बिक रहे थे। लाल चींटे के अंडे इधर चाव से खाए जाते हैं। इसके अलावा कच्चे पपीते, सूखे बेर, केंद, अमरूद और जंगली सेम भी बिक रहे थे।

अचानक किसी की आवाज सुनाई पड़ी—"मैनेजर बाबू—"

मैंने इधर-उधर देखा। देखा, भीड़ चीरता हुआ नवटोलिया के पटवारी

का भाई ब्रह्मा महतो मेरी तरफ चला आ रहा है। उसने पूछा—"आप यहाँ कब आए हुजूर? साथ में कौन आया है?"

मैंने पूछा—"तुम क्या यहाँ मेला देखने आए हो?"

—"जी नहीं। मैं मेले का ठेकेदार हूँ। जरा मेरे तम्बू में अपने चरणों की धूल दें।"

ठेकेदार का तम्बू मेले के एक किनारे पर था। ब्रह्मा ने मुझे एक पुरानी बेंटउड् कुर्सी पर आदर से बिठाया। वहाँ मैंने जो एक आदमी को देखा, वैसा आदमी पृथ्वी पर दूसरा शायद ही देखने को मिले कभी। पता नहीं, वह था कौन। ब्रह्मा का ही कारिंदा होगा। उमर पचास-साठ की, खुला बदन, काला रंग, बाल सफेद-काले की खिचड़ी। हाथ में पैसों से भरी एक थैली, बगल में एक बही। शायद मेले की वसूली का हिसाब देने आया होगा।

उसकी नजर और चेहरे का बेहद दीन-विनम्र भाव देखकर मैं मुग्ध हो गया। उस निगाह में थोड़ा-बहुत भय का भाव भी मिला हुआ था। मगर क्यों? कोई राजा तो था नहीं ब्रह्मा महतो, मजिस्ट्रेट भी नहीं था, किसी का वारा-न्यारा कर सके, यह भी जर्रत न थी उसकी। खास महाल का एक बढ़ता हुआ रैयत था महज—बला से उसने मेले का ठेका ले रक्खा था, मगर वह आदमी उसके आगे इस बुरी तरह आखिर क्यों झुका था? फिर जब मैं तम्बू में पहुँचा और उसने ब्रह्मा को मेरी इतनी खातिर करते देखा, तो अदब और दीनता से डरते-डरते एकाध बार से ज्यादा मेरी ओर ताकने का उसे भरोसा न हुआ। मैं सोचने लगा, इसकी दृष्टि इतनी दीन-हीन क्यों है आख़िर? बेहद ग़रीब है क्या, निहायत बेचारा? उसके चेहरे पर ऐसा क्या था कि मैं बार-बार उसे देखने लगा—ब्लेसेड आर द मीक, फार दीयर्स इज दि किंगडम आफ हेवन। ऐसा बेचारा मुखड़ा मैंने सच ही कभी नहीं देखा।

ब्रह्मा से मालूम हुआ—"वह कड़ारी तिनटंगा का है, जहाँ ब्रह्मा महतो का घर है। जाति का गंगोता है, नाम है गिरधारीलाल। एक छोटे

लड़के के सिवाय संसार में उसका और कोई नहीं। जैसा कि मैंने सोचा था, हालत उसकी बड़ी गई-बीती है। बहरहाल ब्रह्मा ने उसे मेले से टैक्स वसूल करने के लिए चार आने रोज और भत्ते पर रख लिया है।"

इस गिरधारीलाल से मेरी बाद में भी मुलाकात हुई थी। आखिरी भेंट के समय की हालत बड़ी दर्दनाक रही, वह फिर बताऊँगा। जिन्दगी में मैंने बहुत किस्म के लोग देखे, मगर उसके जैसा सच्चा आदमी नहीं देखा। जानें कितने दिन गुजर गए, इस बीच कितने ही लोगों की याद जाती रही; किन्तु जिनकी स्मृति सदा हृदय में अंकित है, सदा रहेगी, ऐसे ही कुछ लोगों में गिरधारीलाल एक है।

[तीन]

शाम होती जा रही थी और अब लौट पड़ना निहायत जरूरी था। सो मैंने ब्रह्मा महतो से विदाई माँगी। सुनकर वह तो मानो आसमान पर से गिर पड़ा। तम्बू में और जो-जो लोग बैठे थे, सब-के-सब अचरज से मेरी ओर ताकते रह गए। तीस मील का रास्ता तै करना है—ऐसे समय चलना गैर मुमकिन है! दरअसल हुजूर ठहरे कलकत्ता के रहने वाले। इधर के रास्तों की हकीकत का पता नहीं, जभी ऐसा कह रहे हैं। दस मील जाते-न-जाते चक्का डूब जायगा। माना कि चाँदनी रात है, मगर जंगल पहाड़ का रास्ता, बाघ निकल सकता है, जंगली भैंसा मिल सकता है। आज-कल बेर पकने के दिन हैं, भालू के निकलने में तो शक ही नहीं। अभी उस दिन कारो नदी के उस पार महालिखारूप के जंगल से एक बेचारे गाड़ीवान को बाघ ले ही गया घसीट कर। अकेला था—"नहीं हुजूर, यह नहीं हो सकता। जब दया करके इस गरीब के यहाँ आ पहुँचे हैं, तो रात-भर यहीं ठहर जायँ। यहीं भोजन-छाजन करें। सुबह न होगा तो चल देंगे।"

वासंती पूर्णिमा की खिली चाँदनी में जंगल-पहाड़ों की राह से घोड़े

की पीठ पर अकेले चलने का लोभ मेरे लिए दुर्दमनीय हो उठा। ऐसा मौका जीवन में शायद ही फिर कभी मिले, यही शायद अन्तिम अवसर हो—फिर जैसे अपूर्व नज़ारे तमाम राह देखता आया था ! चाँदनी रात में—खासकर पूनों की चाँदनी में अगर उनकी छटा एक बार न देख सका, तो इतने कष्ट झेलकर आने का कोई मतलब भी हुआ भला ?

सबकी मिन्नतें टालकर आखिर मैं चल ही पड़ा। ठीक ही कहा था ब्रह्मा महतो ने, कारो नदी तक पहुँचने से पहले ही सिन्दूरी सूरज पच्छिमी क्षितिज में एक छोटी-सी पहाड़ी के पीछे डूब गया। कारो नदी के बलुआहे ऊँचे कगारे पर पहुँचा और ढाँलवे से घोड़े को उतारने को ही था कि सूर्यास्त का वह दृश्य और पूरब में एक काली लकीर-सा दीखता मोहनपुरा रिज़र्व फॉरेस्ट के माथे पर उगते हुए पूरे चाँद का दृश्य—एक साथ उदय और अस्त के ये दृश्य देखकर घोड़े की लगाम सँभाली और मैं तनिक ठिठक गया। उस सुनसान आजाने नदी किनारे, सब कुछ मानो अलौकिक-सा लगने लगा—

रास्ते-भर में पहाड़ों की उतराई और सपाट में जहाँ-तहाँ बिखरा-बिखरा जंगल, कहीं-कहीं पतली पगडंडी को मानों दोनों तरफ से दबोच देता हो, कहीं छोड़कर अलग हो जाता हो। चारों तरफ कैसा खौफनाक सूनापन ! दिन की रोशनी जब तक रही, तब तक फिर भी गनीमत थी, चाँदनी निकल आने के बाद लगने लगा कि मैं अजाने और अनोखे सौंदर्यों से भरे परी-देश से चला जा रहा हूँ। बाघ का डर हो आया। ब्रह्मा महतो और अपनी कचहरी के सबने रात को इस राह से जाने की मुमानियत की थी—यह भी याद आया। नन्दकिशोर गुसाई नाम के बथानवाले ने कोई दो-तीन महीने पहले कचहरी में महालिखारूप के जंगल में किसी के बाघ का शिकार हो जाने का जो किस्सा सुनाया था, वह भी याद आया। जहाँ-तहाँ पके बेरों के भार से डालें झुक आई थीं—नीचे बे हिसाब सूखे और पके बेर बिखरे पड़े थे। भालू के निकलने का खासा खतरा था। इस जंगल में भैंसे जरूर नहीं हैं ; पर मोहनपुरा के जंगल से एक-आध को निकलते

कितनी देर लगती है ! अभी भी पन्द्रह मील की ऐसी ही सूनी और भयावनी राह बाकी थी ।

डर की इस अनुभूति ने चारों ओर की सुन्दरता को मानों और बढ़ा दिया । कहीं-कहीं घुमावदार राह दक्खिन से सीधे उत्तर को चढ़ आई थी और उत्तर से सीधे पूरब को घूम गई थी । बाईं तरफ सटी चल रही थी लगातार पहाड़ियों की क़तार, जिसके नीचे गलगली और पलास के जंगल, चोटी की तरफ सखुओं के पेड़ और लम्बी घास । चाँदनी लावा जैसी फूटने लगी थी । पेड़ों की छाया छोटी-से-छोटी हो आई, जानें किस वन-फूल की महक से सारा प्रांतर गमगमा उठा था । बड़ी दूर पर पतई जलाने के लिए संथालों ने पहाड़ में आग लगा दी थी—एक अनोखा ही दृश्य लग रहा था, जैसे किसी ने पहाड़ों पर दीपों की माला सजा दी हो !

मगर अपनी आँखों देखने का मौका नहीं मिला होता, तो किसी के कहने का यकीन ही नहीं आता कि बंगाल के निहायत ही पड़ोस में ऐसा जन-हीन प्रांतर और गिरिमाला भी है, जो सौन्दर्य के लिहाज से अरिजोना के पथरीले मरुप्रदेश या रोडेशिया के बुशवेल्ड से किसी भी हालत में कम नहीं है—भयानकता के लिहाज से भी यह इलाका कम नहीं । साँझ होते ही लोग बाघ-भालू के डर से रास्ते पर पैर नहीं धरते !

खुली चाँदनी में जाते-जाते सोचने लगा—'यह जिन्दगी ही और है ! जो घरों की चहार दीवारी के अन्दर बँधे रहना पसन्द नहीं करते, घर-गिरस्ती करना जिनके लहू में ही नहीं, ऐसे अजीबो-गरीब स्वभाव के लोगों को यही जीवन तो चाहिए । शुरू-शुरू में जब यहाँ आया था, तब यहाँ का यह भयंकर सूनापन और जंगली जीवन-यात्रा मानो काटने दौड़ती थी, मगर अब लगता है, यहीं अच्छा है । इस बर्बर, रूखी वन्य प्रकृति ने मुझे अपने मुक्ति-मंत्र से दीक्षित कर लिया; शहर में अब पिंजरे में रहते भी बनेगा ? इस पथ-विहीन प्रांतर की चट्टानों और साल-पलाश के वनों में बेतहाशा घोड़ा दौड़ाए चलने के आनन्द को, मैं दुनिया की किसी भी दौलत से बदलने को तैयार नहीं । '

चाँदनी और भी निखर आई । खिली चाँदनी में तारे लगभग खो गए । चारों तरफ निगाह दौड़ाई, तो लगा, यह वह धरती ही नहीं, जिसे मैं आज तक जानता रहा हूँ । यह एक स्वप्नों की दुनिया है । इस दिगन्त तक फैले हुए चाँदनी के पारावार में बहुत रात बीते अपार्थिव जीवों का विहार चलता है—वे स्वप्न और कल्पना के, तपस्या के धन हैं । जिन्हें वन-फूलों से प्यार नहीं, जो सुन्दर को नहीं चीन्हते, जिन्हें क्षितिज की रेखा इशारे से कभी बुलाती नहीं, यह धरती कभी भी उनके हाथों पकड़ में नहीं आती, कभी नहीं ।

महालिखारूप का जंगल खत्म हुआ और कोई चार मील चल कर अपनी सीमा शुरू हुई । रात के करीब नौ बजे मैं कचहरी पहुँचा ।

[चार]

ढोलक की आवाज आई । झाँककर बाहर देखा । कचहरी के अहाते में जानें कहाँ से आकर कुछ लोग ढोलक बजा रहे थे । कचहरी के नौकर-प्यादे उनके चारों तरफ जा खड़े हो गए । माजरा क्या है, किसी को बुला कर पूछने की मैं सोच ही रहा था कि मुक्तिनाथसिंह जमादार ने आकर सलाम किया और बोला—

"हुजूर, जरा मिहरबानी करके बाहर चलेंगे ?"

—"क्यों, बात क्या है ?"

—"इस साल दक्खिन में अकाल पड़ा है हुजूर । धान की फसल हुई नहीं । गुजारा नहीं चलता, सो लोग पेट चलाने के लिए जहाँ-तहाँ नाच दिखाते फिर रहे हैं । एक दल हुजूर के सामने नाच दिखाने को यहाँ आया हुआ है । हुक्म हो, तो ये नाच दिखाएँ ।"

नाच वाले मेरे दफ्तर के सामने आ खड़े हुए । मुक्तिनाथसिंह ने उनसे पूछा कि वे कौन-सा, नाच दिखायेंगे । नाचवाली मंडली में से साठ-बासठ साल का एक बूढ़ा आगे निकल आया और सलाम करके विनीत भाव से बोला—"हो हो नाच और छोकड़ा नाच हुजूर ।"

दल को देखने से मुझे ऐसा लगा कि वे लोग नाच जानें चाहे न जानें, दो मुट्ठी भोजन पाने के आसरे, सब तरह के, सभी उमर के लोग उसमें शामिल हो गए हैं। बड़ी देर तक वे नाचते-गाते रहे। दिन ढले वे आए थे, और आसमान में चाँदनी बिखर पड़ी, तब तक घूम-घूमकर, एक दूसरे का हाथ पकड़ कर नाचते रहे, गाते रहे। अजीब तर्ज के गीत। मुक्त प्रकृति के इस विशाल विस्तार और इस सभ्य जगत् से दूर, बहुत दूर, जंगल की पृष्ठ-भूमि में इस दिगन्त परिप्लाविनी छाया-विहीन चाँदनी में इनके ही ये नाच-गीत उचित लगते हैं। एक गीत का आशय था—

"छुटपने में मजे में था।

अपने गाँव के पीछे जो पहाड़ है, उसकी चोटी पर केंद का जंगल है। उसी जंगल से पके फल बीना करता गूँथा और था करता था पियार के फूलों की माला।

दिन सुख से ही बीतते थे, तब इसकी खाक भी खबर न थी कि प्यार क्या बला होती है।

उस दिन पचलहरी झरने के किनारे भर्रे के शिकार में गया। मेरे हाथों में बाँस का नल था।

तुम कुसुमी रंग की साड़ी पहने पानी भरने को आई थीं। कहा था—'छि:, मर्द होकर यों चिड़ियों का शिकार?'

मैं शर्म से पानी-पानी हो गया था और शिकार के औजार फेंक दिए थे। वन की चिड़िया तो उड़ भागी; मगर मेरे मन की चिड़िया तुम्हारे प्रेम के फंदे में सदा-सदा के लिए फँस गई!

आखिर नलीं से चिड़िया मारने की मनाही करके तुमने यह क्या किया? यह जो कुछ हुआ, वह अच्छा हुआ क्या?"

उनकी भाषा कुछ तो समझ में आती, कुछ-कुछ नहीं आती। उनके गीत शायद इसीलिए मुझे और भी अनोखे लगे। पहाड़ और पियार के वनों के सुर में बँधे हुए उनके ये गीत यहीं अच्छे लगने के हैं।

महज चार आने पैसे थी उनके नाच की दक्षिणा। सभी अमलों ने

मुझ से कहा—"ये चार आने भी इन्हें सभी जगह नहीं नसीब होते हुजूर ! आप ज्यादा पैसे देकर उनका लोभ न बढ़ाएँ, बाजार बिगड़ जायगा । दर से ज्यादा मिहनताना देने से गरीब गिरस्थ अपने यहाँ नाच नहीं करा पाएँगे ।"

मैं तो दंग रह गया । कम-से-कम सत्रह-अठ्ठारह आदमी दो-तीन घंटे तक नाचते रहे थे । चार आने में फी आदमी एक पैसा भी तो नहीं पड़ेगा ! नाच दिखाने के लिए यह घना जंगल और इतना बड़ा प्रांतर पार करके बेचारे इतनी दूर आए हैं । तमाम दिन की यही तो मजूरी है ! पास पड़ोस में और कोई बस्ती भी नहीं कि कहीं रात का भी ठिकाना हो सके ।

रात को उनके रहने-खाने का इंतजाम मैंने कचहरी में ही कर दिया । सुबह दल के मुखिया के हाथों पर जब मैंने दो रुपए रख दिए, तो वह टुकुर-टुकुर मेरी तरफ ताकता रह गया—अवाक् ! नाच के बदले खाना कोई नहीं देता, फिर ऊपर से दो रुपए नकद !

नाच वालों के साथ बारह-तेरह साल का एक लड़का था । ठीक जैसे यात्रा-दल* का कृष्ण हो । घुँघराले केश, बड़ा ही शांत और सुन्दर चेहरा, बदन का रंग कसौटी की तरह काला । वही पहले गाना शुरू करता और जब पैरों में घुँघरू बाँधकर नाचता, तो होठों के कोनों पर हँसी थिरक कर जा छिपती । हाव-भाव बताते हुए, हाथ हिला-हिलाकर वह गाता—

"राजा, लीजिए सलाम मैं परदेशिया ।"

महज एक जून भर-पेट खाने के लिए यह सलोना लड़का उस मंडली के साथ लग गया था । पैसे का हिस्सा उसे नसीब नहीं होता था । और खाना भी क्या, माढ़ा और नमक ! बहुत हुआ, तो उसके साथ थोड़ी-सी तरकारी—आलू-परवल की नहीं, जंगली गुरमी की भुजिया या सिझाया हुआ बथुआ या नितुआ । इसी पर हँसी उसके होठों से सदा लगी है । खासी तंदुरुस्ती, अंग-अंग में लावण्य का निखार !

---

*बिना पर्दे के नाटक खेलनेवाली मंडली ।

मैंने दल के मुखिया से कहा—"सुनो, इस धतुरिया को यहाँ छोड़ जाओ। यहीं काम करेगा और खाएगा-पिएगा।"

दाढ़ीवाला वह बूढ़ा मुखिया एक अजीब आदमी था। बासठ की इस उमर में भी वह एक निरा बच्चा हो जैसे।

बोला—"वह यहाँ रह ही नहीं सकेगा हुजूर! गाँव के जाने-चीन्हें लोगों का संग-साथ है, इसीसे रह लेता है। अकेले कैसा तो करेगा जी उसका। बच्चा है, कैसे रहेगा? इसे आपके पास फिर ले आऊँगा हुजूर!"

छठा परिच्छेद

[एक]

जंगल के अलग-अलग हिस्सों की नाप-जोख चल रही थी। इसी नाप-जोख के सिलसिले में रामचन्दरसिंह अमीन कुछ दिनों से बोमाइबुरू जंगल में रह रहा था। उस रोज सबेरे यह खबर मिली कि दो-तीन दिन हुए, रामचन्दरसिंह अचानक पागल हो गया है।

सुनते ही मैं कई लोगों के साथ वहाँ गया। बोमाइबुरू खूब घना जंगल नही ; ऊँचे-नीचे खुले प्रांतर में बड़े-बड़े पेड़, पेड़ों से रस्सियों-जैसी झूलती लताएँ, मानो जहाज के ऊँचे मस्तूलों में रस्सियाँ बँधी हों। कहीं भी लोगों की बस्ती नहीं।

पेड़-पौधों की भीड़ से परे एक खुली जगह में कसाल की छौनी वाले दो झोंपड़े। एक कुछ बड़ा, जिसमें अमीन रामचन्दरसिंह रहता, उसी के पास दूसरे में रहता अशर्फी टंडेल। अपने झोंपड़े के अन्दर लकड़ी के मचान पर रामचन्दर आँखें बन्द किए सोया था। हम लोगों के जाते ही जल्दी-जल्दी उठ बैठा। मैंने पूछा—"क्यों, बात क्या है रामचन्दर ? कैसे हो ?"

रामचन्दर ने हाथ जोड़कर नमस्कार किया और चुप हो रहा।

उत्तर दिया अशर्फी टंडेल ने। बोला—"बात बड़े अचरज की है बाबू, सुनकर आप विश्वास नहीं करेंगे। मैं खुद कचहरी जाकर इसकी इत्तला देना चाह रहा था ; मगर इन्हें अकेला छोड़ कर जा ही कैसे सकता था ? घटना यों है कि कई दिनों से अमीन साहब रोज ही कहते हैं कि रात को कोई कुत्ता उन्हें आकर तंग करता है। अमीन साहब यहाँ सोते हैं, मैं वहाँ, उस झोंपड़े में सोता हूँ। दो-तीन दिन तो यों ही बीत गए। रोज ही वे कहते थे—रात को कहीं से एक कुत्ता आता है। मैं मचान पर सोया रहता हूँ, वह कुत्ता मचान के नीचे काँउँ-काँउँ करता रहता है। चाहता है कि

वह मेरे पास आ जाय।' मैं उनकी बातें सुनता और उड़ा देता। चार दिन पहले बहुत रात बीते उन्होंने अचानक आवाज दी—'अशर्फी दौड़ कर आओ, वह कुत्ता आया है। लाठी लेते आना—मैंने उसकी दुम को दबा रक्खा है।'

"मैं जग पड़ा। लाठी और लालटेन लिए दौड़ा। जाते-जाते जो देखा हुजूर, कहने से विश्वास न होगा; मगर हुजूर के सामने झूठ कहूँ, इस नाचीज में वैसी हिम्मत नहीं—उनके झोंपड़े से एक औरत निकल कर जंगल में चली गई। पहले तो मैं सकपका गया। बाद में अन्दर जाकर देखा, अमीन साहब बिस्तर टटोल कर दियासलाई ढूँढ़ रहे हैं। उन्होंने पूछा—'कुत्ते को देखा तुमने ?'

"मैंने कहा, 'कुत्ता कहाँ था बाबू, वह तो एक औरत थी।' वे बोले—'उल्लू कहीं का, मुझसे बेअदबी ? इस जंगल में आधी रात गए औरत कौन आ सकती है ?' कंबख्त कुत्ते की मैंने दुम दबा रक्खी थी, उसका लंबा कान मेरे बदन से लगा था। मचान के नीचे कीं-कीं कर रहा था। लगता है, तुमने भंग पी रक्खी है। शिकायत लिख भेजूँगा सदर में।'

"दूसरे दिन काफी रात तक मैं चौकन्ना रहा। किसी वक्त आँख लगी नहीं कि अमीन साहब ने पुकारा। मैं दौड़ता हुआ निकला। द्वार तक पहुँचा कि देखा, एक औरत उत्तरी घेरे से सटी-सटी जंगल की तरफ जा रही है। लगा, जैसे मैं भी जंगल में धँस पड़ा। इतनी ही देर में वह कहाँ छिप सकती थी और जंगल में ही वह कहाँ जाती ? हम नाप-जोख करने वाले लोग, जंगल के अत्ते-पत्ते की खबर रखते हैं। लाख ढूँढ़ा, कहीं पता नहीं। मुझे कैसा भ्रम हुआ। मैंने रोशनी पास ले जाकर जमीन को ध्यान से देखा। मेरे जूते के सिवाय उसके पाँवों का कहीं भी निशान न था।

"अमीन साहब से फिर मैंने इसका जिक्र ही नहीं किया उस दिन। इस भयानक जंगल में हम ही दो आदमी रहते हैं। मारे डर के मेरे रोंगटे खड़े हो गए। बोमाइबुरू जंगल की बदनामी भी है। मेरे दादा कहते थे—एक बार पूर्णियाँ से उड़द बेचकर वे घोड़े पर सवार होकर चाँदनी रात

में यहाँ से होकर घर लौट रहे थे। बोमाइबुरू पहाड़ पर, वहाँ वह जो बर-गद का पेड़ है न, उसी के नीचे उन्होंने कम उम्र की हसीन लड़कियों की एक टोली को नाचते देखा था। इधर उन्हें लोग 'डामाबानू' कहते हैं—एक किस्म की जिन्न कहिए। सूने जंगल में रहती हैं ये। इनका दाव चले, तो आदमी की जान ही ले लें।

"दूसरे दिन तमाम रात मैं अमीन साहब के ही झोंपड़े में रहा—जगकर नाप-जोख का हिसाब देखता रहा। धीरे-धीरे रात की आखिरी घड़ियों में आँख लग गई। अचानक अपने बहुत ही पास कुछ आहट पाकर मैं जग पड़ा और देखने लगा। अमीन साहब अपने बिस्तर पर सो रहे थे और उनके मचान के नीचे कोई घुस रहा था! मैंने झुककर नीचे जो देखा, तो चौंक उठा। अँधेरे के झिल-मिल प्रकाश में पहले तो लगा कि एक औरत नीचे सिमट कर बैठी मेरी तरफ हँसती हुई ताक रही है—आपके पैरों पर हाथ रखकर कह सकता हूँ हुजूर, यह मैंने अपनी आँखों, बिल्कुल साफ देखा था। उसके बालों की लटें तक मैंने देखीं। लालटेन छै-सातेक हाथ दूर पर रक्खी थी, जहाँ बैठकर मैं हिसाब देख रहा था। और साफ देख सकूँ, इसके लिए मैं ज्यों ही लालटेन लाने को गया कि कोई एक जीव अन्दर से निकल कर भागने लगा। लालटेन की आड़ी रोशनी दरवाज़े पर पड़ रही थी। उस प्रकाश में मैंने देखा, एक कुत्ता है, मगर पूँछ से सिर तक एकदम सफेद—कहीं काला धब्बा तक नहीं।

"अमीन साहब जगकर चीख उठे—'क्या है?' मैंने कहा—'कुछ नहीं' कोई स्यार या कुत्ता होगा। अन्दर घुस रहा था।' अमीन साहब बोले—'कुत्ता? कैसा कुत्ता?' मैंने कहा—'सफेद था।' एक निराश भरे-से स्वर में अमीन साहब बोले—'तुमने ठीक देखा, सफेद था? कि काला?' मैंने कहा—'सफेद ही था हुजूर।"

"मुझे कुछ अचरज-सा लगा। समझ नहीं सका कि कुत्ता सफेद के बजाय काला ही होता, तो अमीन साहब को कौन-सी शान्ति मिलती। वे सो गए, मगर मुझे इतना डर लग रहा था कि कोशिश करके भी आँखें न

लग सकीं। खूब तड़के जगा। जानें क्या सोच कर मैंने सावधानी से मचान के नीचे की तलाशी ली। नीचे मुझे बालों की एक लट मिली——वह लट मैंने रक्खी है, यह देखिए हुजूर। बाल औरत के ही सिर के थे। आखिर कहाँ से आए थे वाल ? घने काले और खासे मुलायम। कुत्ते के, खासकर सफेद कुत्ते के इतने लम्बे और काले बाल तो नहीं हो सकते ! यह पिछले इतवार यानी तीन दिन पहले की बात है। तब से अमीन साहब तो पागल ही हो गए हैं, मुझे डर हो रहा है, कहीं अब अपनी ही बारी न हो।"

चंडूखाने की गप्प जैसी ही लगी। बालों की लट को मैंने अपने हाथ में लेकर देखा, कुछ समझ नहीं सका। इसमें तो कोई शक ही नहीं कि बाल औरत के ही थे। और सबने यह भी बताया कि अशर्फी टंडेल कम-से-कम नशेबाज तो नहीं है।

अमीन का झोंपड़ा ऐसे प्रांतर और जंगल में था कि वहाँ आदमी का नाम-निशान भी नहीं था। सबसे नजदीक पड़नेवाली बस्ती नवटोलिया भी वहाँ से छै मील दूर थी। इतनी रात में वहाँ कोई औरत आ कहाँ से सकती है, जबकि बाघ और बनैले सूअर के डर से साँझ होते ही कोई बाहर कदम तक नहीं रखता।

अगर अशर्फी टंडेल की बात को सही मान लें, तो यह मामला बड़ा रहस्यमय है ! या यह मानना होगा कि इस पाँडव-वर्जित प्रदेश में बीसवीं सदी को तो घुसने की राह नहीं ही मिली, उन्नीसवीं सदी को भी नहीं मिली।

मैंने वहाँ का पड़ाव उठवा दिया। अमीन और अशर्फी टंडेल को सदर कचहरी ले आया। रामचन्दर की हालत दिन-दिन बिगड़ती ही गई——धीरे-धीरे वह घोर पागल हो गया। तमाम रात चीखता-चिल्लाता, बक-झक करता, गीत गाता। मैंने डाक्टर बुलवाकर दिखाया। कोई नतीजा न निकला। आखिर उसका एक भाई आकर उसे घर लिवा ले गया।

इस घटना के छै मास बाद चैत महीने में एक दिन दो आदमी मुझसे मिलने आए। एक बूढ़ा था——साठ-पैंसठ से कम उम्र नहीं होगी उसकी।

दूसरा उसका बेटा था---बीस-बाईस का। बलिया के थे वे। चरी के जंगल की कोशिश में आए थे कि कोई इलाका मिल जाय, तो यहाँ अपनी गाय-भैंस लेकर रहें।

चरी के जंगल सब-के-सब दिए जा चुके थे---एक बोमाइ-बुरू का जंगल ही बाकी बचा था। मैंने उसीको उनको सौंप दिया। बूढ़ा बेटे के साथ एक रोज जंगल को देख भी आया। बेहद खुश हुआ। बोला---"काफी लंबी घास है हुजूर---खासा जंगल है। हुजूर की मिहरबानी न होती, तो ऐसा जंगल मिलना मुश्किल था।"

रामचंदर अमीनवाली बात मुझे याद न थी। होती भी तो बूढ़े से मैं नहीं कहता ; क्योंकि सुनकर अगर वह भाग जाता, तो जमींदार का नुकसान होता। उस घटना के बाद से आस-पास के लोगों में से कोई भी उस जंगल के प्रबन्ध के लिए आता ही न था।

महीना भर बाद वैशाख के आरंभ की बात है---एक दिन वह बूढ़ा कचहरी आया। बड़ा ही क्षुब्ध । उसके पीछे सिकुड़ा-सिमटा-सा खड़ा उसका वही लड़का।

मैंने पूछा---"माजरा क्या है ?"

गुस्से से काँपते हुए बूढ़े ने कहा---"इस शोहदे छोकरे को शासन के लिए हुजूर के पास ले आया हूँ। गिनकर इसे पचीस जूते लगाएँ, कि इसके होश ठिकाने आ जायँ ?"

---"क्यों, हुआ क्या है ?"

---"हुजूर से कहते शरम लगती है। यहाँ आकर यह दिन-दिन बिगड़ता जा रहा है। कोई सात-आठ दिन से लगातार मैंने गौर किया है, कहते लाज लगती है हुजूर, बराबर घर में से एक औरत निकलती है। एक ही तो झोंपड़ी है---आठ एक हाथ की होगी। हम दोनों ही उसी में सोते हैं। मेरी आँखों में धूल झोंकना इतना आसान नहीं। लगातार दो दिन जब यही रवैया देखा, तो मैंने उससे पूछा। वह तो जैसे आसमान पर से गिर पड़ा। कहा---'मुझे तो कोई खबर नहीं!' उसके बाद भी दो

दिन देखा—वही हाल। फिर मैंने इसकी खूब खबर ली। मेरी आँखों के सामने इस कदर बिगड़ जायगा? लेकिन परसों जब फिर से देखा, तो हुजूर के पास ले आया, जरा इसे सजा दें आप।"

मुझे अचानक रामचंदर अमीनवाली बात याद आ गई। पूछा—"कितनी रात बीतने पर तुमने देखा?"

—"रात के आखिरी पहर में ही ज्यादातर, यही दो-एक घड़ी रात रहते।"

—"तुमने ठीक ही देखा है, औरत थी?"

—"मेरी आँखों की जोत अभी उतनी मंद नहीं पड़ी है हुजूर। बेशक औरत थी। उम्र भी ज्यादा नहीं। पहनावे में कभी सुफैद साड़ी, कभी लाल तो कभी काली। एक दिन मैंने उसका पीछा भी किया था। कसाल के जंगल में वह कहाँ जो गायब हो गई, पता न चला। लौटकर देखा, यह लड़का जैसे सोने का बहाना बनाए पड़ा है। आवाज देते ही चौंककर उठ बैठा मानो नींद से जगा हो। मैंने समझा, इस मर्ज की दवा यहाँ के सिवाय और कहीं नहीं होगी, इसीलिए हुजूर के पास—"

मैं उस लड़के को अलग ले गया। पूछा—"तुम्हारे बारे में यह सब क्या सुन रहा हूँ?"

उसने मेरे पाँव पकड़ लिए—"मेरी बातों पर यकीन करें हुजूर! मुझे खाक भी खबर नहीं इसकी। तमाम दिन भैंसों के पीछे जंगल की खाक छानता हूँ—रात में सोता हूँ तो मुर्दे की तरह। सुबह होने पर ही आँख खुलती है। घर को चाहे आग ही क्यों न लग जाय, मुझे होश नहीं रहता।"

मैंने कहा—"तुमने घर में कभी किसी को घुमते नहीं देखा?"

—"जी नहीं। सो जाने पर बहदवास हो जाता हूँ मैं तो।"

आगे और कोई बात नहीं हुई। बूढ़ा खुश हो गया। उसने समझा ओट में ले जाकर मैंने लड़के को डाट-फटकार दिया है। इसके कोई पंद्रह दिन बाद वह लड़का मेरे पास आया। उसने कहा—"एक बात आपसे पूछने आया हूँ हुजूर। पिछली बार जब मैं बाबूजी के साथ यहाँ आया था,

तो आपने मुझसे यह क्यों पूछा था कि तुमने घर में कभी कुछ घुसते देखा है या नहीं ?"

"आखिर क्यों पूछना चाहते हो ?"

—"आजकल मेरी नींद बड़ी पतली हो गई है हुजूर—चाहे बाबूजी के बिगड़ते रहने से भय के कारण या और किसी वजह से हो। सो आज-कल मैं रोज ही देखता हूँ कि किहीं से एक सादा कुत्ता आ जाता है। काफी रात होने पर आता है। किसी-किसी दिन आँख खुलते ही उस पर नजर पड़ जाती है। लगता है, यहीं कहीं था। धत्-धुत् करते ही भाग जाता है। कभी मेरी आँख खुलते ही चल देता है। जानें कैसे तो जान जाता है कि मैं जग पड़ा हूँ। ऐसा तो खैर कई दिनों तक होता रहा। कल एक अजीब-सी बात हो गई। बाबूजी तक को इसकी खबर नहीं है, मैं आपसे चुपचाप कहने चला आया हूँ। कल बहुत रात हुए जब आँख खुली, तो देखा, कुत्ता वहाँ है। कब घुस आया था, पता नहीं। धीरे-धीरे वह निकल रहा था। उधर जो कसाल का घेरा है, उसमें खिड़की जैसा फाँक बना है। उसमें से कुत्ता निकला और पलक मारने में जो देर लगती है, उतने ही में मैंने देखा, एक औरत खिड़की के बगल से जंगल की तरफ चली जा रही है। मैं लपककर बाहर निकला, मगर कहीं कुछ नहीं दिखाई दिया। बाबूजी से मैंने कुछ नहीं बताया। बूढ़े आदमी, सो रहे थे वे। मैं तो कुछ समझ नहीं पाता। हुजूर कि माजरा क्या है।"

मैंने भरोसा दिया—"वह आँखों का भ्रम है"—मैंने कहा—"अगर वहाँ अकेले रहते हुए डर लगता हो, तो रात को यहीं आकर सोया करो।" अपनी कायरता के खयाल से वह शर्मिन्दा हो गया और चला गया ; लेकिन मेरे जी की बेचैनी न गई। निश्चय किया कि अब यदि वैसा कुछ सुनूँ, तो दो प्यादों को वहाँ सोने के लिए भेज दिया करूँगा।

तब भी मैं यह नहीं समझ सका कि बात कैसी संगीन है। और अत्यंत ही अचानक अप्रत्याशित भाव से दुर्घटना हो गई, इसके तीन दिन बाद।

सबेरे नींद से जगा ही था कि समाचार मिला—'बोमाइबुरू के बूढ़े

इजारादार का लड़का मारा गया।' घोड़े से हम उसी वक्त चल पड़े। वहाँ पहुँचकर देखा कि उनके झोंपड़े के पीछे कसाल और झाऊ के जंगल में नौ-जवान की लाश अभी भी पड़ी है। चेहरे पर भीषण भय और आतंक की निशानी——मानो कोई विभीषिका देखकर दम घुटकर मर गया है। बूढ़े ने बताया——" रात की आखिरी घड़ियों में वह अपने बिछावन पर नहीं था। मैंने लालटेन लेकर उसकी खोज शुरू की ; मगर सुबह से पहले तक उसकी लाश देखने को न मिली। लगता है, बिछावन से उठकर उसने किसी चीज का पीछा किया था——क्योंकि लाश के पास ही लाठी और लालटेन पड़ी थी। किसका पीछा किया था, यह कह सकना कठिन है। बालू पर सिर्फ उसी के पाँव के निशान मिले और किसी के नहीं, न आदमी के, न जानवर के। लाश पर भी चोट का कहीं दाग न था। " इस घटना के रहस्य की कोई मीमांसा न हो सकी। पुलिसवाले आए। उनसे भी कुछ करते न बना——लौट गए। इससे लोगों में एक ऐसा डर घर कर गया कि साँझ से बहुत पहले भी उधर कोई नहीं जाता था। कई दिनों तक तो ऐसा हो गया कि कचहरी में अकेले सोए-सोए बाहर की धप् धप् धुली चाँदनी रात की उदासी और निर्जनता को देखकर एक अजाने आतंक से प्राण काँप उठते। लगता, अब कलकत्ता भाग चलूँ, यह जगह अच्छी नहीं, यहाँ की चाँदनी रात रूप-कथा की राक्षसी रानी जैसी है, कभी भुला-फुसला कर मार डालेगी। यह मनुष्य की वास-भूमि तो नहीं ही है, है किसी और ही लोक के रहस्यमय, अशरीरी जीवों का राज्य। वही यहाँ युगों से बसते आ रहे हैं। आज यहाँ मनुष्यों का यह जो अनधिकार प्रवेश हो गया है, वह उन्हें नहीं सुहाता ! मौका मिलने पर वे इसका बदला चुकाए बिना बाज नहीं आएंगे।

[दो]

राजू पाँड़े से जब अपनी पहली बार भेंट हुई थी, उस दिन की मुझे आज भी खूब याद है। मैं कचहरी में बैठा हुआ काम कर रहा था। एक गोरा-गोरा-सा सुंदर ब्राह्मण मेरे सामने नमस्कार करके आ खड़ा हुआ।

उम्र उसकी कोई पचपन-छप्पन की होगी ; पर उसे बूढ़ा बताना गलत होगा, क्योंकि उसके जैसा गठीला बदन बंगाल के बहुतेरे युवकों का भी नहीं। ललाट पर तिलक, बदन पर एक सफेद चादर और हाथ में एक छोटी-सी पोटली।

मेरे पूछने पर उसने बताया कि वह बड़ी दूर से आया है। यहाँ थोड़ी-सी जमीन-लेकर खेती करने का इरादा रखता है। बड़ा ही गरीब है। सलामी देने की जुर्रत नहीं। उसने पूछा कि अधबटैया पर थोड़ी-सी जमीन मिल सकेगी या नहीं ?

कुछ इस किस्म के आदमी होते हैं, जो अपने बारे में ज्यादा कुछ कहना नहीं जानते ; पर उनकी शक्ल देखने से ही मालूम पड़ जाता है कि ये सचमुच ही बड़े दुखी हैं। राजू पाँड़े की सूरत देखकर ही मुझे लगा, थोड़ी-सी जमीन के लोभ से यह धरमपुर परगने से इतनी दूर आया है। जमीन न मिलने पर लाचार लौट तो जायगा, मगर सारी उम्मीदों पर पानी फिर जायगा, दिल टूट जायगा बेचारे का।

नवटोलिया के उत्तर जंगल में मैंने राजू को दो बीघे जमीन दी—बिना सलामी लिए ही कहिए। कह दिया—"खेत बनाकर जोतो-बोओ। शुरू के दो साल तुम्हें कुछ भी नहीं देना पड़ेगा। तीसरे साल से चार आना बीघा मालगुजारी देनी पड़ेगी।" तब भी यह कल्पना नहीं कर सका कि कैसे एक विचित्र आदमी को मैंने जमींदारी में बसाया !

वह भादों या कुआर के महीने में आया, जमीन बंदोबस्त लेकर लौट भी गया। झमेलों में उसकी बात मैं कतई भूल गया। दूसरे साल सर्दियों के आखीर में एक दिन नवटोलिया कचहरी से लौट रहा था कि अचानक नजर पड़ा। पेड़ तले बैठकर कोई किताब पढ़ रहा है। मुझे देखकर झट से उसने किताब बंद कर दी और खड़ा हो गया। वह राजू पाँड़े था, मैं पहचान गया। सोचा, बात क्या है कि पिछले साल जमीन बंदोबस्त लेने के बाद से यह भूलकर भी कभी फिर कचहरी की तरफ झाँकने न आया ? मैंने कहा—"क्यों पाँडेजी, आप यहीं हैं ? मैं तो सोच रहा था, जगह-जमीन

छोड़-छाड़ कर आप चल दिए! खेती की है कि नहीं?" देखा, राजू के चेहरे पर हवाइयाँ उड़नें लगीं। रुक-अटककर कहने लगा—"जी, खेती तो. . . जी, इस बार. . . "

मुझे क्रोध-सा हो आया। ऐसे लोग जबान के बड़े मीठे होते हैं, भुला-फुसलाकर अपना उल्लू सीधा कर लेने में कुशल। मैंने कहा—"डेढ़ साल गुजर गया, कभी आपकी चोटी के भी दर्शन नहीं हुए। जमींदार को अँगूठा दिखाकर मजे में सारी फसल हजम किए लेते हैं। शायद भूल गए कि उपज का हिस्सा देना है?"

अचरज से राजू बड़ी-बड़ी आँखों से मुझे ताकता हुआ बोला—"फसल हुजूर? मैं सोच भी नहीं सका कि उसका हिस्सा कैसे दूँ—चीना दाना. . . ."

मुझे यकीन न आया। कहा—"पिछले छै महीने से आप चीनादाना खाकर ही गुजारा कर रहे हैं? और कुछ नहीं उपजाया है? मकई?"

—"नहीं हुजूर, बड़ा जंगल है। अकेला आदमी, कितना काटूँ आखिर! बड़ी-बड़ी मुश्किल से पंद्रह कट्ठा तैयार किया है। आइए न हुजूर, एक बार चरणों की धूल दें।"

मैं उसके पीछे हो लिया। कहीं-कहीं जंगल इतना घना था कि घोड़े को भी चलने में तकलीफ हो रही थी। थोड़ी दूर पर बीघा-भर साफ-सुथरी जगह, उसी के बीच में घास की दो छोटी और नीची झोंपड़ी। एक में वह आप रहता, दूसरी में फसल। न थैला, न बोरा। जमीन पर ही चीना-दाना का ढेर लगा था। मैंने कहा—"आप इतने आलसी हैं पाँडेजी, मुझे मालूम न था। दो साल में आप दो बीघा जंगल भी नहीं काट सके?" सकपकाते हुए राजू ने कहा—"समय ही बहुत कम मिलता है हुजूर!"

—"क्यों, आखिर तमाम दिन करते क्या हैं आप?"

शर्माकर राजू चुप हो रहा। उसकी झोंपड़ी में ज्यादा चीजें नहीं थीं। लोटे के सिवाय दूसरा कोई बर्तन भी न था। लोटा कुछ बड़ा था, उसी में उसकी रसोई बनती थी। रसोई में भात कहाँ, चीना-दाना उबाल लेता।

हरे सखुए के पत्ते पर उँड़ेल कर खाता, बर्तन की फिर जरूरत भी क्या थी! पानी का कुंड पास ही था। और क्या चाहिए उसे।

झोंपड़ी के पास ही एक तरफ सिंदूर लगी राधाकृष्ण की काले पत्थर की मूर्ति थी। समझा, राजू भक्त आदमी है। पत्थर की वेदी को फूलों से सजा रक्खा था, पास ही दो-चार पोथियाँ और किताबें धरी थीं। समय कम मिलता है, यानी तमाम दिन शायद वह भजन-पूजन में ही लगा रहता होगा। खेती कब करे?

राजू को आज ही मैंने पहली बार समझा।

हिंदी राजू पाँडे अच्छी तरह जानता था, थोड़ी-बहुत संस्कृत भी। सो भी सब समय पढ़ता नहीं, समय मिलने पर कभी-कभी हिंदी की कोई किताब लेकर बैठता जरा देर——ज्यादातर वह ऊपर आसमान और पहाड़ की तरफ चुपचाप ताकता रहता। एक दिन देखा——छोटी-सी बही लेकर सरपत की कलम से वह न जाने क्या लिख रहा है। अच्छा, पाँडेजी कविता भी लिखते हैं क्या? मगर ऐसे लजीले और दुबके-से आदमी कि उनसे कोई बात निकाल लेना बड़ा कठिन काम था। अपने बारे में कुछ भी कहना गवारा नहीं। एक दिन मैंने पूछा——"आपके और कौन-कौन हैं पाँडेजी?"

——"सभी हैं हुजूर। तीन लड़के, दो लड़कियाँ, विधवा बहन।"

——"उनका गुजारा कैसे चलता है?"

आसमान की ओर हाथ उठाकर वह बोला——"सब भगवान् चलाते हैं। उनके मुँह में दो दाने दे सकूँ, इसीलिए तो हुजूर की शरण में आया हूँ। जमीन तैयार कर लूँ——"

——"तैयार भी कर लें, तो दो बीघे से उतने बड़े परिवार का भरण-पोषण हो सकेगा? और उसमें भी तो आप जी-जान से जुटते नहीं?"

पहले तो राजू ने इसका जवाब ही न दिया, फिर बोला——"जिंदगी के दिन ही बड़े थोड़े हैं हुजूर। जंगल काटते-काटते जानें कितनी बातें जी में आती हैं, बैठकर सोचने लगता हूँ। यह जो वन-जंगल है, बहुत ही अच्छी

जगह है यह। जाने कब से तरह-तरह के फूल खिलते हैं, चिड़ियाँ चहकती हैं। यहाँ हवा के साथ-साथ स्वर्ग के देवता मिट्टी पर कदम रखते हैं। जहाँ कौड़ी का लोभ है, जहाँ लेन-देन का लेखा-जोखा चलता है, वहाँ की हवा जहरीली हो उठती है। वैसी जगह देवता नहीं रहते ; इसलिए जब-जब मैं यहाँ कुल्हाड़ी उठाता हूँ, देवता उसे हाथ से छीन लेते हैं। कानों में चुपचाप ऐसी-ऐसी बातें कहते हैं, जिससे धन-जायदाद से मन हटकर बहुत दूर चला जाता है।"

मैंने समझा—राजू कवि तो है ही, दार्शनिक भी है।

मैं बोला—"लेकिन पाँडेजी, देवता यह तो नहीं कहते कि घर खर्च मत भेजा करो, सारे घरवाले फाके किया करें। ये बेकार की बातें हैं। आप जी से काम कीजिए, नहीं तो मैं जमीन छीन लूँगा!"

कुछ महीने यों ही बीत गए। बीच-बीच में राजू के पास भी जाता रहा। बड़ा ही भला लगता था वह मुझे! नवटोलिया बैहार के उस निर्जन और घने जंगल में एक फूस की झोंपड़ी में वह कैसे दिन काटता था। समझ नहीं पाता।

सचमुच ही वह सात्त्विक प्रकृति का आदमी था। चीना के सिवाय और कुछ वह नहीं उपजा सकता। सात-आठ महीने का अरसा उसी पर काटता रहा। कभी किसी से भेंट-मुलाकात नहीं ; दो बातें करे, ऐसा कोई आदमी नहीं। फिर भी उसे कोई असुविधा नहीं थी। मजे में रह रहा था। जब कभी भी दोपहर के समय मैं उधर से गुजरता, उसे खेत पर काम करते पाता। साँझ को प्रायः उसे उस बहेड़े के पेड़ के नीचे चुपचाप बैठा पाता—कभी हाथ में बही लिए, कभी यों ही।

एक दिन मैंने उससे कहा—"पाँडेजी, आपको थोड़ी-सी जमीन और दिए देता हूँ, आप ज्यादा खेती करें, नहीं तो घर के लोग भूखों मरेंगे।"

बड़ा ही शांत प्रकृति का था वह। उसे कोई बात समझाने में दिक्कत नहीं पड़ती थी। उसने जमीन तो ले ली ; मगर अगले छै महीनों में खेत नहीं तैयार कर सका। सुबह से पूजा और गीता-पाठ में ही दस बज जाते,

फिर काम पर निकलता। कोई दो घंटे मेहनत के बाद रसोई और भोजन तैयार करता, उसके बाद दोपहर भर जी-तोड़ मेहनत——साँझ के पाँच बजे तक। लौटकर पेड़-तले बैठा जानें क्या-क्या सोचता। साँझ के बाद फिर पूजा-पाठ।

उस साल राजू ने थोड़ी-सी मकई उपजाई। वह फसल उसने खुद नहीं रक्खी। घर भेज दी। उसका बड़ा लड़का आकर मकई ले गया। उसका लड़का मुझसे मिलने आया था। उसे मैंने डाट बताई——"शरम नहीं आती तुम्हें, बूढ़े बाप को इस सूने जंगल में भेजकर आप घर बैठे गुलछर्रे उड़ाते हो ? तुम लोग कुछ कमाने की कोशिश क्यों नहीं करते ?"

[तीन]

उस बार सूअरमारी गाँव में जोरों का हैजा फैला। मुझे खबर मिली। वह गाँव अपने इलाके में नहीं पड़ता। कोई आठ-दस कोस दूर पर था——कोसी और कलबलिया नदी के किनारे। रोजाना इतने लोग मरने लगे कि कोसी नदी में लाशें फेंकी जाने लगीं——जलाने का कोई इंतजाम नहीं। एक दिन यह भी पता चला कि राजू पाँडे वहाँ इलाज करने के लिए गया है। मैं यह नहीं जानता था कि राजू चिकित्सक भी है। मैंने कुछ दिनों तक होमियोपैथी दवाओं से नाता रक्खा था। सोचा, ऐसे में अगर लोगों के कुछ काम आ सकूँ तो अच्छा है। यहाँ तो डाक्टर-वैद कुछ हैं ही नहीं। मेरे साथ-साथ कचहरी से और भी कुछ लोग वहाँ गये। राजू पाँडे से भेंट हुई। एक बटुए में कुछ जड़ी-बूटी लिए वह इसके-उसके घर घूम रहा था। उसने मुझे नमस्कार किया और कहा——"हुजूर बड़े रहमदिल हैं। आप आ गए, कुछ लोग शायद बच जाएँ।" उसने कुछ ऐसा भाव दिखाया, मानो मैं जिले का सिविल सर्जन होऊँ। वही मुझे रोगियों के घर-घर ले जाने लगा।

राजू सबको उधार ही दवा दे रहा था। चंगा होने पर दाम चुकाने की शर्त थी। झोंपड़ों में गरीबी की कैसी दर्दनाक तसवीर। फूँस या खपड़े

के घर, बड़े ही तंग कमरे, खिड़की नदारद—धूप-हवा आने-जाने की कोई गुंजाइश ही नहीं। जो भी घर थे, लगभग सब में एक-दो रोगी मैले-कुचैले बिस्तर पर पड़े। न डाक्टर, न दवा, न पथ्य। राजू में जितनी शक्ति थी, वह कोशिश कर रहा था। बिना बुलाए ही वह हर रोगी के घर जा-जाकर अपनी जड़ी-बूटी पिला रहा था। एक रात तो वह किसी रोगी बच्चे की जगकर तीमारदारी भी करता रहा। लेकिन बीमारी घटने के बजाय बढ़ती ही चली जा रही थी।

वह मुझे एक घर में लिवा ले गया। घर क्या, महज एक कमरा। फूँस की छौनी। रोगी जमीन पर ताड़ की चटाई पर सोया था। उमर पचास से कम नहीं होगी। दरवाजे के पास एक सत्रह-अठारह साल की लड़की बैठी जार-बेजार रो रही थी। राजू ने उसे दिलासा देते हुए कहा—"रो मत बिटिया, हुजूर आ पहुँचे हैं, अब कोई खतरा नहीं। रोगी भला-चंगा हो जायगा।"

अपनी बेबसी को सोचकर बड़ा शर्मिंदा हुआ मैं। मैंने पूछा—"यह लड़की बूढ़े की बेटी है, क्यों?"

राजू बोला—"नहीं हुजूर, यह उसकी बीबी है। इसके दुनिया में कोई नहीं है। विधवा माँ थी, इसे ब्याहते ही चल बसी बेचारी। इस बूढ़े को बचा लीजिए हुजूर, नहीं तो यह लड़की कहीं की न रह जायगी।"

कुछ जवाब देने ही जा रहा था कि मेरी नजर रोगी के सिरहाने के पास के ताख पर पड़ी। लकड़ी का ताख, रोगी के बिस्तर से दो-तीन हाथ की ऊँचाई पर। उस पर पत्थर के बर्तन में थोड़ा-सा बासी भात खुला पड़ा था! मक्खियाँ भिनक रही थीं उस पर! क्या गजब था! घर में एशियाटिक कालरा का रोगी और उसके पास ही बिना ढँका बासी भात!

दिन-भर रोगी के सेवा-जतन से थककर यह गरीबिन शायद नमक-मिर्च मिलाकर उसी बासी भात को चाव से खा लेगी! यही जहरीला भात, जिसके एक-एक दाने में मौत के बीज हैं। उस लड़की की आँसू-भरी दो

भोली आँखों की ओर देखकर मैं सिहर उठा। राजू से मैंने कहा—"उससे कहो, यह भात उठाकर फेंक दे। इस घर में कोई खाने की चीज नहीं रखनी चाहिए।"

भात फेंक देने की जो बात आई, तो वह लड़की अचरज से हमारा मुँह ताकने लगी। आखिर वह भात फेंक कैसे दे? खायगी क्या? वह थोड़ा-सा भात कल रात उसे ओझाजी के यहाँ से खाने को मिला था।

मुझे याद आया, अपनी तरफ जैसे पूड़ी-पुलाव होता है, भात इधर का वैसा ही कीमती खाना है। फिर भी मैंने जरा कड़क कर कहा—"तुम इसे उठाकर फेंक दो—अभी, तुरत।"

डरती-डरती वह उठी और भात को ले जाकर बाहर फेंक दिया।

लाख जतन करने पर भी उसके पति को बचाया न जा सका। साँझ के बाद ही बूढ़े ने आखिरी साँस ली। वह लड़की बेजार रोई। राजू भी उसके साथ रोते-रोते बेदम था।

राजू मुझे एक और घर में ले गया। वह उसके दूर के रिश्ते में साला लगता था। यहाँ आने पर राजू पहले यहीं ठहरा था। यहीं खाता-पीता था। इस घर में माँ और बेटा, दोनों को हैजा हो गया था। दोनों अगल-बगल के कमरे में थे। यह उसे और वह इसे देखने को बेचैन। लड़का महज सात-आठ साल का।

पहले लड़का गुजरा। माँ के कानों में इसकी खबर तक नहीं होने दी गई। मेरी दवा से माँ की हालत धीरे-धीरे सुधरने लगी। वह बार-बार अपने बेटे की खोज करती—बगल के कमरे से उसकी कोई आहट क्यों नहीं मिलती? कैसा है मेरा बच्चा?

हम बताते—"उसे नींद की दवा दी गई है। सो रहा है वह।"

बच्चे की लाश छिपाकर धीरे-धीरे बाहर निकाली गई।

गाँव के लोग स्वास्थ्य के नियमों के सम्बन्ध में कुछ जानते ही न थे। एक ही पोखर, उसी में कपड़े फींचते, उसी में नहाते। मैंने लाख सिर मारा, मगर यह बात उनके दिमाग में न घुसा सका कि नहाना और पानी पीना,

बात एक ही है। जाने कितने लोग कितने परिवारों को यों ही छोड़कर भाग गए। एक घर में सिर्फ एक रोगी को ही पाया——दूसरा कोई न था। वह रोगी उस घर का घरजमाई था——बीते साल उसकी बीबी मर गई। फिर भी वह वहीं था——बुरी दशा थी उसकी ; इसलिए या और किसी कारण से हो, ससुराल में वह कहीं नहीं गया। अभी उसे हैजा जो हुआ, तो ससुराल वाले उसे छोड़कर जाने कहाँ चल दिए। राजू रात-दिन उसकी सेवा करने लगा। दवाई की व्यवस्था मैंने कर दी। आखिर वह बच गया। मैं समझ गया, उसके भाग में ससुराल के अन्न पर पलने का अभी बहुत दुःख लिखा है। राजू को अपने इलाज की कमाई बटुए में से निकाल कर गिनते हुए देखकर मैंने पूछा——"कितनी रकम जोड़ी है?" गिनकर राजू ने बताया——"एक रुपया तीन आने हुजूर।"

इतनी ही रकम मे वह मगन था। इधर के लोग मुश्किल से एक पैसा देख पाते हैं, उस हिसाब से एक रुपया तीन आने की कमाई कम न थी। पंद्रह-सोलह दिनों से राजू को बेहद काम करना पड़ा——डाक्टर भी वही, नर्स भी वही।

काफी रात बीते गाँव में से रोने की आवाज उठी। फिर कोई मरा। रात को मुझे नींद नहीं आई। गाँव के बहुतेरे लोग नहीं सोए। घर के आगे लकड़ी के कुंदे जलाकर गंधक जलाते रहे, आग के पास बैठ-बैठे बातें करते रहे। रोग और मौत, प्रत्येक व्यक्ति की जुबान पर इसके सिवा कोई बात ही नहीं। सबके चेहरों पर भय और आतंक की झलक——न जाने कब किसकी बारी आ जाय!

आधी रात को समाचार मिला, साँझ के समय जो लड़की विधवा हो गई थी, अब उसको हैजा हो गया। मैं देखने गया। पास ही किसी दूसरे के घर की गोशाला में वह पड़ी थी। मारे डर के वह अपने घर नहीं सो सकी, लेकिन चूं कि उसने हैजे के रोगी को छूआ था, इसलिए किसी ने उसे अपने घर पनाह तक न दी। गोशाला के एक ओर गेहूँ की बिचाली पर एक पुराना टाट बिछा था। वह उसी पर पड़ी तड़प रही थी। राजू और मैंने

उस अभागिन को बचाने की बहुतेरी कोशिशें कीं। कहीं कोई लालटेन नहीं मिली, पानी नहीं मिला। कोई झाँककर देखने तक नहीं आया। कुछ ऐसा आतंक फैल गया था कि किसी को हैजा होने पर उसकी घर की सीमा तक में कोई पैर नहीं रखता था।

सबेरा होने को आया।

राजू को नाड़ी की बड़ी पहचान थी। हाथ देखकर बोला—"हुजूर, लक्षण तो कुछ अच्छा नहीं दीखता।"

मैं ही क्या करता। डाक्टर तो था नहीं। पानी चढ़ा पाता, तो कुछ उम्मीद थी। इधर वैसा कोई डाक्टर भी नहीं।

नौ बजे वह लड़की गुजर गई।

हम नहीं होते तो उसकी लाश निकाली भी जाती या नहीं, नहीं कह सकता। बड़ी आरजू-मिन्नत के बाद दो अहीर आए। बाँस से ढकेलते हुए वे लाश को नदी तक लुढ़का ले गए।

राजू बोला—"जी गई बेचारी। विधवा, फिर छोटी-सी लड़की। क्या खाती बेचारी और उसकी देख-भाल ही कौन करता।"

मैंने कहा—"तुम्हारी तरफ के लोग बड़े निर्दयी होते हैं।" मुझे एक कचोट रह गई कि मैंने उस बेचारी लड़की को जतन से रक्खा हुआ दो मुट्ठी भात भी क्यों नहीं खाने दिया।

[चार]

सुन-सान दोपहरी में सुदूर महालिखारूप के पहाड़ और जंगल अजीब रहस्यमय से लगते। कितनी ही बार सोचा कि पहाड़ की सैर कर आऊँ; मगर फुर्सत नहीं निकल सकी। सुनता आ रहा था कि वह पहाड़ दुर्गम जंगलों से भरा है, शंखचूड़ साँपों की बहुतायत है। मुश्किल से पाई जाने वाली जंगली चंद्रमल्लिका तथा भालुओं के अड्डे भरे हैं। पहाड़ पर पानी नहीं मिलता, फिर खौफनाक शंखचूड़ साँपों का खतरा! सो लकड़हारे भी वहाँ जाने की हिम्मत नहीं करते।

क्षितिज पर खिंची नीली लकीर-जैसी दिखनेवाली यह शैल-माला और जंगल दोपहर और साँझ को जाने कितने सपनों से मन को भर देते। एक तो यह इलाका ही इन दिनों मुझे परियों के देश-सा लगने लगा था—इसकी चाँदनी, इसकी जंगली-झाड़ियाँ, निर्जनता, इसका नीरव रहस्य, इसका सौंदर्य, इसके लोग-बाग, वन-फूलों की शोभा—सब कुछ अद्भुत से लगते। मन में एक ऐसी गहरी शांति और आनंद भर देते, जो जीवन में और कहीं भी कभी नहीं मिला। फिर महालिखारूप की यह पर्वतश्रेणी और मोहनपुरा रिजर्व फॉरेस्ट की सीमा-रेखा और भी अद्भुत लगती। दोपहर, साँझ और चाँदनी रातों में ये रूप-लोक की रचना करते हुए मन में उदास चिन्ता कैसे ले आते?

आखिर मैं एक रोज उस पहाड़ पर जाने को निकला। नौ मील की दूरी घोड़े से तै की। फिर दोनों पहाड़ों के बीच की पगडंडी से चलना शुरू किया। अगल-बगल घनघोर जंगल। उस अद्भुत जंगल के बीच से आँकी-बाँकी पगडंडी, ऊँची-नीची। बीच-बीच में चट्टानों में से बहते हुए पहाड़ी झरने। वन्य चंद्रमल्लिका के दर्शन तो नहीं नसीब हुए, क्योंकि शरत् के दिन थे, उसके खिलने का समय नहीं था; मगर जंगली हरसिंगार का अवर्णनीय मेला तमाम जंगल में लगा था—पेड़ों के नीचे, चट्टानों पर, झरनों के किनारे फूलों का मानो बिछौना बिछ गया था। बरसात के इन आखिरी दिनों में जाने कितनी ही तरह के और फूल फूले थे—खिले सप्तपर्ण के वन, अर्जुन और पियार, तरह-तरह की वन-वल्लरियाँ और आर्किड के फूल। सभी फूलों की मिली-जुली खुशबू मधुमाखी के समान मनुष्यों को भी नशे से मतवाला बना देती।

यहाँ रहते हुए बहुत दिन हो गए मुझे; पर यह सौंदर्य-भूमि मेरे लिए अब तक अजानी ही रही। मैं यहाँ डरते-डरते आया था—यहाँ कितने ही बाघ हैं, शंखचूड़ों का अड्डा है, भालुओं का तो लेखा ही नहीं; मगर इतनी दूर निकल आया, कहीं तो भालू की झलक तक नहीं मिली। लोग तिल का ताड़ बनाकर कहते हैं शायद।

पगडंडी के किनारे के जंगल क्रम से घने हो आए, मानो दोनों तरफ से राह को दबा बैठे हों। ऊँचे पेड़ों की डालों ने राह पर चाँदनी बिछाई। घने पेड़ों की काली जड़ों की भीड़ उनके नीचे भिन्न-भिन्न प्रकार के फर्न, कहीं-कहीं बड़े पेड़ों के ही पौधे खड़े थे। सामने राह उस भीड़ को ठेलती हुई ऊपर उठती नजर आई। जंगल की सघनता और भी श्याम हो उठी। सामने ही खड़ी थी पहाड़ की एक चोटी। उस पर जो पेड़ खड़े थे, वे नीचे से सिहोड़ की नन्ही झाड़ियों जैसे दीख रहे थे। मैं पहाड़ पर काफी दूर तक गया, वहाँ से राह फिर नीचे को उतर गई थी। थोड़ी दूर तक मैं उतरा। एक पिपार के पेड़ से घोड़े को बाँधकर मैं एक चट्टान पर बैठ गया, ताकि घोड़ा जरा देर आराम कर ले।

पहाड़ की वह ऊँची चोटी अचानक कब बाईं ओर को मुड़ गई। पहाड़ी इलाके में यह एक मजेदार बात मैं बराबर देखता रहा हूँ, न जाने और कहाँ कौन-सी चोटी थोड़ी ही दूर के फासले पर अलग-अलग नज्जारा पेश करने लगती है। अभी जिसे ठीक उत्तर की तरफ देखा, दो-चार कदम गया नहीं कि यह अनुभव किया कि वह जाने कब पश्चिम को मुड़ गई।

कुछ देर चुप बैठा रहा। पास ही कहीं कोई झरना बह रहा था। उसका झर-झर स्वर इस पहाड़ियों से घिरे जंगल की निस्तब्धता को और भी बढ़ा रहा था। मेरे चारों तरफ पहाड़ की ऊँची-ऊँची चोटियाँ और उन चोटियों पर था शरत् का नीला आकाश। न जाने कब से ये जंगल और पहाड़ ऐसे ही हैं। बहुत-बहुत दिन पहले आर्यों ने जब खैबर की घाटी को पार करके पहले-पहल पंजाब में प्रवेश किया था, तब भी यह जंगल ऐसा ही था। अपनी नवीना पत्नी को सोते हुए छोड़कर जिस रात बुद्धदेव ने चुपचाप संसार का त्याग किया था, उस रात भी यह गिरि-शिखर गहरी रात की चाँदनी में इसी तरह हँसता था ; तमसा नदी के किनारे पर अपनी पत्तों की झोंपड़ी में रामायण लिखने में निमग्न वाल्मीकि ने सहसा कब चौंककर देखा कि —सूरज अस्ताचल पर पहुँच गया है, नदी के श्याम जल पर रक्तमेघों के समूह की छाया पड़ी है, आश्रम के मृग लौट आए हैं—उस दिन भी पश्चिमी

क्षितिज की अंतिम रंगीन आभा से महालिखारूप की चोटियाँ ऐसी ही अनुरंजित हुई थीं, जैसी कि आज मेरी आँखों के सामने हो रही हैं। जानें कितने दिन पहले, जिस दिन चंद्रगुप्त राजगद्दी पर पहली बार बैठे, ग्रीस के राजा हेलिओडोरस ने गरुड़ध्वज स्तंभ का निर्माण किया ; जिस दिन राजकुमारी संयुक्ता ने स्वयंवर-सभा में पृथ्वीराज की मूर्ति के गले में वरमाला डाल दी ; सामूगढ़ की लड़ाई मे मुँहकी खाकर अभागा दारा शिकोश जिस दिन आगरा से दिल्ली भागा ; चैतन्य महाप्रभु ने जिस दिन श्रीवास के यहाँ कीर्त्तन किया ; जिस रोज पलासी के मैदान में घनघोर लड़ाई हुई---महालिखारूप की ये चोटियाँ, यह जंगल, सब-कुछ ऐसा ही था---ठीक ऐसा ही। उन दिनों यहाँ कौन लोग रहते थे ? यहाँ से कुछ ही दूरी पर फूँस के कुछ घरों का एक गाँव देख आया था। लकड़ी के दो-एक टुकड़ों के सहारे बना हुआ ढेंकी-जैसा कुछ था, जिससे लोग महुए का तेल निकाला करते थे। वहाँ एक बुढ़िया को देखा, अस्सी-नब्बे की उम्र होगी उसकी ; सारा सिर सन-जैसा सफेद, तमाम बदन रूखा। धूप में बैठी शायद वह माथे से जूँ बीन रही थी---ठीक कवि भारतचंद्र द्वारा वर्णित अन्नपूर्णा जैसी। बैठे-बैठे मुझे उस बुढ़िया की याद हो आई। इस वन्य अंचल की पुरानी सभ्यता की प्रतीक वही बुढ़िया है---उसी के पुरखे हजारों साल से इस इलाके में बसते आ रहे हैं। जिस रोज महात्मा ईसा क्रूस से मारे गए थे, उस रोज भी वे लोग जिस तरह महुए के बीजों से तेल निकाल रहे थे---आज भी उसी तरह निकाल रहे हैं। अतीत के घने कुहरे में हजारों साल की अवधि गुम हो गई है, मगर ये आज भी बाँसों की नलियों से उसी तरह चिड़ियों का शिकार कर रहे हैं। ईश्वर या संसार के बारे में उनकी विचार-धारा जहाँ-की-तहाँ है, तिल-भर भी इधर-उधर नहीं हुई। उस बुढ़िया की विचार-धारा क्या है, यह मालूम हो सके, तो मैं अपनी साल-भर की सारी कमाई देने को तैयार हूँ।

मेरी समझ में नहीं आता कि किसी-किसी जाति में सभ्यता का ऐसा कौन-सा भेद छिपा रहता है कि जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं, उन्नति

की राह से वह आगे निकलती जाती है। फिर दूसरी जाति हजारों साल के अरसे में भी जड़ की तरह जहाँ-की-तहाँ क्यों रह जाती है? चार-पाँच हजार वर्षों की अवधि में बर्बर आर्य जाति ने वेद, उपनिषद्, पुराण, काव्य, ज्योतिर्विद्या, ज्यामिति, चरक-सुश्रुत की चर्चा की, देशों को जीता, साम्राज्यों की नींव डाली, वेनस द्यमिलो की मूर्ति, पर्थिनन, ताजमहल और कोलों कैथिड्रल का निर्माण किया, दरबारी कानड़ा और फिफ्थ सिम्फोनी की सृष्टि की—हवाईजहाज, जहाज, रेल, बेतार, बिजली का आविष्कार किया—लेकिन पपुआ, न्यूगिनी, आस्ट्रेलिया के आदिम अधिवासी हमारे यहाँ के मुंडा, कोल, नागा, कुकी लोग इन पाँच हजार वर्षों में भी वहीं-के-वहीं क्यों रह गए हैं?

आज मैं जहाँ बैठा हूँ, किसी अतीत युग में यहाँ महासमुद्र लहराता था—उस पुराने महासमुद्र की लहरें कैंबियन युग के इस बालुकायम तीर पर आकर पछाड़ें खाती थीं, जो आज पहाड़ों में बदल गया है। घने जंगल के बीच बैठकर मैं अतीत के उस नीले समुद्र का सपना देखने लगा—

पुरा यतः स्रोतः पुलिन मधुना तत्र सरिताम्

बालुका-प्रस्तर के इस शिखर पर भूले अतीत का वह सागर अपनी उन्मत्त लहरों की निशानी छोड़ गया है—वह निशानी बहुत ही साफ है—भूतत्त्वविद् उस निशानी को पहचान सकते हैं। उन दिनों आदमी नहीं थे, इस तरह के पेड़-पौधे भी नहीं थे। जैसे जीव-जंतु और पेड़-पौधे उन दिनों थे, इन पत्थरों की छाती पर वे अपनी छाप छोड़ गए हैं—जिस किसी भी जादूघर में उनके नमूने देखे जा सकते हैं।

महालिखारूप पहाड़ के माथे पर तीसरे पहर की धूप रंगीन हो उठी। हरसिंगार के वन से आने वाली महमहाती हवा में हेमंत का हलका आभास। यहाँ और देर करना उचित न था, कृष्णा एकादशी की अँधेरी रात सामने थी। जंगल में कहीं स्यारों का दल हुक्का-हुआ कर उठा—कहीं बाघ-भालू राह न रोक लें।

लौटते समय एक चट्टान पर मैंने जंगली मोर देखा। वह जोड़ा था।

घोड़े से डर कर मोर तो उड़ भागा, लेकिन मोरनी टस-से-मस न हुई। मुझे बाघ के खतरे से चलने की जल्दी थी, देखने का अवकाश न था। फिर भी मोरनी के सामने मैं ठिठक गया। जंगली मोर मैंने देखा नहीं था। लोग-बाग कहते थे कि इधर मोर हैं ; पर यकीन नहीं आता था। ज्यादा देर रुकने की हिम्मत नहीं हुई। क्या पता, यहाँ के बाघों की जो चर्चा है, कहीं वह भी मोरों की बात-जैसी ही सच न निकल आए !

सातवाँ परिच्छेद

[एक]

अपने गाँव जाने के लिए जी का छटपटाना एक अजीब अनुभूति है। जो आजीवन एक ही जगह रह जाते हैं, अपने गाँव को छोड़कर कहीं नहीं जाते, ऐसे लोग इसके वैचित्र्य को हर्गिज नहीं समझ सकते। जो किसी दूर देश में, सगे-सम्बन्धियों से अलग लम्बे दिनों तक रह चुके हैं, वे खूब समझ सकते हैं कि अपने देश जाने के लिए, देशभाइयों से मिलने के लिए, मन किस तरह हाहाकार करता है। ऐसे में एक निहायत मामूली-सी घटना भी अनोखी हो उठती है। लगता है, जो कुछ गुजर चुका है, वह फिर कभी नहीं होने का—और तब सारी दुनिया उदास-सी दीखती है, अपने यहाँ की एक-एक चीज बेहद प्यारी लगने लगती है।

बरसों इधर बिताने के बाद अपनी भी ठीक वही हालत हो गई है। छुट्टी के लिए लिखने की बात बहुत बार मन में आई, लेकिन जिम्मेदारी इतनी ज्यादा रही कि लिखने में संकोच अनुभव किया; परन्तु इस वीरान जंगल-पहाड़ों में महीनों और बरसों बाघ-भालू और नीलगायों के बीच बिताना भी एक कठिन बात है! कभी-कभी जी हाँफ-सा उठता। अपनी बंग-भूमि को भूल बैठा था। जाने कितने दिन हो गए दुर्गापूजा देखे, जमाने से चड़क पूजा का ढोल भी नहीं सुना। मन्दिरों से उठने वाली धूप-गूगल की गंध तक नहीं मिली। शाखी के प्रभात का विहग कल-कूजन सुनने को नहीं मिला—बंगाल की वह गिरस्ती, शांत-पूत काम, चौकी पर काँसे-पीतल के बर्तन, पीढ़े पर आँकी आलपना, ताखों पर रक्खी लक्ष्मी की पिटारी— ये मानो सुदूर अतीत के भूले हुए जीवन-स्वप्न हों।

जाड़ों के बाद गरमी के दिन आए तो मेरा मन और भी उचाट हो गया।

ऐसे ही समय में घोड़े पर सवार होकर सरस्वती कुंड की तरफ घूमने गया। घोड़े से उतर कर एक उपत्यका पर मैं चुपचाप खड़ा हो गया। मेरे चारों तरफ माटी के ऊँचे-ऊँचे टीले थे तथा टीलों पर झाऊ और कसाल के घने जंगल। ठीक मेरे माथे पर टँगा था थोड़ा-सा नील आसमान। काँटों से भरे एक पौधे में बैंगनी रंग के फूलों के गुच्छे लगे थे, देखने में ठीक विलायती कार्न फ्लावर के समान। उनमें से अलग एक फूल में खास कोई शोभा नहीं, इकट्ठे बहुत-से फूल एक बैंगनी साड़ी-से दिख रहे थे। वर्ण वैचित्र्यहीन अधसूखी कास के इस वन में ये थोड़े-से फूल मानो वसन्तोत्सव में मतवाले हो रहे थे और झाऊ के नीरव, रूखे अरण्य इन्हें निहायत अवज्ञा और उपेक्षा की निगाहों से देखकर मुँह फिराए प्रवीणता के धीरज से उसे बर्दाश्त कर रहे थे। उन्हीं जंगली बैंगनी फूलों ने मेरे कानों में वसंत-आगमन की वाणी सुनाई। फूल भी, कुछ नीबू के नहीं, आम की मंजरी नहीं, कामिनी फूल, रक्तपलाश या सेमर के फूल नहीं, एक नाम-गोत्र-हीन तुच्छ बेढंगे जंगली कँटीले फूल! वही फूल मुझे बाग-बगीचों में भरे वसंत के कुसुम-संभार के प्रतीक से प्रतीत हुए। देर तक वहाँ निमग्न खड़ा रहा। मैं था बंग-भूमि की संतान, कुछ जंगली फूलों द्वारा डाली सजाकर वसंत का मान रखना मेरे लिए बिल्कुल नई बात थी। मगर उस ऊँची उपत्यका के जंगल की शोभा कैसी मनोरम थी! कैसे ध्यान-निमग्न, उदासीन, विलास-हीन, संन्यासी-जैसा रूखा चेहरा था उसका, लेकिन कितना विराट्! उस अधसूखे फूल-पत्तों से रहित वन की निस्पृह आत्मा और नीचे के इन वन्य बर्बरों तरुणों के वसन्तोत्सव की आडम्बर-हीन प्रचेष्टा के उच्छ्वसित आनन्द से मेरा मन एकाकार हो गया।

अपने जीवन का वह भी एक अद्‌भुत क्षण था। कुछ देर तक मैं यों ही खड़ा रहा। ऊपर के उस एक टुकड़े नीले आसमान पर दो-एक नक्षत्र उग आए। ऐसे में अचानक घोड़े की टाप सुनाई पड़ी। मैंने देखा, पूरनचन्द अमीन नाढ़ा बैहार से नाप-जोख का काम खत्म करके कचहरी लौट रहा

है। मुझे देखकर वह घोड़े पर से उतर पड़ा। बोला—"हुजूर यहाँ कहाँ?"

मैंने कहा—"यों ही घूमने आ गया था।"

वह बोला—"साँझ के समय यहाँ हर्गिज अकेले न रहें, कचहरी लौट चलिए। यह जगह अच्छी नहीं है। मेरे टंडेल ने अपनी आँखों देखा है—उधर के उस कास-वन में बहुत बड़ा बाघ था। चलिए हुजूर यहाँ से।"

पूरनचन्द के टंडेल ने दूर पर गाना शुरू कर दिया था—

दया होई जी !

उस दिन से उन बैंगनी फूलों पर नजर पड़ते ही मेरा मन बंगाल जाने के लिए न जाने क्यों रो उठता। और रोज साँझ को अमीन पूरनचन्द का टंडेल छट्टूलाल रोटी बनाते समय इसी गीत को शुरू कर देता—

दया होई जी !

मुझे लगता, फागुन के आते-आते मँजराये आमों की गंध-भरी छाया में खिले सेमरों वाले नदी के इस पार खड़े होकर कोयल की कूक सुनने का सुअवसर शायद इस जीवन में कभी भी नहीं मिलने का—किसी दिन इसी वीरान जंगल में बाघ-भैंसों के हाथ यों ही जान गँवानी पड़ेगी।

झाऊ के जंगल वैसे ही स्थिर खड़े रहते, सुदूर वन के माथे से मिला हुआ क्षितिज वैसा ही धुँधला और उदास दीखता।

ऐसे ही एक दिन, जब कि गाँव जाने के लिए जी न जाने कैसा-कैसा हो रहा था, रासबिहारीसिंह के यहाँ से होली का न्योता आया। रासबिहारी-सिंह इस इलाके का बड़ा ही जाबिर महाजन था। जाति का रजपूत, कारो नदी के किनारे खासमहाल का रैयत था। अपनी कचहरी से बारह-चौदह मील उत्तर-पूरब कोने पर मोहनपुरा रिजर्व फॉरेस्ट से सटा हुआ गाँव था उसका।

न्योता न मानना भी ठीक न था; मगर उसके घर जाने की भी मेरी इच्छा न थी। इधर के जितने भी गंगोते रैयत थे, सब का महाजन वही था। गरीबों का लहू चूस-चूस कर वह आप बड़ा आदमी बना था। उसके

रौब-दाब के आगे किसी को चूँ तक करने की मजाल नहीं थी। तनखाह पाने वाले या जमीन जोतने वाले लठैत उसके तकाजे में घूमा करते। हुक्म करते ही लोगों को बाँध कर हाजिर करते थे। रासबिहारी को कभी अगर यह खयाल हो जाता कि फलाँ आदमी ने उसकी इज्जत नहीं की, या जैसा चाहिए था उसका सम्मान नहीं किया, तो उस बेचारे की शामत ही आगई जानिए। फिर वह छल-बल-कौशल से उसे खासा सबक सिखाकर ही दम लेता था।

यहाँ आने के बाद मुझे तो लगा था कि वही इस इलाके का राजा है। गरीब रैयत उसके डर से थर-थर काँपा करते, संपन्न लोगों को भी उसके सामने कुछ कहने की हिम्मत नहीं पड़ती ; क्योंकि उसके लठैत बड़े खूँखार थे, मार-पीट और लड़ाई-दंगे में कुशल। पुलिस के लोग भी उसके हाथ में थे। खास महाल के सर्किल अफसर या मैनेजर उसके घर पर आतिथ्य कबूल किया करते थे। फिर इस जंगल में अपने आगे वह लगाये भी किसे ?

उसने मेरे रैयतों पर भी प्रभुत्व दिखाने की कोशिश की थी ; मगर मैंने उसे वैसा करने से रोक दिया था। साफ शब्दों में कह दिया था—"अपने इलाके में जो जी में आवे करो, अगर मेरे रैयतों का बाल भी बाँका हुआ, तो मैं उसे हर्गिज बर्दाश्त न करूँगा।" बीते साल ऐसी ही बात को लेकर उसके लठैतों और मेरे मुकुन्दी चकलादार तथा गणपत तहसीलदार के मुलाजिमों में मारपीट हो गई। पिछले सावन के महीने में भी कुछ गोल-माल हो गया। बात पुलिस तक पहुँच गई। दरोगा ने आकर तसफिया कर दिया। तब से रासबिहारीसिंह मेरे रैयतों से छेड़-छाड़ नहीं करता।

उसी रासबिहारीसिंह के यहाँ से न्योता आया है। यह सुनकर मुझे हैरत हुई।

मैंने गनपतसिंह तहसीलदार को बुलवा कर उससे राय ली। वह बोला—"कहा नहीं जा सकता हुजूर, वह आदमी यकीन करने लायक नहीं। कोई ऐसा काम नहीं, जो वह नहीं कर सकता। किस मतलब से उसने हुजूर को बुलाया है, राम जाने। मेरे खयाल में आप न ही जायँ तो अच्छा।"

मगर मुझे गनपत की यह राय जँची नहीं। न जाने से रासबिहारी

अपने को अपमानित मानेगा ; क्योंकि होली राजपूतों का एक मुख्य त्योहार है। शायद वह यह भी सोच बैठे कि मैं डर के मारे उसके यहाँ नहीं गया। ऐसा सोचना भी मेरा अपमान है। उँहू, नसीब में चाहे जो हो, जाना जरूरी है।

कचहरी के लगभग सभी आदमियों ने मुझे रोकने की कोशिश की। बहुतेरा समझाया-बुझाया भी। बूढ़े मुनेश्वरसिंह ने कहा—"हुजूर, जा तो रहे हैं आप ; पर इधर के रीति-रिवाज आप नहीं जानते। यहाँ जरा-सी बात पर लोग खून कर बैठते हैं। जाहिलों का इलाका है यह। सब काला अच्छर भैंस बराबर हैं। फिर रासबिहारीसिंह तो बड़ा ही जालिम है हुजूर। अपनी जिन्दगी में उसने कितने खून किए हैं, उसका कोई लेखा-जोखा नहीं है! वह क्या नहीं कर सकता—खून, अगलगी, जालसाजी—हर काम में वह पक्का है।"

सब कुछ सुनी-अनसुनी करके मैं रासबिहारीसिंह के घर गया। ईंट की दीवारें, खपड़ों की छौनी। आम तौर से जैसे घर इधर के संपन्न लोगों के होते हैं, वैसा ही उसका घर भी था। सामने बरामदा, बरामदे में कोल-तार से रंगे लकड़ी के खंभे। रस्सी से बुनी दो खाटें वहाँ बिछी थीं। दो-एक आदमी बैठे हुए नल से तम्बाकू पी रहे थे।

जैसे ही मेरा घोड़ा दरवाजे पर पहुँचा जाने कहाँ से दो बार बन्दूक की आवाज हुई। रासबिहारी के कारिन्दे मुझे पहचानते थे। मैं समझ गया, यह मेरा स्वागत किया गया है ; मगर खुद मकान-मालिक कहाँ है ? उसके आए बिना अतिथि के घोड़े से उतरने का रिवाज नहीं है।

जरा देर बाद रासबिहारी के बड़े भाई रासउल्लाससिंह आए। विनीत भाव से दोनों हाथ उठाकर उन्होंने कहा—"आइए, गरीब के झोंपड़े में चरण रखिए। मेरे मन की हलचल खत्म हो गई। सोचा, राजपूत जिसे एक बार अतिथि मान लेते हैं उसका कभी बुरा नहीं करते। अगर आदर से कोई मुझे घोड़े से उतारने नहीं आता, तो मैं बैरंग वापस हो जाता।

आँगन में बहुत-से लोग इकट्ठे थे। उनमें से ज्यादा गंगोते थे। जो

मैले कपड़े उनके बदन पर थे, सब पर रंग के छींटे पड़े थे। न्योता मिला हो या न मिला हो, अपने महाजन के घर सभी होली खेलने को आ गए थे।

कोई आधे घंटे के बाद रासबिहारीसिंह आया और मुझे देखकर वह अवाक् हो गया। मतलब यह कि उसे स्वप्न में भी यह भरोसा न था कि मैं न्योते पर उसके घर जाऊँगा। जो भी हो, उसने मेरी खासी आव-भगत की।

जिस कमरे में वह मुझे ले गया, उसमें गँवई बढ़ई के हाथ की बनी बेढंगी दो-तीन कुर्सियाँ और एक बेंच थी। दीवार में सिन्दूर और चन्दन से पुती गणेश की एक मूर्ति।

कुछ ही क्षणों में एक लड़का एक थाली लेकर मेरे सामने आ खड़ा हुआ। उस थाली में थोड़ी-सी रोली थी, थोड़े-से फूल, कुछ रुपए, चीनी के लायचीदाने, एक ढेला मिसरी और फूल की माला थी। रासबिहारी ने मेरे कपाल पर थोड़ी-सी रोली मल दी, मैंने भी उसके अबीर लगाया और थाली से माला उठा ली। इसके बाद क्या करना चाहिए, यह न जानने के कारण मैं अनाड़ी की नाईं थाली की तरफ ही ताकता रहा। रासबिहारी बोला—"ये रुपए आपकी भेंट हैं हुजूर, यह तो लेने ही पड़ेंगे।" मैंने अपनी जेब से कुछ रुपये निकाल कर उन रुपयों में डाल दिए और कहा—"इनमे मिठाई मँगा कर सबको बाँट दीजिए।"

उसके बाद वह मुझे अपना ऐश्वर्य दिखाता फिरा। उसकी गोशाला म साठ-पैंसठ गाएँ थीं और अस्तबल में सात-आठ घोड़े। घोड़ों में से दो शायद बहुत सुन्दर नाचते हैं। उसने मुझे किसी दिन उनका नाच दिखाने की बात कही। हाथी नहीं था, लेकिन जल्दी-से-जल्दी वह हाथी खरीदने की सोच रहा था; क्योंकि इधर हाथी न होने पर लोग संपन्न नहीं माने जाते। उसके यहाँ आठ सौ मन गेहूँ होता है। दोनों जून में कोई अस्सी पिचासी आदमियों का खाना बनता है। खुद वह सुबह डेढ़ सेर दूध और एक सेर मिस्री का जलपान करता है। बाजार की रद्दी मिसरी वह नहीं

खाता। जो यहाँ मिसरी का जलपान करते हैं, वे बड़े लोगों में गिने जाते हैं। यहाँ बड़प्पन का यह भी एक लक्षण माना जाता है।

उसके बाद मैं एक दूसरे कमरे में ले जाया गया। इस कमरे में दो-ढाई हजार भुट्टे लटक रहे थे। ये भुट्टे अगले साल बोने के लिए रक्खे गए थे। लोहे की चदरों को कीलों से जोड़-जोड़ कर बनाई गई एक कड़ाही मुझे दिखाई गई, जिसमें डेढ़ मन दूध उबाला जाता है। इतना दूध उसके यहाँ रोज लगता है। एक छोटे-से कमरे में लाठी, ढाल, बरछा-भाले, गँड़ासे, तलवारों की ढेरी थी। उसे बखूबी अस्त्रागार कहा जा सकता है।

रासबिहारी के छै लड़के थे। सब से बड़े की उम्र तीस से कम न होगी। पहले चार बेटे बाप-जैसे ही लम्बे-तगड़े जवान, अभी ही उनकी मूँछ और गलपट्टे की बहार देखने लायक हो आई थी। उसके हथियारखाने और इन जवान बेटों को देखते ही मेरे जी में आया, ये अधभूखे और कमजोर गंगोते अगर रासबिहारीसिंह के डर से थर-थर काँपते हैं, तो इसमें ताज्जुब ही क्या !

रासबिहारी बड़ा ही घमंडी और कठिन धात का आदमी था। फिर अजीब सजग था उसका मान का ज्ञान। पान में जरा चूने की कमी क्या हुई, रासबिहारी का मान गया जानिए। लिहाजा उससे आचार-व्यवहार में हमेशा चौकस रहना पड़ता था। बेचारे गंगोते रैयत तो हर पल दुविधा में ही पड़े रहते, न जाने कब मालिक की मानहानि हो जाय !

बर्बर प्राचुर्य से जो कुछ समझा जा सकता है, उसके जलते उदाहरण मुझे रासबिहारी के घर देखने को मिले। भरपूर दूध, भरपूर गेहूँ, भरपूर भुट्टे, भरपूर मिसरी, भरपूर मान और भरपूर लाठी-सोंटे ; मगर इस सब का उद्देश्य आखिर क्या हुआ ? इतने बड़े घर में न तो एक अच्छी-सी तस-ीर थी, न एक किताब थी अच्छी-सी, अच्छी कोच-आरामकुर्सियों की कौन कहे, साफ-सुथरे तकियों से सजा कोई बिछावन तक न था। दीवार में जहाँ-तहाँ चूने के दाग, पान की पीक। घर के पीछे-पीछे जो पनाला था, उसमें गंदे पानी और कूड़ों का ढेर ; घर की बनावट भद्दी। बच्चों को पढ़ने-लिखने से कोई वास्ता ही नहीं। कपड़े-जूते निहायत मोटे और गंदे।

पिछले साल एक ही महीने के अन्दर चेचक से तीन-चार बच्चे जाते रहे। आखिर यह ऐश्वर्य आता किस काम है ? सीधे-सादे गंगोते रैयतों को पीट-पीट कर जमा की गई इस दौलत से किसे कौन-सी सुविधा मिली ? हाँ, रासबिहारीसिंह का मान अवश्य बढ़ा है।

खाने की सामग्रियों का बाहुल्य देखकर मैं अवाक् रह गया। भला एक आदमी इतना सारा सामान खा सकता है ? थाली में हाथी के कान-जैसी कोई पन्द्रह पूरियाँ, कटोरों में तरह-तरह की तरकारी, दही, लड्डू, मालपूए, पापड़, इतनी तो मेरी चार जून की खूराक थी। रासबिहारी शायद अकेला ही इससे दूना खाना एक बार खा लेता है।

भोजन करके जब मैं अन्दर से निकला, शाम हो रही थी। आँगन में गंगोते रैयतों की पाँत बैठ गई थी और लोग मजे में माढ़ा-दही खा रहे थे। सब के कपड़े लाल रंग से रँगे, सबके चेहरे पर थिरकती हँसी। रासबिहारी के भाई उन्हें खिलाने में त्रुटि न हो, इसकी निगरानी कर रहे थे। निहायत ही मामूली खाना था, मगर उसी में लोगों की खुशी का ठिकाना न था।

बड़े दिनों के बाद यहाँ धतुरिया का नाच देखने का मौका मिला। धतुरिया अब कुछ बड़ा हो गया था, उसका नाच भी पहले से ज्यादा सुधरा हुआ था। होली के लिए वह खास तौर से यहाँ बुलाया गया था।

धतुरिया को मैंने अपने पास बुलाया। पूछा—" मुझे पहचान रहे हो ? "

वह हँसा। सलाम करके बोला—" जी, आप मैनेजर साहब हैं हुजूर ! अच्छे हैं आप ? "

उसकी हँसी बड़ी ही मीठी लगती थी मुझे और उसे देखते ही न जाने एक अनुकम्पा और करुणा का उद्रेक होता था। उसका अपना कोई न था। नाच-गाकर दस-बीस को रिझाकर उसे इसी उम्र में अपनी रोजी कमानी पड़ती थी और वह भी रासबिहारीसिंह जैसे धन के मद से चूर रहने वाले अरसिक के आँगन में !

मैंने पूछा—"यहाँ तो आधी-रात तक यह जश्न रहेगा। मजूरी क्या मिलेगी तुम्हें ?"

वह बोला—"चार आने पैसे और भरपेट खाना।"

—"खाने को क्या मिलेगा ?"

—"माढ़ा, दही और चीनी। शायद लड्डू भी दें। पारसाल तो लड्डू दिए थे।"

खाने का वक्त आ रहा था। धतुरिया मारे खुशी से फूला न समाता था। मैंने पूछा—"क्या सब जगह यही मजूरी मिलती है ?"

वह बोला—"जी नहीं हुजूर। रासबिहारीसिंह चूँकि बड़े आदमी हैं, इसलिए खाना और पैसा, दोनों देंगे। गंगोतों के यहाँ दो आने पैसे मिलते हैं। खाना तो नहीं मिलता ; पर वे आध सेर मकई का सत्तू दे देते हैं।"

—"इतने से गुजारा हो जाता है क्या ?"

—"नाच से कुछ होता-हवाता तो नहीं हुजूर, पहले जरूर कुछ हो जाता था। आज-कल लोग खुद ही तकलीफ में हैं, नाच कौन देखता है ? जब नाचने का बुलावा नहीं आता, तो खेत-खलिहानों में मंजूरी कर लेता हूँ। आखिर करूँ भी क्या हुजूर, पेट तो चलाना ही है। बड़े शौक से मैंने गया जाकर छोकड़ा-नाच सीखा था। कोई देखना ही नहीं चाहता—ज्यादा मजूरी जो देनी पड़ती है।"

मैंने धतुरिया को नाच दिखाने के लिए अपने यहाँ बुलाया। वह कलाकार था, सच्चे कलाकार में जो एक निस्पृहता होती है, वह उसमें थी।

चाँदनी जब खूब निखर आई, तब मैं रासबिहारीसिंह के यहाँ से विदा हुआ। मेरा घोड़ा जैसे ही अहाते से बाहर निकला, मेरे सम्मान में बंदूक की फिर दो आवाजें की गईं।

फागुन का महीना, पूनो की रात। खुले मैदान में बालू की राह चाँदनी में झकमका रही थी। जाने कहाँ, दूर पर एक झींगुर चाँदनी में ऐसे बोल रहा था, मानो इस विशाल सूने प्रांतर में किसी पथ-भूले पथिक का आकुल कंठ-स्वर हो !

पीछे से किसी ने मुझे पुकारा—"हुजूर, मैनेजर साहब. . ." मैंने लौट कर देखा। देखा कि धतुरिया मेरे घोड़े के पीछे-पीछे दौड़ा आ रहा है।

मैंने घोड़े को रोक लिया—"क्यों, क्या है धतुरिया?" वह हाँफ रहा था। जरा रुककर उसने साँस ली। और फिर आगा-पीछा करते हुए लजाते-लजाते बोला—"एक विनती थी हुजूर. . . ."

मैंने सान्त्वना के स्वर में कहा—"कहो, कहो।"

—"मुझे अपने साथ एक बार कलकत्ता ले चलेंगे क्या हुजूर?"

—"वहाँ जाकर तुम क्या करोगे?"

—"मैं कलकत्ता कभी गया नहीं। सुना है, वहाँ गीत-नाच की बड़ी कद्र है। ऐसे-ऐसे नाच सीखे मैंने, मगर यहाँ उस जौहर को देखने वाला कोई है ही नहीं। बड़ा दुःख होता है। जमाने से छोकड़ा-नाच नाचने का ही मौका न मिला—भूल जाने की नौबत आ पड़ी है। उसे किस मुसीबत से सीखा था मैंने, वह एक सुनने ही लायक कहानी है।"

गाँव से हम बाहर निकल आए थे। चाँदनी से सारा प्रांतर भरा हुआ था। मैं समझ गया, देखने से रासबिहारीसिंह बिगड़ेगा, इस डर से धतुरिया मुझसे छिप कर मिलना चाहता है। पास ही फूलों से लदा सेमल का एक पेड़ था। मैं उसी पेड़ के नीचे घोड़े से उतर पड़ा और एक चट्टान पर बैठ गया। बोला—"अच्छा, तुम अपनी कहानी सुनाओ।"

—"सबसे सुना करता था, गया जिले के किसी गाँव में कोई विट्ठलदास है। गुणी आदमी है—छोकड़ा-नाच का बहुत बड़ा उस्ताद। मुझे यह धुन सवार थी कि चाहे जैसे भी हो, यह नाच मैं जरूर सीखूँगा। मैं गया की यात्रा पर गया। विट्ठलदास की खोज में गाँव-गाँव की खाक छानी। किसी से पता न चल सका। आखिर एक रोज शाम को मैं एक स्थान में ठहरा। देखा, लोग आपस में उसी नाच की बातें कर रहे हैं। रात काफी जा चुकी थी। सर्दी भी पड़ रही थी करारी। मैं जमीन पर पुआल डाले एक कोने में पड़ा था। छोकड़ा-नाच का जिक्र जो सुना, सो उछल कर उठ बैठा। उनके पास जा बैठा। कितनी खुशी हुई, कहने की बात नहीं हुजूर!

मानो कोई रियासत मिल गई। उनसे विट्ठलदास का पता मिल गया। वहाँ से सत्रह कोस दूर तिनटंगा नाम की बस्ती में उनका घर था।"

एक तरुण शिल्पी की शिल्प-शिक्षा के आकुल आग्रह की कहानी सुनने में बहुत अच्छी लग रही थी। मैंने कहा—"फिर?"

—"मैं पैदल ही वहाँ पहुँच गया। देखा, बूढ़े-से थे वे। चेहरे पर सफेद दाढ़ी। मुझसे उन्होंने पूछा—"तुम्हें क्या चाहिए?" मैंने कहा—"मैं छोकड़ा-नाच सीखने आया हूँ।" सुन कर वे हैरान-से हो गए। बोले—'आजकल के लड़के इसे पसन्द भी करते हैं? इसे तो लोग कब के भुला बैठे हैं।' मैंने उनके पाँव पकड़ लिए। कहा—'मैं इसी के लिए बहुत दूर से आपकी सेवा में आया हूँ—मुझे तो सिखाना ही पड़ेगा।' उनकी आँखों में आँसू भर आए। कहा—'मेरे वंश में सात पुश्त से इस नाच की परम्परा चली आ रही है। मगर मेरे कोई संतान नहीं। इतनी उम्र हो आई, इस बीच कोई दूसरा मुझसे सीखने को भी नहीं आया। तुम्हीं पहले आदमी हो। खैर, तुम्हें मैं अवश्य सिखाऊँगा।' कितनी कठिनाइयों से तो मैंने उसे सीखा, उसे इन गंगोतों को दिखाकर होगा भी क्या? कलकत्ता में गुण की कद्र होती है। वहाँ मुझे आप ले चलेंगे हुजूर?"

मैंने कहा—"किसी दिन मेरे यहाँ आना, तब बातें होंगी।"

धतुरिया आश्वस्त होकर लौट गया।

जी में आया कलकत्ता में इतने कष्ट से सीखा हुआ इसका यह गँवई नाच देखेगा ही कौन और यह बेचारा अकेले वहाँ कर भी क्या सकेगा?

आठवाँ परिच्छेद

[एक]

प्रकृति अपने भक्तों को जो दान देती है, वह अनमोल होता है ; मगर उसका दान बहुत दिनों तक उसकी सेवा किए बिना नहीं मिल सकता। और प्रकृति ईर्ष्यालु भी कितनी होती है—अगर आप उसे चाहते हैं, तो महज उसी को चाहते रहिए, कहीं दूसरी तरफ निगाह गई कि वह अपना घूँघट नहीं खोल सकती।

लेकिन प्रकृति में ही डूबे रहिए, तो उसके सर्वविध आनन्द का, सौन्दर्य का, अनोखी शांति का वरदान आप पर इतनी वर्षा करेगा, इतनी वर्षा करेगा कि आप पागल हो उठेंगे। दिन-रात नाना रूपों में उसकी मोहिनी प्रकृति आपको मुग्ध करती रहेगी, नई दृष्टि देगी, मन की आयु को बढ़ा देगी, अमरलोक के आभास से अमरत्व तक ले जायगी।

कुछेक बातें बताऊँ। इन अनुभूतियों के लिए पन्ने-पर-पन्ने लिख जाइए; पर वे पूरी नहीं लिखी जा सकतीं। कहने की बातें रह ही जाती हैं। और इन बातों के सुनने वाले भी कम ही होते हैं। हृदय से प्रकृति को प्यार करने वाले आज-कल हैं भी कितने ?

इस वनभूमि के नवटोलिया बैहार में जहाँ-तहाँ दुधली के फूल बिखेर कर वसन्त अपने आगमन की सूचना देता। देखने में ये फूल होते भी बड़े खूबसूरत हैं—नक्षत्र-जैसी आकृति, पीला रंग ; लत्तड़-जैसी उसकी डंठलें माटी को जकड़े दूर तक फैली रहती हैं और उसकी गाँठ-गाँठ में फूल उठते हैं ये फूल ! सुबह मैदान में, रास्ते के दोनों किनारों पर इन फूलों से प्रकाश बिखरा रहता ; लेकिन जैसे-जैसे धूप तेज होती जाती, सिमट कर ये फूल फिर कली की शक्ल में आ जाते और दूसरे दिन फिर वही कलियाँ खिल पड़तीं।

पलाशों की बहार मोहनपुरा रिजर्व फारेस्ट में या अपनी जमींदारी की हद से बाहर महालिखारूप की तराई में देखने योग्य होती। अपने यहाँ से ये जगहें काफी दूर थीं—घोड़े से जाने में तीन-चार घंटे लग जाते। उन जगहों में सखुए के फूलों की खुशबू हवा को मतवाली बनाए रखती, फूले सेमल के वन क्षितिज की रेखा को रंगीन किए रहते ; मगर कोयल की कूक, पपीहे की पुकार यहाँ सुनने को नहीं मिलती। इस वीरान, जन-हीन प्रांतर में रहना शायद नहीं भाता।

कभी-कभी बंगाल के लिए मन तड़प उठता। बंगाल के गाँवों में होने वाली वसंत की शोभा कल्पना में आती—याद आती पोखर से नहाकर भीगी कपड़ों में लिपट कर लौटती हुई किसी तरुणी वधू की तसवीर—खेतों के पास फूलों से भरा घेंटूवन, नीबू-फूलों की खुशबू से मोहमयी छाया भरा अपराह्न। बाहर जाकर अपने देश को कितना ज्यादा पहचान सका ! देश में रहते हुए उसके लिए ऐसी मनोवेदना का कभी अनुभव नहीं कर सका। यह अनुभूति जीवन की एक मूल्यवान अनुभूति है, जिसे इसका स्वाद न मिला, समझिए कि वह अभागा एक बहुत बड़ी अनुभूति से वंचित रह गया।

लेकिन जो बात मैं वास्तव में बताना चाह रहा हूँ, तरह-तरह से कहकर भी उसे बता नहीं पा रहा हूँ। वह है इस प्रकृति की रहस्यमयी असीमता, दुरधिगम्यता, विराटत्व और डर से बदन को छम-छम कराने वाले सौन्दर्य की बात। जिसने उसे नहीं देखा, उसे कैसे समझाऊँ कि वह क्या होता है ?

नवटोलिया बैहार के सुदूर व्यापी झाऊ और कसाल के जंगल में अकेले घोड़े की पीठ पर जाते-जाते निस्तब्ध दुपहरिया के माहौल में यहाँ की प्रकृति के इस रूप ने मेरे सारे हृदय को एक रहस्यमयी अनुभूति से आच्छन्न कर दिया है ; कभी तो वह आई भय के रूप में, कभी एक निस्पृह, उदास और गंभीर मनोभाव के रूप में, तो कभी आई जाने कैसे-कैसे मधुर सपनों एवं देश-विदेश की नर-नारियों की वेदना के रूप में। मानो वह कोई मौन

संगीत हो---नक्षत्रों की क्षीण ज्योति में है जिसका ताल, चाँदनी रात की अलौकिकता, झींगुरों की तानों और वेगवान उल्कापुच्छ के प्रकाश में है जिसकी लय-संगति।

जिन्हें अपनी दुनिया बसानी हो, उनके लिए उस रूप का न देखना ही बेहतर है। प्रकृति के उस मोहक रूप की माया मनुष्य को संसार-विरागी बना देती है, उसे लापरवाह, खानाबदोश, हैंटी जान्सटन, मार्कोपोलो, हडसन, शैकलटन बना देती है---घर-गिरस्ती नहीं करने देती। जिसने भी एक बार उसकी पुकार सुनी, उस अनवगुंठिता मोहिनी को एक बार आँखों देखा, उसके लिए घर-गिरस्ती करना नामुमकिन है, एकदम असम्भव।

काफी रात गए कमरे से बाहर निकल कर मैंने अँधेरे प्रांतर या छाया-हीन चाँदनी रात के रूप को प्रायः देखा है। उसके उस सौन्दर्य पर पागल हो जाना पड़ता है---कहने में मैं अतिरंजना नहीं कर रहा, मेरा खयाल है, कमजोर दिलवालों को वह रूप देखना ही नहीं चाहिए ; वह रूप सर्व-नाशी है, सबके लिए उसका धक्का सँभालना संभव नहीं।

मगर यह बात भी सही है कि प्रकृति का वह रूप देखना एक सौभाग्य की बात है। जहाँ-तहाँ ऐसा सुनसान विशाल वन-प्रांतर, पहाड़ियों की दूर प्रसारी पंक्ति, झाऊ और कसाल के जंगल मिलते भी कहाँ हैं? फिर कहीं मिलें भी, तो उनके साथ गहरी निशीथिनी की नीरवता और उसके अंधकार या ज्योत्स्ना का संयोग भी होना चाहिए। अगर इतने सुयोग सबको सुलभ होते, तो यह दुनिया कवि और पागलों से भर नहीं गई होती?

एक घटना सुनाऊँ कि मैं ने एक दिन किस तरह प्रकृति के उस रूप के दर्शन किए। पूर्णियाँ से मुझे वकील का तार मिला कि दूसरे दिन मुझे वहाँ हाजिर रहना है, नहीं तो एक बहुत बड़े मामले में अपनी हार हो जायगी।

पूर्णियाँ वहाँ से पचपन मील दूर था। रात को गाड़ी सिर्फ एक ही जाती थी और जब तार मिला, उसके बाद कटोरिया स्टेशन जाकर उस गाड़ी को पकड़ सकना संभव ही नहीं था।

तै किया कि घोड़े से तुरन्त रवाना हो जाऊँ। लेकिन एक तो बड़ी लम्बी दूरी, फिर खतरों से भरी राह, खासकर रात को। लिहाजा यह भी निश्चय किया कि मेरे साथ तहसीलदार सुजनसिंह भी चलेगा।

शाम होते ही दोनों घोड़े से रवाना हो गए। कचहरी के अहाते से निकल कर जंगल में पहुँचते ही जरा देर में तीज वदी का चाँद उग आया।-मद्धिम चाँदनी में वन-प्रांतर और भी अद्भुत दिखने लगा। मैं और सुजनसिंह। दोनों पास-पास चल रहे थे। ऊबड़-खाबड़ राह। सफेद बालू चाँदनी में चिकिचिक कर रहा था। कहीं-कहीं झाड़ियाँ मिलतीं—झाऊ और कसाल का ही जंगल यहाँ-वहाँ। सुजनसिंह बातें करता जा रहा था। चाँदनी निखरती आ रही थी और जंगल, रेती, धीरे-धीरे स्पष्ट होती जा रही थी। जंगल का मस्तक-प्रदेश बड़ी दूर तक किसी एक सरल रेखा-सा दौड़ गया था, जहाँ तक निगाह जा रही थी, एक ओर धू-धू प्रांतर और दूसरी ओर जंगल और जंगल। बाई तरफ पहाड़ियों की कतार। निर्जन, नीरव। आदमी का नाम तक कहीं नहीं। न कोई शोर, न कोई शब्द। मानो किसी अचीन्हे ग्रह की सूनी वन-वीथी में हम दो, महज दो जीव चले जा रहे हों।

एक जगह अचानक ही सुजनसिंह ने घोड़े को खड़ा कर दिया। क्यों आखिर? बगल के जंगल से एक सूअरी अपने नन्हें बच्चों की जमात लिए हमारा रास्ता काटकर सामने से दूसरी तरफ चली गई। सुजनसिंह ने कहा—"फिर भी गनीमत है हुजूर, मैंने तो समझा था, जंगली भैंसा न हो कहीं।" हम मोहनपुरा जंगल के करीब जा पहुँचे थे। यहाँ जंगली भैंसों का पल-पल पर खतरा था। उस दिन भी एक आदमी का काम तमाम कर दिया था भैंसे ने।

जरा ही दूर गए होंगे कि चाँदनी में दूर पर काला-काला सा सचमुच ही कुछ दिखाई पड़ा।

सुजनसिंह बोला—"घोड़े को रोक लें हुजूर, भय से भड़क जायगा।"

रुका। मगर देर तक देखकर पता चला, वह न तो हिलता है, न डुलता है! सँभल-सँभल कर समीप पहुँचा। देखा, वह कसाल की एक झोंपड़ी

थी ! हमने घोड़े को एड़ लगाई। निखरी-बिखरी चाँदनी से खिली दुनिया—न जाने कौन-सी साथी-विहीन चिड़ियाँ जंगल में या कहीं टी-टी पुकार रही थी—घोड़ों के खुर से बालू बेतरह बिखर रहा था ; मगर रुकने की गुंजाइश न थी—दे दौड़, दे दौड़...

देर तक लगातार बैठे रहने से रीढ़ की हड्डी दुखने लगी थी, जीन गरम हो गई थी, घोड़ा छाड़तक से दुलकी चाल पर आ उतरा था। फिर मेरा घोड़ा डरता भी बहुत था, लिहाजा सावधानी से दूर तक निगाह रखते हुए चलना पड़ रहा था। कहीं एक-ब-एक अगर रुक पड़े, तो उसकी पीठ से छिटक कर दूर न जा पड़ूँ, इसकी आशंका थी।

इस जंगल में राह का कोई ठीक-ठिकाना नहीं। कसाल के माथे पर गाँठें बाँध कर राह का निशान बना दिया गया था। उसी से राह का अंदाज किया जाता। एक बार सुजनसिंह ने कहा—"लगता है, राह यह नहीं है हुजूर, हम भटक गए हैं।"

मैंने सतभैये को देखा और ध्रुवतारे का पता किया। पूर्णियाँ अपने यहाँ से ठीक उत्तर पड़ता था। सुजनसिंह को समझा कर कहा—"हम ठीक जा रहे हैं।"

वह बोला—"जी नहीं, कोसी पार करनी है, पार करके तब उत्तर सीधे उत्तर जाना है। अभी हमें उत्तर-पूरब कोने से कतरा कर निकलना चाहिए।"

आखिर राह मिल गई।

चाँदनी और भी निखर आई थी। कैसी अद्भुत थी चाँदनी ! कैसा रूप रात का ! निर्जन रेती में, जंगली झाऊ की वनवाहिनी में, जिसने कभी उसे नहीं देखा, वह जान भी कैसे सकता है कि क्या शक्ल होती है उस चाँदनी की ! ऐसे उन्मुक्त आकाश के नीचे—छायाविहीन उदास गंभीर चाँदनी रात में वन, पहाड़ और प्रांतर के पथ पर, रेती में इस ज्योत्स्ना को देखा ही कितनों ने है ? और उसमें जो दौड़ लगा रहा

था ! दोनों घोड़े दौड़ते-दौड़ते हाँफ उठे। सर्दियों की रात में भी हमारे बदन में पसीना छूट रहा था।

एक सेमल के नीचे दसेक मिनट रुक कर हमने साँस ली। सिर्फ दस मिनट। एक छोटी-सी नदी पास ही कोसी से जा मिली थी। सेमल का पेड़ फूलों से लदा था। यहाँ पर जंगल ने हमें कुछ इस तरह घेर लिया था कि कहीं कोई राह नहीं दिखाई पड़ रही थी, यद्यपि वहाँ पेड़-पौधे निहायत ही छोटे-छोटे थे। एक सेमल ही उन सब में ज्यादा ऊँचा था और जंगल में सब से ऊँचा सिर किए खड़ा था। हम दोनों को बेहद प्यास लग आई थी।

चाँदनी फीकी पड़ने लगी थी। वन-वीथी में अँधेरा—पच्छिम क्षितिज में शैलमाला के पीछे आखिरी रात का चाँद छिपने लगा। छाया लम्बी हो आई। चिड़ियों चुनमुन की कोई काकली नहीं, केवल छाया और छाया। प्रांतर अन्धकार—जंगल अंधकार। सुबह के आस-पास की हवा काफी सर्द हो उठी। रात के करीब चार बज रहे थे। शंका हो रही थी कि इस अँधियारी में कहीं जंगली हाथियों की कोई टोली न आ धमके ! मधुवनी के जंगल में हाथी भी रहते हैं।

अब दो पहाड़ियों के बीच-बीच से राह थी। पहाड़ियों पर पत्र-विहीन पौधों की नंगी डालों पर फूलों की बहार, कहीं-कहीं रक्तपलाश के पेड़ों की भीड़। सुबह के समय चाँद डूबे अँधियारे में अजीब-सा दीख रहा था जंगल। पूरब की तरफ लाली हो आई। प्रभाती हवा, चिड़ियों का कल-रव सुनाई देने लगा। घोड़े पसीने से लथ-पथ थे। वह तो गनीमत थी कि घोड़े अच्छे थे, तब ही तो ऐसे रास्तों पर लगातार दौड़ते ही आए। साँझ के चले-चले सुबह हो आई, मगर राह का कहीं अन्त नहीं था। बस वैसे ही जंगल और पहाड़, पहाड़ और जंगल।

सामने जो पहाड़ था, उसके पीछे से सिंदूर के गोले-सा सूरज निकलने लगा। पास ही एक बस्ती मिली। वहाँ हमने थोड़ा-सा दूध खरीद कर पिया। और दो घंटे चलकर हम पूर्णियाँ पहुँचे।

वहाँ मैंने काम अनमना-सा ही निबटाया, क्योंकि चित्त तो लगा था राह की शोभा में। सुजनसिंह काम खत्म होते ही चल पड़ना चाहता था; मगर चाँदनी रात में राह की विचित्र शोभा देखने के लोभ से मैंने उसे रोका।

आखिर शाम को ही रवाना हुआ। उस दिन चाँद जरा देर से उगा ज़रूर, मगर भोर-भोर तक चाँदनी रही। और क्या गजब की चाँदनी! कृष्णपक्ष के स्तिमित आलोक में वनों, पहाड़ों पर चाँदनी ने मानों एक शांत किन्तु अद्भुत और अजाने स्वप्नलोक की रचना कर दी हो! कास के वही, वैसे ही जंगल, वही ऊँचे-नीचे रास्ते, पहाड़ों की तलहटी पर वही पीले-पीले फूलों का मेला—मानो बहुत दूर का कोई नक्षत्रलोक हो, मानो हम मृत्यु-पार के किसी अनचीन्हे देश में अशरीरी होकर उड़े जा रहे हों—उड़े जा रहे हों भगवान् बुद्ध के उस निर्वाणलोक में, जहाँ चाँद तो नहीं उगता, मगर जहाँ अँधेरा भी नहीं होता।

बहुत बहुत दिनों के बाद जब इस लापरवाह और आजाद जिन्दगी को छोड़कर दुनियादारी में पैठा, तो कलकत्ता की तंग गलियों में भाड़े के मकान में बैठा अपनी स्त्री की सिलाई की मशीन की घिच-घिच में जाने कितनी ही बार इस रात की बात सोचता रहा, सोचता रहा इस अपूर्व आनन्द की, चाँदनी नहायी रहस्यमयी इन वन-पंक्तियों की बात, रात के अंतिम प्रहर में चाँद-डूबे अँधियारे में पहाड़ पर सफेद डंठलों पर फूले इन फूलों की बात, सूखे कास-वन से उड़कर आती हुई सौंधी-सौंधी महक की बात! जाने कितनी बार कल्पना में घोड़े की पीठ पर सवार होकर चाँदनी रात में मैं पूर्णियाँ गया हूँगा।

[दो]

आधा चैत बीता होगा कि एक दिन समाचार मिला—सीतापुर बस्ती में कोई राखाल बाबू बंगाली डॉक्टर थे, वे रात को एकाएक मर गए।

इसके पहले इनका नाम मैंने कभी नहीं सुना था, न ही यह पता था

कि ये उस बस्ती में रहते थे। अब जाना कि वे बीस वर्षों से इसी गाँव में हैं। इलाके में उनका नाम-गाम अच्छा था, घर-द्वार भी बनवाया है न, बाल-बच्चे भी वहीं हैं।

अबंगाली इलाके में एक बंगाली सज्जन का देहान्त हो गया। उनके बाल-बच्चों की क्या हालत है, कौन उन सबकी देख-भाल करता है, उनके संस्कार या श्राद्ध-शान्ति का क्या हो रहा है, इन बातों को जानने के लिए मेरा जी मचल उठा। वहाँ जाकर उस शोक-संतप्त परिवार की खोज-खबर लेना मुझे अपना कर्त्तव्य-सा लगा।

पता चला, वह बस्ती यहाँ से कोई बीस मील दूर है। तीसरे पहर मैं वहाँ पहुँचा। पूछ ताछ करके डॉक्टर के घर तक गया। दो तो बड़े-बड़े कमरे थे, तीन छोटे-छोटे। बाहर एक बैठक थी, जैसी कि इधर आम तौर से होती है। उसके तीन ओर दीवारें न थीं। देखकर जान सकना कठिन था कि यह किसी बंगाली का घर है। बैठक की रस्सी की चारपाई से लेकर महावीरी झंडा तक, सब इसी देश के ढंग के थे।

मैंने आवाज दी। एक बारह-तेरह साल का लड़का बाहर निकला। मुझसे उसने ठेठ हिन्दी में पूछा—"आप किसे ढूँढ़ रहे हैं ?"

उसकी शक्ल से जरा भी पता नहीं चलता था कि वह किसी बंगाली का लड़का है। माथे पर यह लम्बी चुटिया ! हाव-भाव तक बिहारी बालकों-जैसा कैसे हो गया ?

मैंने अपना परिचय दिया। कहा—"तुम्हारे घर में जो बड़े आदमी हों, उनको बुला लाओ।"

उसने बताया, "लड़कों में बड़ा वही है। उससे छोटे और दो भाई हैं। घर में दूसरा अभिभावक नहीं।"

मैंने कहा—"मैं तुम्हारी माँ से कुछ बातें करना चाहता हूँ। उनसे पूछ आओ।"

जरा देर में वह लड़का बाहर आया। मुझे अन्दर लिवा ले गया। डॉक्टर बाब की पत्नी की उम्र कम ही लगी, कोई तीस के करीब। अभी-

अभी विधवा हुई हैं। रोते-रोते आँखें सूज गई थीं। निहायत गरीब की गिरस्ती-जैसे सरो-सामान। एक तरफ अनाज रखने की छोटी-सी कोठी; बरामदे में दो-एक खाट, फटी-पुरानी कथरी, पीतल की कलसी, एक गड़-गड़ा, टीन का बक्स। मैंने कहा—"मैं एक बंगाली हूँ। पड़ोस में ही रहता हूँ। राखाल बाबू के देहान्त की खबर सुनकर आया हूँ। यह मेरा कर्त्तव्य था। मेरे लायक कोई सेवा हो, तो आप निःसंकोच कहें। किवाड़ की आड़ में खड़ी हुई वह चुपचाप रोने लगीं। मैंने उन्हें दिलासा दिया और फिर से अपने आने का कारण बताया। अब वह मेरे सामने आई। रोते-रोते बोलीं—"आप मेरे बड़े भाई के समान हैं। हमारे इस घोर संकट काल में ईश्वर ने आपको यहाँ भेजा है।"

बातों-ही-बातों में मैंने जाना कि यह परिवार यहाँ बिल्कुल असहाय है। राखाल बाबू साल-भर से ज्यादा बीमार रहे थे। जो भी कुछ घर की जमा-पूँजी थी, सब उनके इलाज और गिरस्ती के खर्च में चुक गई। अब श्राद्ध हो सके, इसका भी ठिकाना नहीं।

मैंने पूछा—"राखाल बाबू यहाँ हैं तो बरसों से, कुछ जोड़ा नहीं था क्या उन्होंने ?"

उनकी स्त्री का लाज-संकोच बहुत हद तक जाता रहा था। उनके चेहरे से लगा, इस प्रयास में और संकट में मुझे पाकर उन्हें मानो मँझधार में किनारा मिल गया हो।

उन्होंने कहा—"मैं बता नहीं सकती, पहले वे क्या कमाते थे। मेरे ब्याह को पन्द्रह साल हुए। मेरी सौत के मरने के बाद उन्होंने मुझसे शादी की थी। मैंने तो यही देखा कि किसी तरह गिरस्ती चल जाती है। यहाँ डॉक्टर को लोग शायद ही फीस के रुपये देते हैं। गेहूँ या मकई देते हैं। पिछले साल माघ में उन्होंने खाट पकड़ी थी। तब से फूटी पाई भी नहीं रही; लेकिन इधर के लोग भले हैं। जिनके भी पास जो पावना था, सब बदले में गेहूँ, मकई, उड़द पहुँचा गए। इसीसे अब तक गुजारा चला, नहीं तो भूखों मर जाने की नौबत थी।"

—"आपका मैका कहाँ है ? वहाँ खबर भेज दी गई है क्या ?"

वह कुछ देर तक चुप रहीं। फिर बोलीं—"खबर देने लायक वहाँ कुछ भी नहीं है। मैंने अपना मैका कभी नही देखा। सुना-भर था कि मुर्शिदाबाद जिले में है। छुटपन से मैं साहबगंज में अपने बहनोई के यहाँ रही। माता-पिता नहीं थे। मेरे ब्याह के बाद मेरी वह दीदी भी जाती रहीं। बहनोई ने दुबारा शादी की है। उनसे अब अपना नाता भी क्या ?"

—"राखाल बाबू के कोई सगे-संबंधी कहीं नहीं हैं ?"

—"अपने सगे कुछ हैं तो, घर पर सुना था ; पर न उन लोगों ने कभी खोज-खबर ली, और न यही कभी वहाँ जाते थे। उनसे बनती नहीं। लिहाजा उन्हें खबर देना-न-देना एक-जैसा है। शायद काशी में मेरे कोई ममिया ससुर हैं ; मगर मुझे उनका भी पता नहीं मालूम।"

बड़ी असहाय दशा। सगा-संबंधी कोई नहीं। अपने-अपनों से रहित इस दूर देश में कई नाबालिग लड़कों वाली इस औरत की दशा पर मैं मर्माहत हो गया। तत्काल जो-कुछ करना चाहिए था, करके मैं लौट आया। अपने सदर दफ्तर को लिखकर सौ रुपये की मदद मँगवाई और श्राद्ध का ठिकाना कर दिया।

इसके बाद भी मैं वहाँ कई बार गया। स्टेट से उनके लिए दस रुपए माहवार की मदद दिलाई। पहली बार के दस रुपए लेकर मैं स्वयं उन्हें देने गया था। दीदी मेरी बड़ी खातिर करतीं, स्नेह-आत्मीयता की बातें करतीं। इसी लोभ से, मौका मिलते ही मैं वहाँ जाया करता था।

[तीन]

लवटोलिया के उत्तर की तरफ एक बड़ा-सा जलाशय है। ऐसे जलाशय को इधर के लोग कुंड कहते हैं। इस जलाशय का नाम था 'सरस्वती-कुंड'।

इस कुंड के उस पार तीन तरफ घना-जंगल था, वैसा जंगल अपने महाल या, लवटोलिया में कहीं नहीं ! इसमें विशाल-विशाल पेड़ थे।

पानी के पास होने की वजह से हो या और किसी कारण से भी हो, इस जंगल में अजीबोगरीब लताएँ और तरह-तरह के वन-फूलों की भरमार थी। इस जंगल ने विशाल सरस्वती-कुंड को तीन ओर से आधे चाँद के आकार में घेर रक्खा था। एक ओर खाली पड़ा था, जहाँ से पूरब का दूर तक फैला नीला आसमान और पर्वतमाल दिखाई पड़ती थी। फलस्वरूप पूरब-पच्छिम कोने पर कहीं बैठकर दाएँ-बाएँ देखने से सरस्वती-कुंड के सौंदर्य की अपूर्वता ठीक समझ में आ सकती थी। बाईं ओर देखने से नजर धीरे-धीरे घने जंगल की गहरी श्यामलता में अपने आपको भुला बैठती और दाएँ और देखने से निर्मल नील जल के उस पार का दूर प्रसारी आकाश तथा धुँधली गिरिमाला की छवि मन को गुब्बारे की तरह फुलाकर पृथ्वी से दूर उड़ा ले जाती।

बहुत बार मैं यहाँ की एक चट्टान पर जाकर बैठा रहता। कभी-कभी दोपहर को जंगल में घूमा करता। बड़े-बड़े पेड़ों के नीचे बैठा-बैठा चिड़ियों का कल-कूजन सुना करता। पौधे बटोरा करता, तरह-तरह के वन-फूल चुना करता। जितनी तरह की चिड़ियों की बोली यहाँ सुनने को मिलती, अपने महाल में उतनी कहीं भी नसीब न थी। इतनी चिड़ियाँ यहाँ शायद इसलिए थीं कि यहाँ फलों की बहुतायत थी, या ऊँचे पेड़ों की फुनगियों पर घोंसला बनाने की सहूलियत थी। इस जंगल में फूल भी बहुत प्रकार के खिलते थे।

कुंड के किनारे का यह घना जंगल लगभग तीन मील से ज्यादा लम्बा था। चौड़ाई कोई डेढ़ मील की होगी उसकी। कुंड के किनारे-किनारे पेड़ों की सघन छाया में शुरू से आखिर तक एक पगडंडी थी। मैं उसी पर घूमा करता। पेड़-पौधों की फाँकों से जहाँ-तहाँ कुंड का सुनील जल और उस पर औंधे पड़े विशाल आकाश की परछाँई तथा दिगंत में खोई शैल-माला दिखाई पड़ती। फुर-फुर हवा बहती, चिड़ियों की तानें सुनाई पड़तीं, वन-फलों की मीठी खुशबू आती रहती।

एक रोज मैं पेड़ की एक डाल पर जा बैठा। इस आनन्द की तुलना

असंभव है। माथे के ऊपर पत्रों की हरियाली का प्रसार, उनकी फाँकों में से झाँकता हुआ आसमान का एक टुकड़ा! एक लत्तड़ में फूलों के झूलते हुए गुच्छे। नीचे ओदी जमीन पर कुकुरमुत्ते! ऐसी जगह, कि सिर्फ सोचते हो रहने का जी चाहता, कितनी अनुभूतियाँ जो भीड़ लगा बैठतीं मन में! मन के अतल में डूबी एक प्रकार की अतिमानस चेतना अन्तस्तल की गहराई से ऊपर उफन आती—आती गहरे आनन्द के रूप में। मानो एक-एक लता-वृक्ष के हृदय की धड़कन को अपनी छाती के रक्त-स्पंदन में अनुभव कर रहा होऊँ।

अपनी जमींदारी के इलाके में चिड़ियों की यह विविधता देखने को नहीं मिलती। वह जैसे एक दूसरी ही दुनिया हो। उसके पेड़-पौधे, जीव-जन्तु सब जुदा ढंग के। जब वसंत के आगमन के प्रमाण प्रकट हो जाते हैं, तब लवटोलिया में एक भी कोयल की कूक नहीं सुनाई पड़ती, चीन्हा-जाना कोई फूल खिला हुआ नजर नहीं आता। वह मानो एक रूखी और कठोर भैरवी मूर्ति हो। सौम्य और सुन्दर तो है; मगर उसमें माधुर्य नहीं। उसकी विशालता और रूखापन ही मन को अभिभूत करता। कोमल वर्जित मालकौस या चौताल का ध्रुपद, मिठास के पर्दे से कोई नाता नहीं रखता— स्वर के गंभीर-उदात्त स्वरूप से मन को एक दूसरे ही स्तर पर ले जाता है।

इस हिसाब से सरस्वती-कुंड को ठुमरी कहें, मीठे स्वर की मधुर और कोमल विलासिता से मन को आर्द्र और स्वप्नमय बना देता। फागुन-चैत की सूनी दोपहरी में तीर-तरु की छाया में बैठकर चिड़ियों के गीत सुनते हुए मन कहाँ और कितनी दूर जो चला जाता! फूले जंगली नीमों के फूल की खुशबू हवा में खिर जाती, जलज लिली खिलते। जाने कब तक वहाँ बैठता और साँझ होने पर वहाँ से लौटता।

रैयतों को जमीन देनी थी, इसलिए नाढा वैहार में नपाई का काम जारी था। अमीनों को काम समझाने के लिए मुझे वहाँ प्रायः जाना पड़ता। लौटते समय सिर्फ सरस्वती-कुंड की वनभूमि में पेड़ों की छाया में जरा

घूम लेने के लोभ से ही पूरब-दक्खिन की ओर से दो-तीन मील का चक्कर काट कर जाता।

उस दिन कोई तीन बजे मैं लौट रहा था। तीखी धूप में जले-तपे मैदान को पार करके पसीना-पसीना होकर मैं उस जंगल की घनी छाँह से होता हुआ, कुंड के किनारे तक गया—मैदान जहाँ खत्म होता है, वहाँ से कुंड का किनारा डेढ़ मील से कम न होगा, कहीं-कहीं तो बल्कि और ज्यादा पड़ता। घोड़े को पेड़ की एक डाल से बाँध दिया और छाया सघन एक पेड़ की छाँह में आयल क्लाथ बिछाकर सो गया। झुरमुटों से मैं चारों तरफ से इस तरह घिरा था कि कोई मुझे देख नहीं सकता। दो ही एक हाथ ऊपर डाल-पत्ते। काठ-जैसी मोटी कोई लताड़ थी, जिसने खुद ही जगह-जगह जुड़कर छत-सी बना रक्खी थी।—जाने कौन-से पेड़ से सेम-जैसे बड़े-बड़े फल मेरी छाती से प्रायः सटे-सटे झूल रहे थे। और भी एक पेड़ था, जाने कौन-सा पेड़, उसके डाल-पत्तों ने उस कुंज के प्रायः आधे हिस्से को घेर रक्खा था, उसमें नन्हें-नन्हें फूलों की भरमार थी। इतने नन्हें फूल कि पास गए बिना दीखते भी नहीं, मगर कितनी गहरी और मीठी सुवास! उस अजाने फूल की खुशबू से वह सूना कुंज जैसे महमहा उठा था!

सरस्वती-कुंड जंगली चिड़ियों का बहुत बड़ा अड्डा है—यह पहले ही कह चुका हूँ। इस जंगल में चिड़ियाँ भी कितनी तरह की थीं, कितने रंग-ढंग की! श्यामा, हरट्टी, तोते, फेजन्ट-क्रो, पोंड़की, हरियल—और भी जानें क्या-क्या! पेड़ों पर चील, बाज, कुल्लो—कुंड के पानी में बगले, सिल्ली, बतखें, कौए, माणिक पंछी जैसी जलचर चिड़िया—कुंड का ऊपरी भाग उनकी कल-काकली से मुखर हो उठा था। उनके उल्लास-भरे कूजन से कान बचाना मुहाल था! बेहद तंग करते। बहुत बार तो आदमी की परवाह भी न करते। देख रहो हैं कि मैं यहाँ सोया हूं, लेकिन दो-ही-एक हाथ के फासले पर जुटकर किच्-किच् शुरू कर दी, मेरी खाक भी परवाह न की!

उनकी यह लापरवाही मुझे बड़ी भली लगी। मैंने उठकर भी देखा, उन्हें कोई खौफ-खतरा नहीं। बहुत जोर मारा, तो जरा खिसक गईं—उड़ी नहीं। जरा देर में फिर नाचती-गाती करीब आ गईं।

जंगली हिरन पहले-पहल मैंने यहीं देखा। मैंने सुना तो था कि अपने जंगल में हिरन हैं, मगर कभी आँखों से नहीं देख पाया था। लेटा था। अचानक कुछ आहट मिली। मैं उठ बैठा। सिरहाने की तरफ जो झाँका, तो देखा कि घनी झाड़ी के एकांत में एक हिरन खड़ा है। गौर से देखा, हिरन बड़ा नहीं था, हिरनौट था। मुझ पर निगाह पड़ते ही वह अपनी दो बड़ी-बड़ी आँखों में अबोध विस्मय लिए देखता रहा, सोचने लगा—आखिर यह कौन-सा जीव है!

आध मिनट बाद और अच्छी तरह देखने के लिए वह जरा आगे बढ़ आया। उसकी आँखों में मानव-शिशु-जैसी साग्रह कौतूहल-दृष्टि थी। कह नहीं सकता, वह और भी समीप आता या नहीं; मगर मेरे घोड़े ने इतने में अपना पैर झाड़ दिया। चकित और भीत हरिन -शावक भागकर झाड़ी में घुस गया, शायद वह अपनी माँ को यह खबर देने चल दिया हो।

मैं और भी कुछ देर तक वहाँ बैठा रहा। पेड़ों की फाँकों में से कुंड का सुनील जल दिखाई पड़ता था, जो आधे चाँद के आकार में सुदूर गिरि-माला के कदमों तक फैला था—आसमान खुला, कहीं भी बादल का नाम नहीं। जलचर पंछियों ने आपस में चोंचबाजी करके बेहद शोर करना शुरू कर दिया। एक गंभीर और प्रौढ़ माणिक पंछी ने पेड़ की फुनगी पर से रह-रह कर आजिजी दिखानी शुरू की। बगुलों ने किनारे के पेड़ों की डाल पर पंचायत-सी बिठाई थी—दूर से ऐसा लग रहा था, मानो सफेद फूल खिले हों।

धूप धीरे-धीरे लाल हो उठी।

पहाड़ियों पर जैसे ताँबा बिखर गया हो। डैने फैलाकर बगले उड़ने लगे। धूप पेड़ों की फुनगी पर जा सिमटी।

चिड़ियों की चहक बढ़ गई, साथ ही बढ़ गई उस अजाने वन-फूल

की मीठी खुशबू। तीसरे पहर की छाया में वह सुगंध मानो और भी गहरी, और भी मधुर हो उठी। एक नेवला सिर उठाए हुए दूर खड़ा मुझे देख रहा था।

कैसी निभृत शान्ति ! कैसा अजीब सुनसान ! कोई साढ़े तीन घंटे तो मुझे यहाँ हो गए, लेकिन इन चिड़ियों की बोली के सिवाय दूसरा कोई शब्द ही नहीं, उनके पैरों की खरोंच से पत्तों या सूखे पत्तों के गिरने की आवाज। बस। आदमी की कहीं गन्ध तक नहीं।

पेड़ों की चोटियों की अजीबोगरीब बनावट। शाम की रंगीन धूप से उनकी और भी अनोखी शोभा निखर आई। कितने पेड़ों से कितनी लताएँ लिपटी हैं; इस तरह की लता को इधर भियोटा लता कहते हैं, मैंने उसका नाम रक्खा भौटा-लता। यह लता जिस पेड़ से टिकेगी, उसकी गाँठ-गाँठ को लपेट लेगी। इन्हीं दिनों इस लता में फूल खिलते हैं। जंगली जूही-जैसे छोटे-छोटे फूल; उतने बड़े पेड़ को फूलों ने अपनी आभा से प्रकाशित कर रक्खा था। मजे की खुशबू, सरसों के फूल-जैसी, मगर उतनी तेज नहीं।

हरसिंगार के पेड़ों की भरमार। कहीं-कहीं तो तादाद में इतना ज्यादा, कि लगता, यह हरसिंगार का ही जंगल है। शरत्काल के सबेरे नीचे की चट्टानों पर ढेर-के-ढेर हरसिंगार के फूल चू-चू पड़ते थे। उन चट्टानों के आस-पास एक तरह की लम्बी और रूखी घास, उनके साथ मैना-काँटा का गठबंधन—काँटा, घास और चट्टान, सब पर ढेर-के-ढेर हरसिंगार। सर्द और छायागहन स्थान होने के कारण सुबह को झरे फूल बिलकुल सूख नहीं गए थे !

जानें कितनी तरह से इस कुंड को मैंने देखा ! लोग-बाग कहते थे, कुंड के पास के जंगल में बाघ है। चाँदनी रात को उसकी ज्योत्स्ना-स्नात शोभा देखने के लोभ से कात्तिकी पूर्णिमा की रात को तहसीलदार बनवारीलाल की आँखों में धूल झोंककर आजमाबाद कचहरी जाने के बहाने लवटोलिया डिहि होता हुआ मैं वहाँ पहुँच गया।

बाघ तो नहीं देख पाया, लेकिन मुझे सचमुच ही ऐसा लगा कि चाँदनी में नहाए इस कुंड में मायाविनी वन-देवियाँ जल-केलि को आती होंगी। चारों तरफ सन्नाटा, केवल पूर्वी किनारे के घने जंगल में सियार बोल रहे थे। दूर की गिरि-माला और जंगल धुँधले दिखाई दे रहे थे। हिम-शीतल हवा में पौधों और भ्रमर-लतिका के फूलों की भीनी खुशबू। मेरे सामने बिछी थी वन और पहाड़ों से घिरे कुंड की तरंग-विहीन छाती पर हेमन्ती पूनो की टह-टह चाँदनी, खुली, छायाहीन पानी पर पड़ी, नन्हीं लहरों पर प्रतिफलित होनेवाली अपार्थिव देवलोक की चाँदनी। पेड़ों से भ्रमर-लतिकाएँ लिपटी थीं, उनमें बेशुमार सफेद फूल खिले थे। लग रहा था, जैसे परियों के श्वेत वस्त्र उड़ रहे हों।

झींगुर-जैसा ही कोई दूसरा कीड़ा लगातार चीख रहा था। कभी-कभी पत्ते गिरने की आवाज, कभी-कभी पत्ते हिलाते हुए जंगली जीव-जन्तु के भागने की आहट...

हम सबके सामने तो वन-देवियाँ नहीं आ सकतीं। कब, कितनी रात गए आती हैं, कौन जाने! उस सर्दी में ज्यादा देर तक रुकना संभव नहीं था, सो लगभग घंटा-भर रहकर मैं लौट आया।

सरस्वती-कुंड में परियाँ आती हैं, यह मैंने यहीं सुना था।

सावन के महीने में उत्तरी सीमा के पैमाइश-कैंप में मुझे एक रात बितानी पड़ी थी। मेरे साथ था रघुबरप्रसाद अमीन। वह पहले सरकारी नौकर था। इन जंगलों से उसका परिचय कोई बीस साल का था।

सरस्वती-कुंड का जिक्र आते ही उसने कहा—"हुजूर, वह तो माया-कुंड है। रात को उसमें हूर-परियाँ उतरती हैं। चाँदनी रात में वे अपने कपड़े पास की चट्टानों पर उतार कर रख देती हैं, फिर जल-केलि के लिए पानी में उतरती हैं। ऐसे वक्त जो उन्हें देख लेते हैं, उन्हें भुला-फुसलाकर वे पानी में डुबा मारती हैं। चाँदनी रात में कभी-कभी उन परियों के मुख-मंडल नील जल में खिले कमलों के समान दिखाई पड़ते हैं। मैंने तो अपनी आँखों से कभी नहीं देखा; पर हेड सर्वेयर फतहसिंह ने एक बार देखा था।

एक दिन काफी रात बीते वे इसी कुंड के पास से जंगल की राह अपने कैंप को लौट रहे थे। दूसरे दिन सबेरे कुंड में उनकी लाश तैरती पाई गई। मछलियों ने उनके एक कान का ही सफाया कर दिया था। हुजूर, आप इस तरह वहाँ न जाया करें।"

इसी कुंड के किनारे एक रोज एक अजीब आदमी से मुलाकात हो गई। मैं सर्वे-कैंप से इसी रास्ते से धीरे-धीरे लौट रहा था। देखा, जंगल में कोई आदमी मिट्टी खोदकर न जाने क्या कर रहा है। पहले तो सोचा, वह मिट्टी खोदकर भुँइ कोंहड़ा निकाल रहा होगा। यह कोंहड़ा लगता तो लत्तड़ ही में है, लेकिन मिट्टी के अन्दर। ऊपर से उसका सुराग ही नहीं लग सकता। चूँकि वैदों को वह दवा के काम लगता है, इसलिए अच्छी कीमत पर बिक जाता है। मुझे कौतूहल हुआ। पास पहुँचकर मैं घोड़े से उतर पड़ा। कहाँ का कोंहड़ा, वह तो माटी गोड़ कर कोई बीज बो रहा था।

मुझे देखकर वह सकपका गया और अप्रतिभ होकर मेरी ओर ताकने लगा। काफी उम्रवाला आदमी था—सिर के बाल कच्चे-पक्के थे। उसके पास टाट की एक थैली थी, जिसमें से फावड़े का जरा-सा हिस्सा बाहर झाँक रहा था। बगल में खंती पड़ी थी, जहाँ-तहाँ कागज के मुड़े-सिकुड़े टुकड़े पड़े थे।

मैंने पूछा—"आप क्या कर रहे हैं यहाँ ?"

उसने पूछा—"हुजूर क्या मैनेजर बाबू हैं ?"

—"हाँ। और आप ?"

—"नमस्ते हुजूर! मेरा नाम युगलप्रसाद है। नवटोलिया में आपके जो पटवारी हैं बनवारीलाल, मैं उनका चचेरा भाई हूँ।"

मुझे याद आ गया, पटवारी ने कभी बातों-बातों में अपने चचेरे भाई का जिक्र जरूर छेड़ा था। आजमाबाद कचहरी में, यानी जहाँ मैं था, मुहर्रिर की एक जगह खाली थी। उसी सिलसिले में उसकी बात आई थी। मैंने ही एक अच्छे आदमी की तलाश के लिए उससे कहा था। बनवारी-

लाल ने दुःख जाहिर करते हुए कहा था--"आदमी तो उसका अपना चचेरा भाई ही है, लेकिन अजीब-सा है। अजीब खयाली और लापरवाह। वरना कैथी का उतना सुन्दर हरूफ लिखने वाला और पढ़ा-लिखा आदमी इस इलाके में कम ही है।"

मैंने पूछा था--"क्यों, वह करता क्या है ?"

बनवारी ने कहा था--"वह कुछ न पूछिए हुजूर, जाने कितनी ऐसी आदतें हैं उसकी। इधर-उधर भटकते चलना भी उसका एक मर्ज है। करता-धरता कुछ नहीं, शादी-ब्याह किया है, मगर गिरस्ती नहीं देखता, जंगल की खाक छाना करता है, लेकिन साधु-संन्यासी भी नहीं है, जाने क्या है, कैसा है !"

ओह हो, तो यही बनवारी का चचेरा भाई है !

मेरा कौतूहल और भी बढ़ गया। पूछा--"यह क्या बो रहे हो ?"

वह लुक-छिप कर मानो काम कर रहा था और पकड़ाई में आ गया, उसने कुछ शर्मिंदा और अप्रतिभ होकर कहा--"कुछ नहीं हुजूर, एक पेड़ का बीज बो रहा था।"

मैं अचरज में आ गया। किस पेड़ का बीज ? जमीन उसकी अपनी नहीं--घनघोर जंगल। इस जंगल में कौन-से पेड़ का बीज रोप रहा है और ऐसे रोपने की सार्थकता भी क्या है ? मैंने उससे यही पूछा।

बोला--"बीज बहुत तरह के हैं हुजूर। पूर्णिया में मैंने एक साहब की कोठी में एक खासी अच्छी लता देखी थी--बड़े ही खूबसूरत फूल लगे थे उस पर ! उसके बीज भी हैं, और-और फल-फूलों के भी बीज दूर-दूर से खोज-ढूँढ़ कर लाया हूँ। इन जंगलों में "से पेड़ नहीं हैं, इसीलिए रोप रहा हूँ। दो-एक साल में उनकी शोभा निखर आयगी।"

उसके इस अच्छे मतलब से उस पर मुझे श्रद्धा हो आई। बिना किसी स्वार्थ के एक इतने बड़े जंगल की सुन्दरता को बढ़ाने के लिए वह अपना समय और पैसा खर्च कर रहा है, जिस जमीन पर उसका जरा भी हक नहीं--अजीब है !

उसे मैंने बु लाया और दोनों एक पेड़ के नीचे बैठे। उसने कहा—"यह काम मैं आज से नहीं, बरसों से कर रहा हूँ हुजूर, लवटोलिया के जंगल में फूलों के जो पौधे या लत्तड़ आप देख रहे हैं, उन सब के बीज आज से दस-बारह साल पहले मैंने कुछ तो पूर्णिया से और कुछ दक्खिन भागलपुर की लक्ष्मीपुर स्टेट के जंगल से लाकर लगाए थे। अब तो उनके जंगल ही हो गए हैं।"

—"तुम्हें यह काम बहुत पसन्द है, क्यों ?"

—"लवटोलिया के बैहार का जंगल बहुत सुन्दर है हुजूर—इन छोटे-छोटे पहाड़ों और जंगलों में तरह-तरह के फूलों का मेला लगाने का मुझे बड़ा शौक रहा है।"

—"कौन-कौन से फूल लाते रहे ?"

—"पहले हुजूर को यह सुना लूँ कि मेरा जी इधर कैसे लगा। मेरा घर पड़ता है धरमपुर इलाके में। वहाँ जंगली भाँड़ी के फूल बिलकुल नहीं मिलते थे। मैं छुटपन में अपने गाँव से दस-पन्द्रह कोस दूर कोसी के किनारे-किनारे भैंसे चराया करता था। उधर जहाँ-तहाँ उस फूल की निखरी हुई शोभा देखा करता था। मैंने उसके बीज लाकर अपने यहाँ लगाए। अब यह हालत है कि अपने यहाँ रास्तों के किनारे, लोगों के घर के पिछवाड़े, जंगल-झाड़ में, जहाँ देखिए इस फूल की भरमार हो गई है। बस, तभी से मेरे दिमाग में यह बात घर कर गई कि यहाँ जो लता-फूल नहीं हैं, उन्हें ला-ला कर लगाऊँगा। तमाम जिन्दगी यही करता रहा हूँ, अब तो मैं इस काम में डूब ही गया हूँ।"

सचमुच युगलप्रसाद इधर होने वाले बहुतेरे फूलों और खूबसूरत लताओं की जानकारी रखता था। इसका वह एक विशेषज्ञ था, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं रहा। मैंने पूछा—"एरिस्टलोकिया लता को जानते हो तुम ?"

मैंने उसे उस लत्तड़ के फूल का हवाला दिया। सुनकर वह बोला—

"हंस-लता ? हंस की शक्ल के फूल जिसमें लगते हैं ? वह लता इधर की नहीं है । मैंने पटना में बाबुओं के बाग में उसे देखा है ।"

उसकी जानकारी पर हैरत हुई । सौन्दर्य के ऐसे पुजारी मिलते ही कितने हैं ? जंगलों में लता और फूल के बीज बोने में उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं, कौड़ी की आमदनी नहीं होती इससे, आप बेचारा निहायत गरीब, फिर भी जंगल की शोभा-सुषमा बढ़ाने के लिए ऐसा अथक उत्साह और अटूट उद्योग !

उसने कहा—"सरस्वती-कुंड-जैसा खूबसूरत जंगल इस इलाके में और कहीं नहीं है बाबूजी । बेहिसाब पेड़ हैं और कुंड के पानी की शोभा ! क्या कहना है उसका ! अच्छा , यह तो बताएँ, कुंड में कमल लगाऊं तो लगेंगे ? धरमपुर के तो अनेक पोखरों में कमल हैं । सोच रहा था, लाकर लगाऊँ ।"

मैंने मन-ही-मन उसकी सहायता का संकल्प किया । सोचा, हम दो जने मिलकर जंगलों का नई-नई लताओं , पेड़ों और फूलों से शृंगार करेंगे । उस दिन से मुझे तो इसका नशा-सा सवार हो गया । मुझे खबर थी कि युगलप्रसाद को रोटी के भी लाले पड़े हैं, गिरस्ती बेहद तकलीफ से चलती है । मैंने सदर से लिखा-पढ़ी की और आजमाबाद कचहरी में उसे दस रुपये की मुहर्रिर की एक जगह दिलाई ।

उसी साल मैं कलकत्ता से साटन के विदेशी वन-फूलों के बीज ले आया । डूअर्स पहाड़ से जंगली जूही की लता के टुकड़े लाए और सरस्वती-कुंड के आस-पास लगाए । युगलप्रसाद के उत्साह और आनन्द का क्या पूछना ! मैंने उसे सिखलाया कि तुम्हारे इस आनन्द और उत्साह की खबर कचहरी के लोगों को न लग सके । नहीं तो तुम्हारा तो जो होगा, हो होगा, लोग मुझे भी पागल बना छोड़ेंगे । दूसरे ही साल बरसात में पेड़ और लताएँ गजब की बढ़ गईं । कुंड के पास की जमीन काफी उपजाऊ थी और जो पौधे मैंने लगाए थे, वे यहाँ की आब-हवा के अनुकूल थे । हाँ, साटन के बीजों की जो पुड़ियाँ थीं , उनमें जरा गोलमाल हो गया । पुड़ियों पर फूलों

के नाम और किसी-किसी पर उसका मुख्तसर में परिचय भी दिया था। रंग और शकल में अच्छा समझकर जिन बीजों को लगाया, उनमें से 'व्हाइट विम', 'रेड कैस्पियन' और 'स्ट्रिचवार्ट' ही बेतरह बढ़े। 'फॉक्सग्लाव' और 'उड्ऐनिमोन' भी बुरे नहीं हुए ; लेकिन लाख प्रयत्न करने पर भी 'डॉग रोज' और 'हॉनीसाक्ल' के पौधे न बचाए जा सके।

पीले धतूरों जैसे एक प्रकार के पौधे कुंड के किनारे-किनारे लगाए गए थे। उनमें बड़ी जल्दी फूल आए। युगल पूर्णियाँ के जंगल से जो वैरा लता के बीज लाया था, सात ही महीने में उनकी लताओं ने बहुतेरे पेड़ों को छा लिया। इसके फूल देखने में जितने सुन्दर होते हैं, उतनी ही मीठी होती है उनकी खुशबू।

हेमंत के शुरू-शुरू में एक दिन नज़र आया, उस लता में बेशुमार कलियाँ लगी हैं। मैंने युगल से यह जो कहा, तो उसने कलम फेंकी और आजमाबाद से सात मील सरस्वती-कुंड तक दौड़ा-दौड़ा गया।

मुझसे उसने कहा—"हुजूर, लोग कहते थे, यह लता बढ़ेगी, फैलेगी सब होगा ; पर फूल नहीं लगेंगे। सब में शायद फूल नहीं लगते ; मगर देखिए, कितनी सुंदर कलियाँ लगी हैं।

पानी में 'वाटर क्रोफ्ट' की जड़ें लगाई थीं। वह तो इस कदर फैलने लगा कि युगलप्रसाद को फिक्र हो आई, कहीं यह कमल को न दबोच बैठे।

इच्छा थी वोगेनविलिया लता मँगाने की भी ; लेकिन लगा, शहरों के बाग-बगीचों से उसका इतना घना संबंध है कि कहीं कुंड की वन्य प्रकृति को वह नष्ट न कर दे। युगल की भी यही राय हुई, उसने भी मना किया।

इसके लिए पैसे भी कुछ कम नहीं खरचे। एक दिन गनौरी तिवारी ने बताया—"कारो नदी के उस पार जयंती पहाड़ पर एक अजीब किस्म के फूल होते हैं—इधर उन्हें दूधिया फूल कहते हैं। पत्ते उसके होते हैं हलदी के पौधे-जैसे चौड़े-चौड़े, पौधा भी करीब-करीब इतना ही बड़ा—लंबे डंठल कोई तीन-चार हाथ ऊपर तक जाते हैं। एक-एक पेड़ में वैसे चार-पाँच डंठल लगते हैं और एक-एक डंठल में चार-पाँच पीले-पीले फूल लगते

हैं। फूल देखने में तो सुंदर होते ही हैं, खुशबू भी बड़ी अच्छी होती है। रात को उससे दूर-दूर तक महमहा उठता है। इस फूल का एक भी झाड़ जहाँ लग गया कि देखने-ही-देखते वहाँ दो-तीन साल में घनघोर जंगल होगया समझिए।"

गनौरी तिवारी से सुना और मेरी नींद हराम हो गई। ये पौधे लाने ही पड़ेंगे। उसने बताया, बरसात से पहले वह नहीं लाया जा सकता। उसकी जड़ें लानी हैं—पानी बिना वे मर जायँगी।

रुपये-पैसे देकर मैंने युगल को भेजा। उसने जयंती पहाड़ के दुर्गम जंगल से बड़ी-बड़ी मुश्किल से दूधिया की दस-बारह गंडे जड़ों का किसी तरह इंतजाम किया।

———

नवाँ परिच्छेद

[एक]

लगभग तीन साल निकल गए।

इस तीन साल के अरसे में मुझमें बहुत परिवर्तन आ गया। लवटोलिया और आजमाबाद की वन्य-प्रकृति ने मेरी आँखों में न जाने कैसा माया-काजल आँज दिया कि शहर को मैं करीब-करीब भूल ही गया। निर्जनता के मोह ने, तारों से भरे उदार आकाश के मोह ने मुझे इस बुरी तरह जकड़ लिया कि बीच में एक बार कई दिनों के लिए पटना जो गया, तो वहाँ की कोलतार पुती बँधी-बँधाई सड़कों के सँकरे दायरे से लवटोलिया बैहार आ जाने के लिए जी छटपटाने लगा—प्याले के समान उलटे पड़े नीले आसमान के नीचे, जहाँ मैदान और मैदान हैं, जंगल और जंगल है, जहाँ बनाई हुई सड़कें नहीं, ईंटों के बने मकान नहीं, मोटर के भोंपू की भद्दी आवाज नहीं, गहरी नींद के अवधान में जहाँ दूर जंगल में सियारों की टोली प्रहर की सूचना देती है, या नीलगायों की भागती जमात के खुरों की आवाज या भैंसों का गर्जन सुनाई पड़ता है।

ऊपर से बार-बार तकाजे आने लगे थे कि रैयतों को जमीन क्यों नहीं दी जा रही है। मैं खूब समझता था कि मेरा यहाँ यही प्रमुख काम था ; पर मेरी इच्छा रैयत बसा कर प्रकृति के ऐसे एकांत निकुंज को नष्ट करने की नहीं हो रही थी। आखिर जो जमीन लेंगे, वे उसे पेड़-पौधों से सजाने के लिए तो लेंगे नहीं—लेंगे और उसे साफ-सुथरी करेंगे, अनाज उपजाएँगे, घर-द्वार बनाकर रहेंगे—यह निर्जन शोभामय वन-प्रांतर, जंगल, कुंड, पहाड़ियाँ, सब जनपद में बदल जायँगी। लोगों की भीड़ से डरकर वन-लक्ष्मियाँ हाँफती हुई भाग खड़ी होंगी। मनुष्य आकर इस माया-कानन की माया को भी मिटा देंगे। इसकी सुंदरता भी बर्बाद कर देंगे।

उस जनपद की तसवीर मैं अपनी आँखों से साफ देख रहा था। पटना, मुंगेर या पूर्णियाँ जाते हुए इधर-जैसे जनपद हर जगह मिलते थे। बदसूरत घरों की भीड़, एकमंजिला या दुमंजिला, फूँस के छप्पर, सीझ के काँटे, गोबर के ढेर से घिनाये गोहाल, रहट से पानी निकालना, मैले कपड़ों से लिपटे नर-नारियों की भीड़, मंदिर में उड़ते हुए महावीरी झंडे, गले में चाँदी की हँसुली डाले नंग-धड़ंग बालक-बालिकाओं के धूलि-धूसरित दल सड़क पर खेल में मस्त।

यह सब देकर बदले में क्या मिलेगा!

ऐसी विशाल, रोक-बंधन-हीन उद्दाम सौंदर्यमयी अरण्यभूमि देश की बहुत बड़ी दौलत हुआ करती है। और कोई देश होता, तो कानून द्वारा यहाँ नेशनल पार्क बनाकर रखता। कामों से थके-हारे शहर के लोग समय-समय पर यहाँ आकर प्रकृति के साहचर्य से अपने श्रांत-क्लांत मन को ताजा बनाकर लौटते। मगर यहाँ तो ऐसा होने से रहा, जमीन जिसकी है, वह रैयतों को न देकर इसे यों कैसे छोड़ देगा?

मैं यहाँ रैयत बसाने के लिए ही आया था—मगर इस अरण्य-प्रकृति को ध्वंस करने के लिए आकर अनोखी सुंदरी इस वन्य नायिका के प्रेम में फँस गया। यदा-कदा घोड़े पर जब मैं छाया-गहन तीसरे पहर या मुक्ता-शुभ्र चाँदनी रात में घूमने निकलता, तब चारों तरफ देखकर बार-बार यही जी में आता कि ये सब मेरे ही हाथों से नष्ट होंगे? चाँदनी में खोया-खोया-सा उदास और सुनसान प्रांतर! इस चतुरा सुंदरी ने किस तरह से मुझे मोह रक्खा है!

मगर जो काम करने आया था, उसे करना ही था। माघ के अंत में पटना से छट्टूसिंह नाम का एक रजपूत आया। उसने हजार बीघा जमीन के लिए अर्जी दी। मैं काफी पेशोपेश में पड़ गया। हजार बीघे में तो काफी जगह बर्बाद हो जायगी, जाने कितनी सुंदर झाड़ियाँ, और लता-वितान कट जायँगे!

छट्ठूसिंह कचहरी का चक्कर काटने लगा। मैने उसकी दरखास्त को सदर में भेज दिया—इस विनाश में कुछ तो देर हो जाय।

[दो]

एक दिन दोपहर के बाद लवटोलिया के जंगल से उत्तर नाढ़ा बैहार होकर लौट रहा था। देखा, रास्ते के किनारे कोई पत्थर पर बैठा है।

मैंने उसके समीप जाकर घोड़े को रोका। वह आदमी साठ से कम का न होगा। कपड़े मैले, बदन पर एक फटी-सी चादर।

इस सुनसान मैदान में आखिर वह कर क्या रहा है? उसने मुझसे पूछा—"आप?"

मैंने कहा—"मैं यहाँ के जमींदार का एक कारिन्दा हूँ।"

—"तो क्या आप मैनेजर बाबू हैं?"

—"हाँ मैं मैनेजर हूँ। कोई काम है?"

वह उठ बैठा। जैसे आशीर्वाद कर रहा हो, इस ढंग से उसने हाथ ऊपर उठाया। उसने कहा—"जी, मेरा नाम मटुकनाथ पांडे है। ब्राह्मण हूँ। हुजूर के ही पास जा रहा था।"

—"मेरे पास? क्यों?"

—"हुजूर मैं बेहद गरीब हूँ। आपका नाम सुनकर बड़ी दूर से पैदल ही आ रहा हूँ। तीन दिनों तक चलता ही रहा हूँ—आपकी दया से जीविका का अगर कोई हीला हो जाय।"

मुझे कौतूहल हुआ। पूछा—"ये तीन दिन जो आप जंगलों की राह चलते रहे, सो खाया क्या?"

मटुकनाथ की मैली चादर की कोर में उड़द का सत्तू बँधा था। उसे दिखाते हुए वह बोला—"सेरभर सत्तू लेकर घर से निकला था। वही खाता आ रहा हूँ। रोजी की खोज में निकला हूँ हुजूर। सत्तू तो खतम हो आया—ईश्वर फिर कुछ बंदोबस्त कर देंगे।"

चादर के कोने में सत्तू बाँधकर आजमाबाद और नाढ़ा बैहार के

जन-शून्य प्रांतर में वह किस रोजगार की उम्मीद लेकर आया है, मैं यह नहीं समझ सका। मैंने कहा—" भागलपुर, मुंगेर, पूर्णियाँ जैसे बड़े-बड़े शहरों के होते हुए इस जंगल में कैसे आ निकले पांडेजी ? यहाँ क्या होना है। आदमी कहाँ हैं यहाँ—कुछ देगा भी तो कौन ?"

उसने निराशा भरी निगाह से मुझे देखते हुए कहा—" यहाँ जीविका का कोई ठिकाना नहीं होगा बाबू ? फिर मैं जाऊँ कहाँ ? शहर में मैं किसी को नहीं जानता, वहाँ की राह-बाट का भी पता नहीं, डर लगता है। इसीसे इधर आया हूँ।"

वह मुझे बड़ा भला, भोला और बेचारा लगा। मैं उसे साथ-साथ कचहरी तक लिवा ले गया।

कई दिन बीत गए, मैं मटुकनाथ को कोई काम न दिला सका। देखा, वह कोई काम भी नहीं जानता, मामूली ही संस्कृत पढ़ी थी। वह पंडित-पुजारी का काम कर सकता था। टोल में लड़कों को पढ़ाया करता था। वह मेरे सामने संस्कृत के श्लोक पढ़कर मेरा मनोरंजन करने की कोशिश करने लगा।

एक दिन उसने कहा—" हुजूर, मुझे कहरी के पास थोड़ी-सी जमीन देकर एक संस्कृत पाठशाला ही खुलवा दें। "

मैंने कहा—" उस पाठशाला में आखिर पढ़ेगा कौन पंडितजी ? ये जंगली भैंसे और नीलगाएँ क्या भट्टी और रघुवंश समझेंगी ? "

मटुकनाथ बड़ा सीधा-सादा आदमी था। शायद बिना कुछ सोचे-समझे ही उसने यह बात कह दी थी। मैंने सोचा—अब समझकर वह इससे जरूर बाज आएगा। लेकिन दो-चार दिन मौन रखकर उसने फिर वही प्रस्ताव रक्खा। बोला—" मिहरबानी करके मुझे संस्कृत पाठशाला खुलवा दें हुजूर। एक बार कोशिश तो कर देखूँ। न होगा, तो मैं जाऊँगा कहाँ ? "

अजीब मुसीबत। आदमी यह खब्ती तो नहीं है ! उसके चेहरे को देखकर दया हो आती। बड़ा ही सरल आदमी—तीन-पाँच नहीं जानता।

अबोध-सा आदमी---मगर इतनी उम्मीदें लेकर जाने किसके भरोसे यह यहाँ आ गया है ?

मैंने उसे बहुतेरा समझाया कि मैं जमीन देता हूँ, खेती करो, जैसे राजू पाँड़े करता है। उसने निहोरा करके कहा---"परंपरा से पंडिताई करता आया हूँ, खेती का क-ख भी नहीं जानता, जमीन लेकर करूँ तो क्या करूँ ?"

यों मैं कह सकता था कि पंडिताई करने वाला आदमी यहाँ मरने को आ क्यों गया ? लेकिन कड़वी बात कहते न बनी। वह मुझे बड़ा भला लगा था। आखिर उसे मैंने एक घर बनवा दिया। कहा---"यही पाठशाला हुई। अब आप जानो कि पढ़नेवाले मिलते भी हैं या नहीं।"

मटुकनाथ ने पूजा-पाठ किया, दो-तीन ब्राह्मणों को भोजन कराया। इस तरह संस्कृत पाठशाला की प्रतिष्ठा हुई। इस जंगल में वैसा कुछ मिलता-जुलता भी तो नहीं। मटुक ने मकई के आटे की मोटी-मोटी पूरियाँ बनाई। अपने हाथों, जंगली तोरई भूनीं, बथान से भैंस का दूध लाकर दही जमाया। यही ब्राह्मण-भोजन की सामग्री। निमंत्रितों में अवश्य मैं भी था।

पाठशाला खोलकर कुछ दिनों तक को मटुकनाथ ने बड़ा मजा किया। ऐसे-ऐसे जीव भी दुनिया में रहते हैं।

सुबह की आह्निक-पूजा करके वह खजूर के पत्तों की चटाई बिछाकर पाठशाला में बैठ जाता और 'मुग्धबोध' की प्रति सामने खोलकर सूत्रों की आवृत्ति करता जाता, ठीक जैसे किसी को पढ़ा रहा हो। इतने-जोर-जोर से पढ़ता कि अपने दफ्तर में बैठा मैं उसे साफ सुन लेता था।

तहसीलदार सज्जनसिंह कहता---"ये पंडितजी भी खासे पागल ही हैं। जरा रवैया देखिए हुजूर !"

इसी तरह दो महीने कटे। मटुकनाथ सूने घर में उसी उत्साह से अपनी पाठशाला चलाता रहा। एक बार सुबह, एक बार तीसरे पहर। इतने में आ गई सरस्वती-पूजा। हर साल दावात-पूजा करके ही वाग्देवी की अर्चना कचहरी में होती थी, मूर्ति यहाँ बनवाई भी कहाँ से जाती ? मुझे पता चला,

मटुकनाथ अपनी पाठशाला में अलग से पूजा करेगा, अपने हाथों शायद सरस्वती की प्रतिमा भी बनाएगा।

इस साठ साल के बूढ़े के उत्साह और धीरज की बलिहारी !

हँसते हुए उसने कहा—"यह पूजा मेरी पैतृक पूजा है बाबूजी। मेरे पिताजी अपनी पाठशाला में हरसाल मूर्ति बनवाकर पूजा किया करते थे। अब मेरी पाठशाला में—" मगर पाठशाला कहाँ ?

अवश्य मटुकनाथ ने यह बात कही नहीं।

[तीन]

सरस्वती-पूजा के कोई दस दिन बाद एक रोज मटुकनाथ ने आकर मुझे बताया—"पाठशाला में एक छात्र भर्ती हुआ है। वह आज ही कहीं से आया है शायद ! "

उसने छात्र को मेरे आगे लाकर खड़ा किया। चौदह-पंद्रह साल का एक साँवला-दुबला-सा लड़का, मैथिल ब्राह्मण, बड़ा ही गरीब, जो कपड़े पहने था, उनको छोड़कर दूसरा कोई कपड़ा ही न था उसके पास।

मटुकनाथ के उत्साह की न पूछिए। खुद को रोटी नहीं मिलती ; मगर तुरत उसने उस छात्र के भरण-पोषण का भार उठा लिया। यह उसकी वंशगत प्रथा थी। अब तक पढ़नेवाले छात्रों के अभाव उसके यहाँ की पाठ-शाला की तरफ से ही मिटाए जाते रहे थे, सो पढ़ने के लिए आनेवाले छात्र को उससे लौटाते न बना।

एक-दो महीने के अंदर और भी दो-एक छात्र आ जुटे। एक जून सब भोजन करते, एक जून नहीं। प्यादे चंदे से लाकर मकई का सत्तू, आटा, माढ़ा दिया करते। मैं भी कुछ मदद कर देता। छात्र जंगल से बथुए का साग ले आते और उसी को उबालकर उसी पर एक शाम काट लेते। मटुक-नाथ का भी यही हाल था।

रात के दस-ग्यारह बजे तक पाठशाला के सामने एक बहेड़े के पेड़

के नीचे मैं मटुकनाथ को पढ़ाते देखता। या तो अँधेरे में या चाँदनी रात में। तेल भी नहीं जुटता था रोशनी के लिए।

एक बात पर मुझे अवश्य ही अचरज हुआ कि पाठशाला के लिए जमीन और घर की प्रार्थना के सिवाय उसने कभी भी मुझसे पैसों की मदद नहीं माँगी। यह भी कभी नहीं कहा कि हुजूर, गुजारा नहीं होता, आप कोई और उपाय कर दें। वह किसी से भी कुछ नहीं कहता था। प्यादे लोग अपनी मर्जी से जो चाहे दे देते थे।

बैसाख से लेकर भादों तक उसकी पाठशाला में छात्रों की संख्या काफी हो गई। माँ-बाप द्वारा घर से निकाले कोई दस-बारह गरीब लड़के——मुफ्त में भोजन मिलेगा, इस लोभ से——जाने कहाँ-कहाँ से आकर उसमें दाखिल हो गए। इधर तो कौओं के मुंह से ऐसी बात फैलती है! देखकर लगा, ये लड़के पहले भैंस चराते थे। बुद्धि का पैनापन किसी में न था और वही पढ़ने चले थे काव्य और व्याकरण! दरअसल बेचारे मटुकनाथ को सीधा पाकर उसके कंधों पर सवार होकर मुफ्त खाने को आ गए थे वे, मगर मटुकनाथ को इन बातों का खयाल ही नहीं था, छात्र जुट गए, उसे इसीकी बेहद खुशी थी।

एक दिन खबर मिली, टोल के छात्र आज भूखे ही रह गए हैं, और मटुकनाथ भी। खाने को कुछ नहीं मिला।

मैंने बुलवाकर मटुकनाथ से पूछा।

खबर सही थी। सिपाहियों ने जो थोड़ा-सा आटा और सत्तू दिया था, वह कई दिन पहले ही चुक गया था। कई रोज रात को सीझे हुए बथुए के साग पर रहना पड़ा। आज वह भी नसीब नहीं हुआ। और बथुए का साग खा-खाकर कई छात्रों की तबीयत भी खराब हो गई थी। छात्र अब उसे खाना भी नहीं चाहते थे।

——"तो अब क्या कीजिएगा पाँडेजी?"

——"मेरी तो अक्ल काम नहीं करती हुजूर! इतने छोटे-छोटे लड़के ——भूखे रहेंगे..."

मैंने अपने यहाँ से उन लोगों के लायक दो-तीन दिन का सामान दिलवाया—चावल, दाल, आटा, घी। कहा—"ऐसे पाठशाला नहीं चलने की पाँडेजी। इसे बंद कर दीजिए। आप उन्हें खिलाएँगे क्या और खुद क्या खाएँगे?"

मैंने समझा, मेरी बात से पाँडेजी का जी दुख गया। वह बोला—"ऐसा भी होता है हुजूर! चली-चलाई पाठाशाला उठा दूँ? यह तो मेरा बपौती रोजगार है।"

मटुकनाथ आदमी सदानंद है, ये बातें उसे समझाना बेकार है। मैंने देखा, उन छात्रों के साथ वह मजे में है।

मटुकनाथ की कृपा से हमारी वन-भूमि का एक हिस्सा मानो ऋषि का आश्रम हो उठा था। छात्रगण जोर-जोर से 'मुग्धबोध' के सूत्र रटा करते। कचहरी के मचान पर से फले कद्दू-कोंहड़े चुरा ले जाते, डाल-पत्ते नष्ट करते हुए फूल चुरा ले जाते, यहाँ तक कि कचहरी के लोगों की दूसरी चीजें भी धीरे-धीरे गायब होनी शुरू हो गई। प्यादे आपस में कहने-सुनने लगे कि यह कारगुजारी पाठशाला के लड़कों ही की है।

एक दिन नायब का बक्स खुला पाया गया। उसमें से किसीने कई-एक रुपए और घिसी-घिसी-सी सोने की एक जो अँगूठी थी, गायब कर दी थी। बड़ी हलचल मच गई। कई दिन बाद वह अँगूठी एक छात्र के पास पाई गई। उसने उसे कमर के एक बटुए में छिपाकर रक्खा था। किसी ने देख लिया और खबर कर दी। चोरी के माल सहित वह पकड़ा गया।

मैंने मटुकनाथ को बुलवाया। हकीकत में वह बेचारा बड़ा भला था। उसकी भलमनसाहत का लाभ उठाकर लड़के मनमानी कर रहे थे। सो पाठशाला तोड़ने की जरूरत तो नहीं थी, मगर दो-एक छात्रों को हटाए बिना भी काम नहीं चल सकता था। मैंने कहा—"जो छात्र रह जायँ, मैं उन्हें जमीन देता हूँ। एड़ी-चोटी का पसीना एक करके उसमें मकई, चीना—यह सब उपजाएँ। उसी से गुजारा करें।"

मटुकनाथ ने छात्रों से यह कहा। बारह लड़के थे, उनमें से आठ तो

यह सुनते ही चल दिए। चार रह गए। मेरा खयाल है, वे भी कुछ पढ़ने के खयाल से नहीं रहे, रहे इसलिए कि और कोई चारा ही नहीं था। पहले भैंस चराया करते थे, अब न होगा तो खेती कर लेंगे। तब से उसकी पाठशाला एक तरह से अच्छी ही चलने लगी।

[चार]

छट्ठूसिंह तथा दूसरे रैयतों को कोई डेढ़ हजार बीघा जमीन दे दी गई। नाढ़ा बैहार की भूमि ही ज्यादा उपजाऊ थी ; इसलिए यह सारी जमीन लोगों को उसी में से दी गई। यहाँ की प्रांतर-सीमा के वन बड़े रम्य थे। बहुत बार उधर से गुजरते हुए मेरे जी में होता था, नाढ़ा बैहार का यह जंगल दुनिया का एक ब्यूटी स्पाट है—वह ब्यूटी स्पाट अब गया!

दूर से ही नजर आता, जंगल में आग लगाई गई है। बिना थोड़ा-बहुत जलाए उस घने जंगल को काटना मुश्किल था ; लेकिन वन भी सभी जगह तो नहीं था, दिगंत-व्यापी प्रांतर के किनारे-किनारे था जंगल, प्रांतर के बीच क्वचित्-किंचित् कहीं-कहीं झाड़ियाँ, जानें कैसी-कैसी लताएँ, कौन-कौन-से जंगली फूल।

मैं बैठा-बैठा जंगल के जलने की चट्-चट् आवाज सुनने लगा। कितनी शोभामयी लताएँ खाक हो गईं—यही सोचता रहा। न जानें कैसी तकलीफ होती थी ; इसीलिए उस तरफ को नहीं जाता। देश की एक इतनी बड़ी दौलत, जो चिरकाल तक मनुष्य के मन को शांति और आनंद दे सकती थी, एक मुट्ठी गेहूँ के बदले उसे विसर्जन कर देना पड़ा!

कातिक के आरंभ में एक दिन मैं उस जगह को देखने गया। सारे मैदान में सरसों बोया गया था, बीच-बीच में बस्ती बस गई थी। इसी बीच में गाय-भैंस और स्त्री-पुत्रों के साथ लोग-बाग गाँव बसाकर रहने लगे थे।

जाड़े के बीचों बीच जब उस फूली हुई सरसों से चारों तरफ उजाला-सा फैल गया, तब आँखों के आगे जो अपूरब नजारा पेश हुआ, उसकी तुलना नहीं हो सकती। डेढ़ हजार बीघे का वह विशाल प्रांतर सुदूर क्षितिज के

छोर तक पीले गलीचे से जैसे ढँक गया हो, न कहीं फाँक, न कोई व्यवधान—ऊपर इंद्रनीलमणि-सा फैला नीला आसमान, उसके नीचे पीली-पीली धरती, जहाँ तक नजर जा सके। मैंने सोचा—चलो, यह भी बुरा नहीं हुआ।

एक रोज मैं उन नए गाँवों को देखने गया। एक छट्टूसिंह को छोड़कर बाकी सब गरीब लोग। एक रात्रि-पाठशाला खोलने की बात सोची। सरसों के खेतों के पास बहुतेरे लड़के-लड़कियों को खेलते देखकर उसकी जरूरत महसूस हो आई।

लेकिन कुछ ही दिनों में नए रैयतों ने गोल-माल शुरू कर दिया। ये जरा भी शांतिप्रिय नहीं थे। एक दिन मैं अपनी कचहरी में था। खबर मिली कि नाढ़ा बैहार के रैयतों ने आपस में दंगा-फिसाद शुरू कर दिया है। चूँकि खेतों में मेड़ न थी, इसीलिए झगड़े की शुरूआत हुई। जिसके नाम पाँच बीघे जमीन थी, उसने दस बीघे पर दखल जमाना चाहा। यह भी पता चला कि सरसों की फसल तैयार होने के कुछ दिन पहले ही छट्टू-सिंह ने अपने यहाँ बहु-से रजपूत लठैत बुलवाकर रक्खे थे। क्यों बुलवाए, इसका असली मतलब अब समझ में आया। तीन-चार सौ बीघे में तो उसकी अपनी फसल थी, उसके सिवा नाढ़ा बैहार के डेढ़ हजार बीघे की खेती में से जितना भी हो सके, वह लाठी के जोर से हथिया लेना चाहता था।

अमलों ने मुझे बताया—"यहाँ का यही रवैया है हुजूर, 'जिसकी लाठी, उसकी फसल।'"

जो बेचारे कमजोर पड़ते थे, वे मेरे पास आकर रोने लगे। गरीब गंगोते थे ये। इन्होंने जंगल काटकर महज दस-पांच बीघे जमीन में खेती की थी और उसी के भरोसे बाल-बच्चों सहित खेतों के आस-पास ही घर-द्वार बनाकर बस गए थे। अब एक प्रबल व्यक्ति के जुल्म से उनके सारे वर्ष की मिहनत का फल जा रहा था।

मामला क्या है, यह देखने के लिए मैंने कचहरी के दो प्यादों को वहाँ भेजा था। वे भागे-भागे आए और बोले—"भीमदास टोला की उत्तरी सीमा पर जोरों का दंगा हो रहा है।"

तहसीलदार सज्जनसिंह तथा कचहरी के सभी सिपाहियों को लेकर मैं उसी दम रवाना हो गया। दूर से ही हो-हल्ला सुनाई पड़ा। बैहार के बीच में एक पतली-सी नदी बहती थी। लगा, यह हो-हल्ला ज्यादा उसी तरफ हो रहा था।

नदी के किनारे पहुँचकर देखा—उसके दोनों ही किनारों पर लोग इकट्ठे हैं। साठ-सत्तर आदमी इस पार और उस पार छट्ठूसिंह के तीस-चालीस रजपूत लठैत। लठैत इस पार आने की ताक में थे। इस पार के लोगों ने उन्हें रोकने की कोशिश की थी। इस पार के दो-एक आदमी इस कोशिश में घायल भी हो चुके थे। घायल होकर वे नदी में गिर पड़े थे। छट्ठूसिंह के लोगों ने उनमें से एक की गर्दन को गँड़ासे से काट लेना चाहा था। ये लोग भिड़कर उसे छीन लाए थे। नदी में नाम को ही पानी था, फिल्ली भी नहीं डूबती थी। एक तो पहाड़ी नदी, फिर जाड़ा खत्म हो रहा था।

हम लोगों को देखकर लोगों ने दंगा बंद किया। दोनों तरफ के लोग मेरे पास आए। दोनों ही पक्षों ने अपने को युधिष्ठिर और दूसरे को दुर्योधन बताया। उस गुलगपाड़े में न्याय-अन्याय समझ सकना कठिन था। मैंने दोनों ही दलों के लोगों को इसके लिए अपनी कचहरी में आने को कहा। जो घायल थे, उन्हें लाठी की मामूली-सी चोट लगी थी—जख्म गहरा न था। उन्हें भी मैं कचहरी ले आया।

छट्ठूसिंह के दलवालों ने बताया, वे लोग दोपहर के बाद कचहरी में हाजिर होंगे। मैंने समझा—बात आई-गई हो गई; लेकिन हकीकत में तब भी मैं उन्हें पहचान नहीं पाया था। दोपहर के जरा देर बाद ही खबर मिली वहाँ फिर से दंगा शुरू हो गया है। सिपाहियों को लेकर फिर मैं दौड़ा। नौगछिया थाना वहाँ से पन्द्रह मिल पर था। थाने में खबर देने के लिए घोड़े से एक आदमी को भेज दिया। पहुँचकर मैंने देखा, जैसा सबेरे था, वैसा ही हाल। छट्ठूसिंह ने इस समय और भी बहुत-से लोग जुटा रक्खे थे। मालूम हुआ कि रासबिहारीसिंह राजपूत और नंदलाल गोलावाला छट्ठूसिंह की

मदद कर रहे थे। छट्ठूसिंह खुद सरजमीन पर मौजूद न था, उसका भाई गजाधरसिंह कुछ दूर पर घोड़े पर सवार खड़ा था। उसने मुझे जो देखा, सो खिसक पड़ा। अबकी बार मैंने राजपूत दल के दो आदमियों के हाथों में बंदूकें देखीं।

उस पार से राजपूतों ने चिल्लाकर कहा—"आप हट जाएँ हुजूर, हम जरा इन गंगोतों को सबक सिखा दें।"

मेरे हुक्म से मेरे साथ के लोग दोनों दलों के बीच जा खड़े हुए। मैंने बता दिया कि थाने में खबर भेज दी गई है। अब तक दारोगा-सिपाही आधी दूर आ गए होंगे। और ये बंदूकें किनकी हैं? अगर बंदूक छोड़ी गई, तो उन्हें जेल जाना ही पड़ेगा, खैर नहीं।

जिनके हाथों में बंदूकें थीं, वे दोनों आदमी पीछे हट गए। गंगोतों को बुलाकर मैंने कहा—"देखो, झगड़ा फिसाद की कोई जरूरत नहीं, अपने-अपने घरों को लौट जाओ। मैं यहाँ हूँ। मेरे आदमी यहाँ रहेंगे। अगर तुम्हारी फसल लूटी जायगी, तो मैं जिम्मेदार हूँगा।

गंगोतों के सरदार ने मेरी बात मानी। अपने लोगों के साथ वह कुछ दूर पर एक बकाइन के पेड़ के नीचे जा खड़ा हुआ। मैंनेकहा—"वहाँ भी मत रुको—सीधे घर चले जाओ। पुलिस आ ही धमकी समझो।"

मगर राजपूत इतने से मानने वाले न थे। वे उस पार आपस में न जाने क्या राय-मशविरा करने लगे। मैंने तहसीलदार से पूछा—"सज्जनसिंह, माजरा क्या है? हम पर तो धावा नहीं होनेवाला है?"

तहसीलदार ने कहा—"हुजूर, यह जो नंदलाल ओझा आ जुटा है खतरा उसीका है। वह कंबख्त पूरा डाकू है, डाकू!"

—"तो सावधान रहो। किसी को उस पार मत जाने दो। किसी कदर दो घंटे सँभाल लो, इतने में पुलिस आ पहुँचेगी।"

राजपूतों ने आपस में तै क्या किया, पता नहीं। कुछ लोग मेरे पास आए। बोले—"हुजूर, हम लोग उस पार जायँगे।"

मैंने पूछा—"क्यों?"

—"क्यों क्या, हमारी क्या उस पार जमीन नहीं है ?"

—"ये सारी बातें पुलिस को बताना, आ ही रही है। मैं इधर आने की इजाजत नहीं दे सकता।"

—"हमने ढेर-के-ढेर रुपए सलामी देकर जो जमीन ली है, वह क्या बर्बाद होने देने के लिए ही ? यह तो आपका अन्याय है, जुल्म है।"

—"इस जुल्म की शिकायत भी पुलिस से करना।"

—"तो हमें आप उस पार बिलकुल भी नहीं जाने देंगे ?"

—"पुलिस के आने से पहले नहीं। अपने इलाके में मैं मार-पीट की नौबत नहीं आने दूंगा।"

इतने में हमारी कचहरी के और भी आदमी आ जुटे और उन्होंने अफवाह उड़ा दी कि पुलिस के लोग आ रहे हैं। एक-दो करके धीरे-धीरे छट्ठूसिंह की जमात के लोग खिसकने लगे। उस समय के लिए तो झगड़ा-लड़ाई समाप्त हो गया। मगर वहीं जो उसका सूत्रपात हुआ, सो दिन-दिन बढ़ता ही चला गया। मैं समझ गया कि छट्ठूसिंह-जैसे जालिम राजपूत के हाथों इतनी ज्यादा जमीन बेच देने का ही यह नतीजा है। सारे झगड़े-फिसाद की जड़ यही है। मैंने एक दिन उसे बुलवाया। वह साफ इनकार कर गया कि इन बातों की उसे कतई जानकारी नहीं। बोला—"मेरा ज्यादा समय छपरे में बीतता है। मेरे कारिन्दे क्या करते हैं, उनको मैं क्या जानूं ?"

मैं ताड़ गया, आदमी यह एक ही काइयाँ है। सीधी तौर से काम बनने का नहीं। अगर उसे सबक देना है, तो और ही उपायों की शरण लेनी पड़ेगी।

तब से मैंने गंगोतों के सिवा किसी भी दूसरे रैयत को जमीन देना बिलकुल बंद कर दिया ; लेकिन जो गलती एक बार कर चुका था, उसका कोई प्रतिकार किए न हो सका। नाढ़ा बैहार की शांति सदा के लिए जाती रही।

[पाँच]

अपने बारह मील के रकबे में फैले जंगली मौजे के उत्तर में कोई छै सौ एकड़ जमीन में रैयत बस गए थे। पूस के आखिरी दिनों एक बार उधर जाने की जरूरत पड़ी। गया। देखा——लोगों ने इलाके की शकल ही बदल डाली है।

फुलकिया बैहार से बाहर निकला कि सामने क्षितिज तक फैला हुआ फूली हुई सरसों का खेत नजर आया। जहाँ तक आँख जा पाती थीं, सामने दाएँ-बाएँ ऐसा मालूम होता था, मानो किसी ने पीला फूल कढ़ा हुआ गलीचा बिछा दिया हो——न ओर-छोर, न बाधा-बंधन। जंगल के छोर से लेकर वह क्षितिज के समीप तक की नीलगिरि-माला में जाकर मिल गया था। ऊपर शीतकाल का निर्मेघ नील गगन। ऐसे अनोखे खेतों के बीच-बीच में रैयतों के कसाल के झोंपड़े खड़े थे। पता नहीं, ऐसी करारी सर्दी में ये बाल-बच्चों के साथ इन झीने झोंपड़ों में कैसे रह लेते थे।

फसल पकने में देर नहीं थी। जगह-जगह से कटनियों की जमात इसी बीच में जुटने लगी थी। इन मजूरों की जिंदगी भी अजीब होती है। ये पूर्णियाँ तराई तथा जयंती पहाड़ के आस-पास और उत्तरी भागलपुर से यहाँ आते हैं और बाल-बच्चों सहित आते हैं। झोंपड़े डालकर रहते हैं, खेतों में फसल काटते हैं, उसी की जो मजूरी मिलती है, उससे गुजर-बसर करते हैं। कटनी खत्म हो जाने पर वापस चले जाते हैं, अगले साल फिर आते हैं। कटनी मजूरों में अनेक जाति के लोग रहते हैं, लेकिन सबसे ज्यादा रहते हैं गंगोते। छत्री, भूमिहार और मैथिल ब्राह्मण भी इनमें होते हैं।

यहाँ फसल कटते समय खेतों में ही मालगुजारी वसूलने का रिवाज है; इसलिए कि यहाँ के लोग इतने गरीब हैं कि फसल घर उठ जाने के बाद मालगुजारी चुकाना उनके लिए मुमकिन नहीं होता। इसी सिलसिले में मुझे खुद भी कई दिनों तक फुलकिया बैहार में रहना पड़ा।

तहसीलदार ने कहा——"तो आपके लिए वहाँ तंबू खड़ा करवा दूँ?"

—"दिन-भर में कसाल का एक झोंपड़ा क्यों नहीं बनवा देते ?"

—"ऐसी सर्दी में उसमें रह सकेंगे हुजूर ?"

—"बखूबी रहूँगा। बनवा दो।"

वही किया गया। पास-पास कसाल के तीन-चार छोटे-छोटे झोंपड़े डाले गए। एक मेरे सोने के लिए, एक रसोई और एक दो-तीन प्यादों के रहने के लिए। इस तरह के झोंपड़ों को इधर के लोग 'खोपड़ी' कहते हैं। इसमें न तो होता है दरवाजा, न होती है खिड़की। अंदर जाने-आने के लिए सामने की तरफ खुला होता है। बंद करने की गुंजाइश नहीं होती। हू-हू करके हिम-शीतल हवा के झोंके आते रहते हैं। दरवाजे के बदले जो खुली जगह होती है, वह इतनी नीची होती है कि सिकुड़ कर अंदर दाखिल होना पड़ता है। सूखा कसाल गाढ़ा करके बिछा दिया गया, उस पर दरी और दरी पर डाल दिया गया मेरा बिछावन। मेरे लिए जो झोंपड़ा बना, वह सात हाथ लंबा और तीन हाथ चौड़ा था ; मगर ऊँचाई उसकी मुश्किल से तीन हाथ की होगी। खड़ा होना मुहाल।

मगर मुझे यह झोंपड़ा अच्छा लगा। इतना आराम तो मुझे कलकत्ता में तीन या चार मंजिल के मकान में रहकर भी नहीं मिला। यह हो सकता है कि बहुत दिन से यहाँ रहते-रहते मैं जंगली होता जा रहा हूँ। मेरी रुचि, मेरा दृष्टिकोण, भला-बुरा लगना, सब पर इस खुली वन्य प्रकृति का थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ा था। कौन कह सकता है कि मेरा यह अच्छा लगना उसी की बदौलत था या नहीं ?

उस झोंपड़े में दाखिल होते ही जो चीज मुझे अच्छी लगी, वह थी ताजे कसाल की बू, जिससे झोंपड़ा बना था। दूसरी चीज थी, झोंपड़े के झरोखों से सोये-सोये दीखते रहनेवाले सरसों के दिगंत-विस्तृत पीले फूलों से भरे खेत। यह दृश्य अनोखा ही था। लगता था कि जैसे मैं किसी संसार-व्यापी पीले गलीचे पर पड़ा हूँ। तेज हवा में सरसों के फूलों की तीखी गंध भरी थी।

सर्दी भी खासी पड़ी। पछुआ एक दिन को भी बंद नहीं हुई। उससे जलती धूप भी गल कर ठंढा पानी हो जाती थी। बैहार में जो बेर का जंगल

था, उसके पास से घोड़े पर लौटते हुए मैं सुदूर तिरासी-चौंका की नील चोटी पर जाड़े का सूर्यास्त देखा करता। अग्नि कोण से नैऋत्यकोण तक सारा पश्चिमी आसमान रंग उठता। ऐसा लगता, जैसे पिघली आग के समुद्र में प्रकांड अग्नि गोलक-जैसा सूरज उतर पड़ता। मैं मानो पृथ्वी की आह्निक गति को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, यह विशाल धरती जैसे पूरब से पश्चिम को घूमती चली आ रही है। ज्यादा देर तक ताकते रहने से भ्रम होता। सचमुच ही लगता कि पश्चिमी क्षितिज के छोर की धरती उस विंदु की तरफ घूमती आ रही है, जिस पर मैं खड़ा हूँ।

धूप के मिटते ही कड़ाके की सर्दी पड़ने लगती। तमाम दिन कड़ी मेहनत करने और घोड़े से यहाँ-वहाँ जाने-आने के कारण हम भी थक जाते। शाम को झोंपड़े के आगे आग जलाकर उसी के पास बैठा करते।

अंधकार से ढँके वनों के ऊपर जलनेवाले अनगिन तारे न जाने कितनी दूर-दूर के विश्व के ज्योति-दूत के रूप में धरती के लोगों की आँखों के आगे प्रकट होते। ये नक्षत्र बिजलीबत्ती-से झकमक जलते—बंगाल में मैंने वैसी कृत्तिका, वैसा सप्तर्षिमंडल कभी नहीं देखा था। बराबर देखते-देखते उनसे मेरा गहरा परिचय हो गया था। नीचे गाढ़ा अँधेरा, जंगल, सूनापन, रहस्यमयी रात और सिर के ऊपर मेरे रोज-रोज का साथी ज्योतिर्लोक! कभी-कभी अंधकार के समुद्र में चाँद का टुकड़ा ऐसा दिखाई देता, जैसा कि बहुत दूर के रोशनी-घर में प्रकाश! और उस गाढ़े अँधियारे को आग के तीर से चाक-चाक करता हुआ यहाँ-वहाँ उल्का-पात। जिधर देखो, उधर ही, दक्खिन, उत्तर, ईषाण, नैऋत्य, पूरब, पश्चिम—हर तरफ। यह एक, वह एक और फिर वह एक—हर मिनट पर, हर सेकिंड पर।

कभी-कभी गनौरी तिवारी या और बहुत-से लोग मेरे झोंपड़े में आ जुटते। तरह-तरह की बातें छिड़तीं। यहीं एक दिन मैंने एक गजब की कहानी सुनी। बातों-ही-बातों में उस रोज शिकार के किस्से शुरू हो गए। अचानक मोहनपुरा रिजर्व फारेस्ट के जंगली भैंसे की बात उठ आई। इत्तिफाक से चरी की डाक बोलने के लिए दशरथसिंह झंडावाला उस

दिन वहीं आया हुआ था। कभी इस आदमी ने जंगलों की खूब खाक छानी थी। उसका नाम अच्छे शिकारियों में था। उसने बताया—भैंसों के शिकार में मैंने एक बार 'टाँड़बारो' देखा था हुजूर!

मुझे याद आया, गोनू महतो ने एकबार टाँड़बारो का जिक्र किया था। मैंने पूछा—"वह क्या?"

—"बात बहुत पहले की है हुजूर—उस समय कोसी वाला पुल नहीं बना था। कटोरिया में जोड़ा खेप लगा करता था, पैसेंजर और माल, दोनों एक साथ पार होते थे। मैं और छपरा का छट्ठूसिंह, उन दिनों दोनों घोड़े के नाच के पीछे पागल थे। छट्ठूसिंह छत्तर (सोनपुर) के मेले से घोड़ा लाया करता और उन्हें नाच सिखा कर हम ज्यादा दाम पर बेचा करते थे। घोड़े का नाच दो तरह का होता है—जमैती और फनैती। जो घोड़ा जमैती में पक्का होता, उसकी कीमत ज्यादा मिलती। जमैती नाच सिखाने में माहिर था छट्ठूसिंह। तीन-चार वर्षों में हम दोनों ने इससे अच्छा कमाया।

"एक बार छट्ठूसिंह की राय हुई कि लाइसेंस लेकर ढोलबज्जा जंगल से भैंसे पकड़े जायँ और उसी का कारोबार करें। ढोलबज्जा दर-भंगा महाराज का रिजर्व फारेस्ट था। सब इन्तजाम किया गया। जंगल का जो अमला था, उसकी जेब गरम करके परमिट अदा किया। सब हो-हवा जाने के बाद मैं कई दिनों तक घनघोर जंगल की खाक छानता रहा, सिर्फ यह जानने के लिए कि भैंसों के जाने-आने की राह किधर और कौन-सी है। उतना बड़ा जंगल, मगर क्या मजाल कि एक भी भैंसा दिखाई पड़ता! हार-थक कर एक संथाल की मदद ली। उसने हमें बाँसों की एक झाड़ी दिखा कर कहा—'देखिए, गहरी रात हुए भैंसे इसी रास्ते से पानी पीने जाते हैं।' हमने उस रास्ते को दूर तक काफी गहरा खोदा और उस पर बाँस और मिट्टी डाल कर फंदा तैयार किया। अगर इससे होकर भैंसों की टोली जायगी, तो वह गिर कर गढ़े में फँस जायगी।

"उस संथाल ने हमारे फन्दे देखे और कहा—'तुमने हिकमत तो खूब

लगाई, मगर मैं कहे देता हूँ, ढोलबज्जा जंगल के भैंसों को तुम हर्गिज नहीं मार सकते। यहाँ टाँड़बारो है।'

"हम तो अवाक् रह गए—'यह टाँड़बारो क्या बला है?'

"उस बुड्ढे संथाल ने बताया—'टाँड़बारो, जंगली भैंसों का देवता है। उसके रहते भैंसों का बाल भी बाँका नहीं हो सकता।'

"छट्टूसिंह अड़ गया—'ये बेकार की बातें हैं, हम नहीं मानने के। हम रजपूत हैं, संथाल नहीं हैं।'

"उसके बाद हम पर जो गुजरी, उसे सुनकर आप दंग रह जायँगे हुजूर! आज भी उसकी याद आते ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। हम गहरी रात को बाँसों की एक झाड़ी के पास दुबके खड़े थे, चुपचाप—चूँ तक भी नहीं की हमने। हमें भैंसों के पैरों की आहट सुनाई दी, वे फंदों की तरफ आ रहे थे। बहुत ही करीब आ गए, कोई पचास हाथ के फासले तक। अचानक फंदे के पास, करीब दस हाथ की दूरी पर एक काला-कलूटा, बेहिसाब लम्बा आदमी हाथ उठाए खड़ा दीख पड़ा। इतना लम्बा था वह कि लगा उसका सिर बाँस की फुनगी से जा सटा है। उस पर नजर पड़ते ही भैंसे ठिठक गए और वे धीरे-धीरे बिखर कर जिधर-तिधर चले गए। फंदे की सीमा तक भी कोई न आया। अब आप यकीन करें या न करें हुजूर, आँखों देखी बात है।"

उसके बाद भी हमने दूसरे शिकारियों से पूछ-ताछ की। उन्होंने भी साफ कह दिया—"ढोलबज्जा में भैंसों को पकड़ने की उम्मीद छोड़ दो। टाँड़बारो एक का भी रोंआ तक न छूने देगा।" हमारे परमिट के रुपए पानी में गए, भैंसा हम एक भी न फँसा सके।

उसका किस्सा खत्म हो जाने पर लवटोलिया के पटवारी ने कहा—"टाँड़बारो के किस्से तो हम भी बचपन से सुनते आ रहे हैं। वह जंगली भैंसों का देवता है और सदा इसके लिए सतर्क रहता है कि भैंसों के प्राण अकारथ न जायँ।"

कहानी सच्ची है या झूठी, मुझे यह जानना जरूरी न था। मैं तो ऊपर

निगाह उठाए अँधेरे आसमान पर प्रकाश के खड्गवाले कालपुरुष को देखने लगा ; स्तब्ध पड़े जंगल के ऊपर अँधेरा आकाश औंधा पड़ा था ! दूर कहीं जंगल में से वनकुक्कुट बोल उठा—अंधेरा और निस्तब्ध आकाश, अँधेरी और निस्तब्ध पृथ्वी—जाड़े की इस रात में दोनों एक दूसरे के पास पहुँच कर मानों कुछ कानाफूसी कर रहे हों—दूर मोहनपुरा जंगल की श्याम सीमा-रेखा की ओर ताकते हुए इस अनोखे वन-देवता की बात याद आते ही मेरा शरीर सिहर उठता। इस तरह के किस्से ऐसे ही जंगलों में जाड़े की रातों में आग तापते हुए ही सुनने में अच्छे लगते हैं।

दसवाँ परिच्छेद

[एक]

पूरे पन्द्रह दिन तक यहाँ मैंने जंगली जीवन बिताया, जैसा कि गंगोते या इधर के गरीब भूमिहार बिताया करते थे। स्वेच्छा से कहना तो गलत होगा, बहुत कुछ लाचारी से ही इस तरह रहना पड़ा। आखिर इस जंगल में मिलता भी क्या, और लाया भी कहाँ से जाता? रूखा भात और जंगली परोल की तरकारी पर गुजर। प्यादे मीठे आलू ले आते जंगल से, कभी-कभी उसी की भुजिया। न मछली, न माँस, न दूध—कुछ नहीं।

इस जंगल में सिल्ली और मोर की कमी जरूर नहीं थी; मगर उन्हें मारने को जी नहीं चाहता था। बंदूक थी, फिर भी निरामिष भोजन ही चलाता रहा।

फुलकिया बैहार में बाघ का खतरा था। एक दिन की घटना सुनाऊँ।

हड्डी तोड़ने वाली सर्दी की रात। दस बजे तक मैंने सारे काम-काज खत्म कर दिए और जरा जल्दी ही सो गया। अचानक जाने कितनी रात गए लोगों की चीख-पुकार से नींद उचट गई। जंगल के किनारे कहीं इकट्ठे होकर लोग शोर मचा रहे थे। मैं उठ बैठा। रोशनी की। प्यादे पास के झोंपड़े में सोए थे—वे भी बाहर निकल आए। सब मिलकर सोचने लगे—आखिर माजरा क्या है? इतने में एक आदमी दौड़ा-दौड़ा आया और बोला—"मैनेजर बाबू, जरा अपनी बंदूक लेकर जल्दी चलें, बाघ एक नन्हे-से बच्चे को उठा ले भागा है।"

जंगल के पास ही एक खेत में डोमन गंगोता की झोंपड़ी थी। उसकी स्त्री छै महीने के बच्चे को लेकर झोंपड़ी में सोई हुई थी। जाड़ा बेतरह पड़ रहा था, सो अन्दर आग जला रक्खी थी। धुआँ भीतर घुमड़ न उठे; इसलिए

झोंपड़ी का दरवाजा जरा खोल दिया गया था। उसी से बाघ अन्दर दाखिल हो गया और बच्चे को ले भागा।

मगर बाघ ही था, यह कैसे पता चला ? गीदड़ भी तो हो सकता है ! जहाँ यह घटना हुई थी, वहाँ पहुँच कर जरा भी शक नहीं रह गया। खेतों की नर्म मिट्टी पर बाघ के पंजों की छाप पड़ी थी।

मेरे प्यादे और पटवारी अपने गाँव की बदनामी नहीं फैलने देना चाहते थे। उन्होंने विश्वासपूर्वक कहा—"यह बाघ यहाँ का नहीं हो सकता हुजूर, यह रिजर्व फारेस्ट का बाघ है, बेशक वहीं का है। जरा पंजा देखिए, कितना बड़ा है ! "

बाघ कहीं का हो, उससे क्या आता-जाता है। मैंने कहा—"लोगों को इकट्ठा करो। मशाल लेकर चलो, जंगल में देखें।" रात का आलम, बाघ का वह खौफनाक पंजा जो देखा, तो सब मारे डर के थर-थर काँपने लगे थे। जंगल में कौन जाय, किसे अपनी जान भारी है। मैंने गरज-बिगड़ कर मुश्किल से दसेक आदमियों को तैयार किया। उनके हाथों में मशालें दीं और कनस्तर पीटते हुए जंगल में खोज-ढूँढ़ की ; मगर सब बेकार।

दूसरे दिन, दिन के दस बजे वहाँ से कोई दो मील की दूरी पर उस बच्चे की लहू-लुहान लाश एक आसान पेड़ के नीचे पड़ी पाई गई।

उसके बाद उतरी अँधियारी पाख की भयावनी काली-काली रातें !

मैंने बाँकेसिंह जमादार को बुलवा लिया। वह शिकारी था और बाघों का अता-पता जानता था। उसने बताया—"आदमखोर बाघ एक नम्बर का धूर्त होता है हुजूर। देखिएगा, और कई लोगों को मार खाएगा। सावधानी से रहना चाहिए।"

इसके ठीक तीन दिन बाद बाघ जंगल के किनारे से एक चरवाहे को ले भागा। अब तो लोगों ने सोना भी हराम कर लिया। रात को एक अजीब तमाशा ! इतने बड़े बैहार के झोंपड़ों में तमाम रात कनस्टर पीटने की आवाज, कसाल की सुलगती हुई आग। मैं और बाँकेसिंह एक-एक पहर पर बन्दूक की आवाज करने लगे। और उत्पात क्या केवल बाघ ही का था ?

एक दिन रिजर्व फारेस्ट से जंगली भैंसों की जमात आकर खेतों में पिल पड़ी और फसल को तहस-नहस करके चली गई।

मेरे झोंपड़े के आगे सिपाहियों ने आग जला रक्खी थी। मैं जब-तब उसमें लकड़ी डाल दिया करता। बगल के झोंपड़े में प्यादे आपस में बातें कर रहे थे। मैं झोंपड़े में सोया हुआ था। सिरहाने की तरफ के झरोखे से अंधकार से ढँका दूर तक फैला प्रांतर और तारों की मंद जोत में जंगल की धुँधली सीमा-रेखा दीख रही थी। ऊपर आसमान की तरफ देखकर ऐसा लगा, मानो मृत नक्षत्रलोक से तुषारवर्षी हिमशीतल बयार की लहरें पृथ्वी की ओर लपकी चली आ रही हैं। तोशक-तकिया जैसे पानी हो गया हो, आग ठंडी पड़ती आ रही थी, ऐसी करारी सर्दी! और ऊपर से बैहार से आने वाली कन्कन् हवा के प्रबल झोंके!

लेकिन इधर के लोग इस सर्दी में कैसे रह लेते हैं, खुले आसमान के नीचे मामूली-से झोंपड़ों के अन्दर सीली हुई जमीन पर रात कैसे गुजारते हैं? फिर फसल जोगने की यह जिम्मेदारी, जंगली भैंसों का उत्पात, जंगली सूअरों की हरकतें—बाघ का भी खतरा। बंगाल के किसान भला इतनी तकलीफ उठा सकते हैं? उतनी उपजाऊ जमीन और उत्पातरहित परिवेश के होते हुए भी उनके कष्ट नहीं कटते।

दक्खिन भागलपुर से कुछ कटनिए आए हुए थे। वे मजूर बाल-बच्चों सहित मेरे झोंपड़े से जरा ही दूर पर टिके थे। मैं एक दिन साँझ को उधर से लौट रहा था। देखा—झोंपड़े के सामने बैठकर सब लोग आग ताप रहे हैं।

मेरे लिए इन लोगों की दुनिया बिल्कुल अपरिचित और अज्ञात थी। सोचा—जरा इसे भी क्यों न देख लें।

मैं उनके पास गया। पूछा—"क्यों भैया, क्या हो रहा है?"

उनमें से एक बूढ़ा था, मेरा सवाल उसी से था। वह उठ खड़ा हुआ। सलाम करके उसने मुझसे आग तापने का अनुरोध किया। ऐसा रिवाज था इधर का। जाड़ों में आग तापने के लिए कहना भद्रता मानी जाती।

बैठ गया मैं। झोंपड़े में झाँक कर देखा—बिछावन या असबाब नाम की कोई चीज उनके पास नहीं थी। झोंपड़े के अन्दर जमीन पर थोड़ी-सी सूखी घास पड़ी थी। बर्त्तन के नाम पर काँसे का एक बड़ा-सा कटोरा और एक लोटा था। कपड़े जो उनके बदन पर थे, उतने ही ; उसके सिवाय एक टुकड़ा भी नहीं। खैर, कपड़ा इतना ही सही, मगर रजाई-कथरी कहाँ है ? इस भयंकर जाड़े में ये रात को ओढ़ते क्या हैं ?

मैंने उनसे यही सवाल किया।

बूढ़े का नाम था नकछेदी भगत। जात का वह गंगोता था। उसने कहा—"रजाई क्या, झोंपड़े के कोने में वह उड़द का भूसा जो ढेर लगा पड़ा है!"

मैं कुछ समझ नहीं सका। पूछा—"क्या रात को भूसे से आग जलाते हो?"

नकछेदी मेरे सीधेपन पर हँसा।

—"जी नहीं। बच्चे रात को उसी में घुस कर सो रहते हैं और हम-लोग भी उसी को अपने ऊपर डाल लेते हैं। देखिये न, न भी होगा, तो पाँच मन भूसा है कम-से-कम। बड़ी गर्मी होती है इसमें, दो कंबलों में भी इतनी गर्मी नहीं होती। फिर हमें कंबल नसीब भी कहाँ होता है ?"

इतने में एक बच्चे को उसकी माँ भूसे के उसी ढेर में गर्दन तक घुसा कर सुला आई। केवल उसके मुँह को बाहर रहने दिया। मैं सोचने लगा—वास्तव में एक आदमी आदमी के बारे में जानता भी कितना है ? मैं ही क्या कभी इन बातों की जानकारी रखता था? आज मानो मैं वास्तविक भारत के स्वरूप को पहचान रहा हूँ।

आग के दूसरी ओर एक जवान लड़की कुछ पका रही थी। मैंने पूछा—"क्या रसोई बन रही है ?"

नकछेदी ने कहा—"घाटा।"

—"यह घाटा क्या होता है ?"

वह लड़की न जाने मेरे बारे में क्या सोचने लगी कि शाम को अचा-

नक ये बंगाली बाबू कहाँ से आ टपके—कुछ जानते ही नहीं ! इन्हें दुनिया की खाक भी खबर नहीं ! वह खिलखिला कर हँस पड़ी। बोली—"घाटा क्या होता है, यह भी नहीं जानते आप बाबूजी ? घाटा... उबली मकई। चावल उबालने से जैसे भात तैयार होता है, वैसे ही मकई उबाल कर घाटा बनता है।

मेरी अज्ञता पर उसे दया आई। उसने थोड़ा-सा घाटा हाँड़ी में से निकाल कर मुझे दिखलाया।

—"इसे कैसे खाते हैं ?"

अब तो मेरे प्रश्नों का जवाब वह लड़की ही देने लगी। हँसती हुई वह बोली—"नमक के साथ, साग के साथ ; और कैसे ?"

—"साग बन गया ?"

—"इसके बाद साग चढ़ाऊँगी। मटर का साग तोड़ कर रक्खा है।"

वह लड़की थी खूब सप्रतिभ। पूछा—"आप कलकत्ता रहते हैं ?"

—"हाँ।"

—"कैसी जगह है कलकत्ता ? अच्छा, सुनते हैं वहाँ कोई पेड़ नहीं है ? वहाँ सारे ही पेड़-पौधे काट डाले गए हैं ?"

—"यह किसने कहा तुमसे ?"

—"हमारी तरफ का एक आदमी वहाँ काम करता है, उसी ने कहा था। अच्छा, है कैसी जगह वह ?"

मैंने उस सरल बालिका को यह समझाने की भरसक कोशिश की कि आधुनिक युग का एक बड़ा शहर क्या होता है। वह कितना समझ सकी, यह नहीं कह सकता। बोली—"कलकत्ता देखने की इच्छा तो बड़ी होती है, मगर कौन दिखायगा ?"

उसके साथ मैंने और भी बातें कीं। रात ज्यादा हो गई, अँधेरा गाढ़ा हो आया। उन लोगों की रसोई तैयार हो गई। उस लड़की ने झोंपड़े के अन्दर से काँसे के उस बड़े कटोरे को निकाला और उसी में माड़-भात-जैसी

उस चीज को डाल दिया। ऊपर से उस पर थोड़ा-सा नमक भुरभुरा दिया। चारों तरफ से बैठकर बच्चे खाने लगे।

मैंने पूछा—"यहाँ से तुम लोग अपने घर वापिस जाओगे ?" नकछेदी बोला—"घर लौटने में अभी काफी देर है। यहाँ से धान काटने के लिए धरमपुर जायँगे। धरमपुर में धान होता है, यहाँ नहीं होता। धान की कटाई खत्म हो जायगी, तो गेहूँ काटने के लिए मुंगेर जायँगे। गेहूँ की कटाई समाप्त होते-होते जेठ का महीना आ जायगा। तब खेड़ी काटने के लिए फिर आपही के इलाके में लौटेंगे। उसके बाद कुछ दिनों की छुट्टी। सावन-भादों में फिर मकई। मकई के बाद उड़द और उड़द के बाद धरमपुर-पूर्णियाँ में कतिकी धान। हम साल-भर इसी तरह यहाँ से वहाँ वहाँ से यहाँ चक्कर काटा करते हैं। जब जहाँ जो फसल होती है, जाते हैं। न जाएँ, तो पेट का गुजारा कैसे चले बाबूजी ?"

—"तुम्हारे घर-द्वार नहीं हैं ?"

अबकी बार वह लड़की बोली। चौबीस-पच्चीस की उम्र। तन्दुरुस्त, पालिश किया हुआ-सा काला रंग, सुडौल बनावट। बात करने में चुस्त, दक्खिनी बिहार की गँवई भाषा उसके मुँह से बड़ी फबती थी।

वह बोली—"घर-द्वार है क्यों नहीं बाबूजी, है सब-कुछ, मगर वहीं बैठे रहने से तो अपना गुजारा नहीं चल सकता। अपने घर हम गर्मियों के अन्त में जायँगे और आधे सावन तक रहेंगे। फिर परदेश का चक्कर, चाकरी ठहरी परदेश की। और परदेश के मजे भी बहुत हैं। फसल कट जाने दीजिए न, यहीं जानें कहाँ-कहाँ के लोग आयँगे—गाने-बजाने वाले, नचनिए, बहुरूपिए, आपने क्या नहीं देखा ? देखें भी कहाँ से भला, आपका सारा इलाका तो जंगल था, महज इसी बार तो यहाँ खेती हुई है। बस और पन्द्रह दिन की देर है, यही तो उनके कमाने-खाने का समय है।"

चारों ओर सन्नाटा। दूर की किसी बस्ती में लोग अँधेरे में कनस्तर पीट रहे थे। मैं सोचने लगा—जंगली जानवरों से भरे इस जंगल के खुले झोंपड़ों में ये बाल-बच्चों को लेकर कैसे रह लेते हैं, इनके साहस की बलि-

हारी है ! कई दिन पहले की तो बात है, बाघ एक औरत के बगल से बच्चे को उठा ले गया—फिर इन्हें कैसा भरोसा है ? मगर एक बात मैंने पाई इनमें, इन्होंने उस घटना को कुछ महत्त्व ही नहीं दिया, जैसे कुछ हुआ ही न हो। वैसा डर भी न था उनमें। मैंने कहा—"जरा होशियार रहना। पता है तुम्हें कि आदमखोर बाघ का खतरा बढ़ गया है ? ये आदमखोर बाघ बड़े खौफनाक होते हैं, बड़े चालाक। दरवाजे पर आग जला कर रक्खो और अन्दर रहो। जंगल करीब ही है, रात का वक्त जो ठहरा—"

वह लड़की बोली—"इसके हम अब आदी हो गए हैं बाबूजी, पूर्णियाँ में, जहाँ हम हर साल धान काटने जाया करते हैं, पहाड़ से जंगली हाथी उतरा करते हैं। वह जंगल तो और भी भयंकर है। धान के दिनों में तो हाथी की हरकतें ज्यादा बढ़ जाती हैं।"

उसने आग में झाऊ की कुछ और सूखी टुकड़ियाँ डाल दीं और सामने की तरफ सरक कर बैठती हुई बोली—"उस बार हम लोग अखिलकूचा पहाड़ के नीचे ठहरे थे। एक रात को मैं झोंपड़े के बाहर रसोई बना रही थी। अचानक सामने नजर जो गई, तो देखा कि महज पचास हाथ के फासले पर चार-पाँच जंगली हाथी खड़े हैं—अँधेरे में खड़े हुए देखने में काले पहाड़-से लग रहे थे। मालूम होता था, मानो वे झोंपड़े की तरफ ही आ रहे हों। मैंने नन्हे को गोदी में उठाया, बड़ी बच्ची का हाथ थामा, और रसोई छोड़ कर उन्हें झोंपड़े के अन्दर रख आई। आस-पास न कोई आदमी था, न आदमजाद। बाहर निकली, तो हाथी जैसे ठिठक कर खड़े हो गए थे। मारे डर के मेरी बोलती बन्द। हाथी ज्यादा देख नहीं पाते, इसी से खैरियत हुई, वे गंध से दूर के लोगों का अंदाजा लगा लेते हैं। उस समय हवा का रुख शायद दूसरी तरफ को था। जो भी हो, हाथी दूसरी तरफ चले गए। पूछिए मत बाबूजी, वहाँ भी तमाम रात हाथी के डर से लोग इसी तरह कनस्तर पीटते रहते हैं, आग जलाए रहते हैं। यहाँ जंगली भैंसों का भय, वहाँ बनैले हाथियों का खतरा। अब तो इस सबके हम आदी हो गए हैं बाबूजी !"

रात ज्यादा हो गई थी मैं लौट आया।

दो हफ्ते के अन्दर फुलकिया बैहार की शकल ही बदल गई। सरसों पकी और न जाने कहाँ-कहाँ से विभिन्न वर्ग के लोग वहाँ आ-आकर जुटने लगे। बोरे और तराजू बाट लिए पूर्णियाँ, मुंगेर और छपरा से मारवाड़ी खरीदार आए। उनके साथ कुलियों और गाड़ीवानी करने वालों का दल भी आया। हलवाइयों ने झोंपड़े डाल कर दूकान खोल दी। वे तेज भाव में पूरी-कचौरी, लड्डू और कलाकंद बेचने लगे। तरह-तरह की मनिहारी की चीजें, काँच के बर्त्तन, खिलौने, सिगरेट, छींट, साबुन ले-ले कर फेरीवाले आए।

नाच-तमाशा दिखाकर पैसा कमाने वाले न जाने कितनी तरह के लोग पहुँच गए। नाचवाले नाच दिखाते, राम-सीता बनकर भक्तों की भेंट लेते, पंडाजी हाथ में सिन्दूर पुती हनुमानजी की मूर्ति लिए दक्षिणा वसूलते। यह समय हर किसी के रोजगार का समय था।

पिछले साल जिस फुलकिया बैहार के जंगली मैदान से शाम होते ही लौटने में डर लगता था, अबकी बार उसी की यह आनन्द से खिली मूर्ति देखकर तबीअत बाग-बाग हो गई। चारों तरफ बालक-बालिकाओं की खुशी की किलकारी, कलरव, सस्ते भोंपू की पों-पों, झुनझुने की आवाज, नाचवालों के घुँघरुओं की ध्वनि—मानो बैहार-भर में एक विशाल मेला लग गया हो।

बैहार की आबादी भी बहुत बढ़ गई थी। रातों-रात वहाँ न जाने कितने झोंपड़े और छप्पर वाले घर खड़े हो गए। घर बनाने में यहाँ खास कोई लागत नहीं लगती। कसाल, झाऊ या केंद की लकड़ियाँ तो जंगल से मिल ही जाती हैं। कसाल बाँट कर रस्सी बन जाती है, काफी मजबूत रस्सी, और मेहनत तो लोग-बाग खुद ही कर लेते हैं।

तहसीलदार ने आकर कहा—"बाहर से जो लोग आकर यहाँ पैसे पैदा कर रहे हैं, उनसे जमींदार का लगान अदा करना चाहिए। आप

बाजाब्ता दफ्तर लगाएं, मैं एक-एक करके सब को आपके सामने हाजिर करूँगा। आप जैसा भी उचित समझें, उसी हिसाब से कुछ लगान बाँध दें।

इस सिलसिले में कितने ही प्रकार के आदमी देखने का सुयोग मिला। सुबह से दस बजे तक और तीन बजे से शाम तक रोज कचहरी करता।

तहसीलदार ने बताया—"ये लोग यहाँ ज्यादा दिनों तक नहीं रहेंगे हुजूर! फसल तैयार होने पर खरीद-बिक्री खत्म हुई नहीं कि ये चलते बनेंगे। इनसे लगान पहले ही वसूल कर लेना पड़ेगा।"

एक दिन मैंने एक मारवाड़ी महाजन को खलिहान में अनाज तौलते देखा। मुझे ऐसा लगा कि ये भोले रैयतों को तौल में ठगा करते हैं। मैंने पटवारी-प्यादों से उनके बाटों की जाँच करने को कहा। फिर क्या था, रोज वे दो-चार महाजनों को मेरे सामने पकड़ कर लाने लगे। किसी के बाट गलत थे, तो किसी की तराजू में जालसाजी थी। मैंने वैसे लोगों को इलाके से बाहर निकलवा दिया। कम-से-कम मेरे यहाँ तो गरीबों की इतनी मसक्कत की कमाई को लोग न लूटें, इसी खयाल से मैंने ऐसा किया था।

और केवल ये महाजन ही क्यों, देखा, बहुत तरह के लोग इन्हें लूट खाने के लिए घात लगाए बैठे रहते हैं।

नकद कारोबार तो यहाँ बहुत ही कम होता था। फेरीवालों से इन्हें कुछ लेना होता, तो ये बदले में सरसों देते और बहुत ज्यादा सरसों दे देते, खासकर औरतें। इनकी औरतें बड़ी सीधी और सरल होतीं, उन्हें झूठ-सच बताकर एक का चार वसूल कर लेना बहुत ही आसान काम था।

मर्द लोग भी पक्के दुनियादार नहीं थे। वे विलायती सिगरेट खरीदते, जूता-कुरता लेते। फसल की कीमत घर आते ही उनके और औरतों के दिमाग फिर जाते। औरतें रंगीन कपड़ों, काँच और एनामेल के बर्त्तनों की फरमाइश करतीं। हलवाई के यहाँ से लड्डुओं के दौने-पर-दौने जाने लगते। नाच-गीत में ही वे न जाने कितने पैसे फूँक देते। ऊपर से रामजी और हनुमानजी की दंडवत! उसके सिवाय जमींदार और महाजन के अमले अलग। मैंने यह देखा कि घोर जाड़े की रातें जग-जग कर, बनैले सूअर

और भैंसों के उत्पात से बड़े-बड़े कष्टों से बचाकर, बाघ और साँप के खतरे में अपनी जिन्दगी डाल कर साल-भर में ये जो भी कमाते, उसे इन पन्द्रह दिनों में उड़ा देने में इन्हें कुछ नहीं खलता। मजे में फूँक देते।

एक ही अच्छी बात मुझे इनमें दीखी कि ये लोग ताड़ी या शराब नहीं पीते थे। नशे का रिवाज भूमिहार या गंगोतों में नहीं था। हाँ, भंग इनमें से बहुत-से लोग पीते थे। मगर भंग खरीदने की इन्हें जरूरत नहीं थी; लवटोलिया और फुलकिया बैहार में भंग का जंगल था, उसी के पत्ते ये लोग नोच लाते थे। कौन देखता है ?

मुनेश्वरसिंह ने एक दिन खबर दी—"लगान देने के डर से एक आदमी भागा जा रहा है। हुक्म हो, तो उसे पकड़वा मँगाएँ।"

मुझे अचरज हुआ—"दौड़ कर भागा जा रहा है ?"

—"घोड़े की तरह बेतहाशा भागा जा रहा है हुजूर! अब तक तो बड़े कुंड को पार करके जंगल के किनारे जा पहुँचा होगा।"

मैंने उस धूर्त को पकड़ लाने का आदेश दिया। कोई घंटे-भर में चार-पाँच आदमी मिलकर उसे मेरे सामने ले आए।

उस पर नजर जो पड़ी, तो मेरे मुँह से बोल न निकला। साठ से कम तो किसी हालत में उसकी उम्र न होगी। सारा सिर सफेद हो गया था, गाल की खाल सिकुड़ गई थी। देखकर ऐसा लग रहा था, जाने कब से उसे दाना नहीं नसीब हुआ। यहीं शायद उसे बहुत दिनों के बाद भरपेट खाने को मिला था।

पता चला, वह 'माखनचोर नटुआ' बनता था। इन्हीं दिनों में उसने बहुत पैसे कमाए थे। वह ग्रांट साहब के बरगद के नीचे झोंपड़े में रहता था। इधर कई दिनों से प्यादों ने लगातार तकाजे किए, क्योंकि फसल तैयारी का समय बीत चला था। उसने आज ही पैसे चुकाने का वायदा किया था। दोपहर को एकाएक प्यादों को खबर मिली कि वह अपना बोरिया-बधना समेटे नौ-दो-ग्यारह हो रहा है। मुनेश्वरसिंह सुराग लेने निकला। देखा—वह तो बैहार पार कर चुका है। पूर्णियाँ की तरफ

रवाना हो गया है। इसे देखते ही उसने दौड़ लगाई। बाद में जो हुआ, वह सामने है।

मुझे प्यादों के बयान पर जरा सन्देह हुआ। सन्देह यह कि 'माखन-चोर नटुआ' के मानी तो हुए बालकृष्ण, भला यह बुड्ढा कैसे बनता होगा? फिर यह झुलफुल बुड्ढा बेतहाशा दौड़ भी कैसे रहा होगा?

मगर सबने हलफ उठाकर बताया कि बात सही है। मैंने उससे कड़क कर पूछा—"तुमने यह दगाबाजी की बात कैसे सोची? तुम्हें पता नहीं था कि जमींदार का लगान भी देना पड़ता है? क्या नाम है तुम्हारा?"

हवा के झोंके से ताड़ का सूखा पत्ता जैसे काँपता है, भय के मारे वह वैसा ही काँप रहा था। फिर प्यादे तो एक की ग्यारह करने वाले, पकड़ लाने को कहो तो बाँध लाए। मैं समझ गया कि इस बूढ़े से उन लोगो ने भद्र और नम्र व्यवहार बिल्कुल नहीं किया। उसकी हालत ही यह बता रही थी।

उसने काँपते हुए अपना नाम बताया दशरथ।

—"जात? घर कहाँ है?"

—मैं भूमिहार ब्राह्मण हूँ हुजूर। घर मुंगेर जिला पड़ता है—साहब-पुर कमाल।"

—"तुम आखिर भाग क्यों रहे थे?"

—"जी नहीं हुजूर, भागूँ क्यों भला ?"

—"खैर, लगान दे दो।"

—"कुछ बचा नहीं हुजूर, लगान कहाँ से दूँ? नाच दिखाकर सरसों मिली थी। उसी को बेंचकर खाना-खूराक चलाता रहा। हनुमानजी की किरिया।"

प्यादों ने कहा—"सरासर झूठ हुजूर, इसकी बातों में न आएँ। पैसे इसने खासे कमाए हैं और इसके पास ही में हैं। आज्ञा हो, तो तलाशी लें इसकी?" उसने हाथ बाँधकर, गिड़गिड़ा कर कहा—"हुजूर, मैं खुद ही बताए देता हूँ कि मेरे पास कितने पैसे हैं।"

उसने कमर में से एक बटुआ निकाल कर उँड़ेल दिया और बोला––"देख लें हुजूर, कुल तेरह आने पैसे हैं। अपना कोई नहीं है, मुझे दे भी कौन? खलिहानों में नाच दिखा-दिखा कर जो थोड़ा-सा जोड़ लिया है, बस। अब जब तक गेहूँ नहीं कटते, तब तक यही संबल है। गेहूँ कटने के अभी तीन महीने हैं। कमाई से दो मुट्ठी खाने भर को मिल जाता है। प्यादे लगान के आठ आने माँग रहे थे। फिर तो मेरे पास सिर्फ पाँच ही आने रह जाते हैं। इन पाँच आनों पर तीन महीने कैसे कटेंगे हुजूर?"

मैंने कहा––"हाथ में तुम्हारे जो पोटली है, उसमें क्या है, निकालो।"

उसने पोटली खोलकर दिखाई। उसमें से निकला टीन में मुड़ा एक छोटा-सा आईना, पन्नी का मुकुट––मोरपंखीवाला, गाल रँगने का रंग, नकली मोती की माला––सारे ही सामान उसके कृष्ण बनने के थे।

वह कहने लगा––"बाँसुरी तो है ही नहीं हुजूर। टीन की भी एक बाँसुरी लूँ, तो आठ आने से कम की नहीं आती। यहाँ तो मैंने सरपत की बाँसुरी से ही काम चलाया। ये गंगोते हैं, इनकी आँखों में धूल झोंकना आसान है; मगर हमारे मुंगेर के लोग बड़े इल्मवाले हैं, बाँसुरी न रहे तो हँसेंगे और पैसे न देंगे।'

मैंने कहा––"खैर, लगान नहीं दे सकते, तो उसके बदले में तुम नाच ही दिखा जाओ।"

बूढ़े को मानो मुट्ठी में स्वर्ग मिल गया। उसने साज-सिंगार किया––मुँह में रंग मला, माथे में मोरपंखेवाला मुकुट पहना और फिर जब वह बारह साल के बालक-जैसी भाव-भंगिमा दिखाता हुआ नाचने और गाने लगा, तो मैं सोच न सका कि हँसूँ या रोऊँ।

मेरे प्यादे मुँह पर कपड़े डाल कर हँसी रोक रहे थे। यह 'माखन-चोर नटुआ' का नाच उनकी निगाह में एक जानमारू तमाशा हो गया। सामने रहे मैनेजर बाबू, उनके सामने न तो जी खोलकर हँसते बन रहा था, न हँसी का दुर्दम आवेग दबाए दब रहा था। बुरा हाल था सब का।

ऐसा अजीब नाच मैंने अपने जीवन में नहीं देखा था। साठ साल का

बूढ़ा बालक की तरह कभी तो रूठ कर मुँह फुलाए जननी यशोदा से दूर हट जाता, कभी भर-पेट हँसकर चुराए हुए मक्खन को साथियों में बाँटता; चूँकि यशोदा ने उसके हाथ बाँध दिए, इसलिए कभी आँखें पोंछता हुआ सिसक-सिसक कर रोता। यह सब देख कर हँसते-हँसते उनके पेट में बल पड़ गए। सचमुच ही देखने की चीज थी वह नाच।

बूढ़े का नाच खत्म हो गया। मैंने तालियाँ पीटीं और उसकी भरपूर प्रशंसा की। कहा—"दशरथ, अपनी जिन्दगी में मैंने ऐसा नाच नहीं देखा, बड़ा ही अच्छा नाचते हो तुम। जाओ तुम्हारा लगान माफ कर दिया गया और ये दो रुपए मेरी तरफ से लो, बख्शीश। वाह, खूब नाच दिखाया!"

दस-बारह दिन के अन्दर-अन्दर फसल की खरीद-फरोख्त खत्म हो गई। जो जहाँ से आए थे, चले गए। केवल वे जोतदार लोग ही रह गए, जिन्होंने यहाँ घर बना लिया था। जो दूकानें आई थीं, उठ गई। नाचवाले, फेरीवाले कहीं और चले गए रोजगार की तलाश में। जो कटाई करने वाले अब तक इन नाच-तमाशों के लुत्फ उठाने को ही रुक गए थे, उन्होंने भी कूच करने की तैयारी कर ली।

[दो]

एक दिन टहल कर लौटते समय मैं नकछेदी तिवारी के झोंपड़े में उससे मिलने गया।

साँझ हो चली थी। दूर-दूर तक फैली हुई फुलकिया बैहार की हरी वन-रेखा में सूरज का लाल गोला डूब रहा था। यहाँ का सूर्यास्त, खास तौर से जाड़े के मौसम में ऐसा सुन्दर और अपूर्व होता कि बहुत बार मैं महालिखारूप के पहाड़ पर जाकर इस अद्भुत दृश्य को देखने की प्रतीक्षा में बैठा रहता।

नकछेदी तुरन्त खड़ा हो गया और कपाल तक हाथ ले जाकर मुझे सलाम करके बोला—"अरी मंची, बाबू साहब के बैठने के लिए कुछ बिछा दे।"

नकछेदी के यहाँ एक प्रौढ़ा स्त्री थी, वह उसकी स्त्री होगी, ऐसा अनुमान कर लेना स्वाभाविक था ; मगर वह हमेशा बाहर के ही काम-काजों में जुटी रहती। लकड़ी काट लाना, भीमदास टोले के कुएँ से पानी भर लाना---यही सब काम थे उसके। मंची उस लड़की का नाम था, जिसने उस दिन मुझे जंगली हाथी का किस्सा सुनाया था। उसने मेरे लिए कसाल की बुनी एक चटाई लाकर डाल दी। और गर्दन हिला-हिला कर अपनी दक्खिनी बिहार की 'छिकाछिकी' भाषा के सुन्दर लहजे में बोली---"बैहार का मेला कैसा लगा बाबूजी ? मैंने कहा था कि तरह-तरह के नाच-तमाशे आएँगे, तरह-तरह की चीजें आएँगी, देख लिया न आपने ? बहुत दिनों के बाद आए आप, बैठिए। हम तो अब जाने ही वाले हैं यहाँ से।"

मैं झोंपड़े के सामने अधसूखी घास पर चटाई खींच कर बैठा, जिससे ठीक सामने से सूर्यास्त को देख सकूँ। चारों तरफ के जंगल पर एक हलकी रंगीन आभा पड़ रही थी---सारे बैहार में फैली थी एक अवर्णनीय शांति, नीरवता।

मंची को उत्तर देने में शायद जरा देर हो गई मुझे। न जाने उसने फिर मुझसे क्या पूछा। उसकी 'छिकाछिकी' पूरी तरह समझ में नहीं आती थी, सो मैंने एक दूसरे प्रश्न से उसे दबाने की कोशिश करते हुए कहा--- "तुम लोग कल ही जा रहे हो ?"

---"जी हाँ।"

---"कहाँ ?"

---"पूर्णियाँ-किसनगंज।"

वह फिर बोली---"नाच-तमाशा कैसा लगा आपको ? अब की बार तो खासे अच्छे-अच्छे गाने वाले आए थे। एक दिन झल्लू टोले के उस बड़ी बकाईन के नीचे बैठकर एक आदमी ने मुँह से ही ढोलक बजाई थी। सुनी थी आपने ? बड़ी बेहतरीन बजाई थी।"

मैंने गौर किया---मंची को नाच-तमाशे में महज बच्चों-जैसा मजा

आता है। उसने खुशी और उत्साह के मारे जो-जो देखा था, सब सुनाना शुरू कर दिया।

नकछेदी बोला—"रहने भी दे अपना पचड़ा, बाबूजी कलकत्ता रहते हैं, तुझसे बहुत-बहुत ज्यादा देखा है इन्होंने। इसे ये नाच-तमाशे बहुत पसन्द हैं बाबूजी, इसी के लिए तो हम लोग यहाँ अब तक रुक गए थे। इसने कहा—'यह सब कुछ देख लेंगे, फिर चलेंगे।' निहायत बचपना है इसमें अब भी।"

आज तक मैंने पूछा नहीं था कि मंची नकछेदी की कौन होती है, सोचता था, लड़की ही होगी। अभी जो उसने कहा, तो फिर कोई सन्देह ही नहीं रह गया।

मैंने पूछा—"तुमने अपनी बेटी को ब्याहा कहाँ है?" नकछेदी ताज्जुब से बोला—"बेटी! मेरे बेटी कहाँ हुजूर?"

—"और यह मंची? मंची तुम्हारी बेटी नहीं है?"

मेरी बात पर सबसे पहले मंची खिलखिला कर हँस पड़ी। नकछेदी की प्रौढ़ा स्त्री भी मुँह में अँचरा डाले झोंपड़े के अन्दर चली गई।

नकछेदी अपमानित-से स्वर में बोला—बेटी क्या हुजूर? यह तो मेरी दूसरी बीबी है!"

मैंने कहा—"ओह!"

फिर कुछ देर सभी चुप रहे। मैं तो ऐसा अप्रतिभ हो गया कि क्या कहूँ, कोई बात ढूँढ़े न मिलने लगी।

मंची ने पूछा—"आग जला दूँ, जाड़ा बहुत है।"

जाड़ा सचमुच ही ज्यादा था। चक्का अस्त होते-होते जैसे हिमालय टूट पड़ता था। पूरब के आकाश का निचला भाग सूर्यास्त की आभा से रँग गया था, ऊपर घना नील।

झोंपड़े से जरा दूर पर कसाल की झाड़ी थी, मंची ने उसमें आग लगा दी। झाड़ी धाँय-धाँय करके जल उठी। हम लोग उसी जलती हुई झाड़ी के पास जा बैठे।

नकछेदी ने कहा—"अभी निहायत बच्ची है हुजूर, चीजें खरीदने का झोंक तो बेहद है इसे। यही समझिए कि मजूरी की कोई आठ-दस मन सरसों मिली थी इस बार। उसमें से तीन मन तो इसने शौक की चीजें खरीदने में ही खत्म कर दी। मैंने कहा—'इतनी मसक्कत की कमाई तू इन चीजों में क्यों बर्बाद करती है?' औरत की जात, सुनती नहीं। रो पड़ती है, आँसू बहाने लगती है। लाचार कह देता हूँ—'लो बाबा, लो'।"

मैंने मन-ही-मन सोचा, जवान बीबी के बूढ़े पति के लिए इसके सिवाय दूसरा चारा भी क्या है?

मंची ने कहा—"क्यों, मैंने तो कह दिया है कि गेहूँ की कटाई के समय मेले में मैं कुछ भी न लूँगी। उम्दा चीजें कुछ सस्ती मिल गईं—"

नकछेदी ने नाराज होकर कहा—"सस्ती मिलीं? काइयाँ दूकानदार और फेरीवालों ने बेवकूफ औरत समझ कर ठग लिया है तुझे—सस्ती मिल गई हैं? पाँच सेर सरसों में एक कंघी दी है बाबूजी। पिछले साल तिराशी रतनगंज के खलिहान में—"

मंची ने कहा—"खैर, मैं चीजें ही आपके सामने ले आती हूँ बाबूजी, आप ही बताएँ, सस्ती मिली हैं या नहीं—"

और वह लपक कर झोंपड़े में गई और कसाल की एक बन्द पिटारी लेकर बाहर आई। उसमें से एक-एक चीज निकाल कर मेरे सामने करीने से रखने लगी।

—"यह रही कंघी। कितनी बड़ी है! ऐसी कंघी क्या पाँच सेर सरसों से कम में भी मिल सकती है! जरा रंग तो देखिए, कितना उमदा है इसका! मजे की चीज है न बाबूजी! यह साबुन है, कितनी बेहतरीन खुशबू है इसमें! इसकी भी पाँच सेर सरसों ली थी। आप ही कहें, सस्ती है या नहीं?"

सस्ती कहाँ थीं चीजें? ऐसा रद्दी साबुन, कलकत्ता में एक आने से ज्यादा नहीं लगेगा एक टिकिया का और पाँच सेर सरसों की कीमत सस्ती

भी हो, तो साढ़े सात आने से कम नहीं। असल में ये गँवई औरतें चीजों की कीमत तो जानती नहीं, जो चाहे, इन्हें आसानी से ठग सकता है।

मंची ने और भी बहुत-सी चीजें दिखलाईं, खुशी से कभी यह, तो कभी वह, दिखाने लगी। जूड़े की कीलें, नकली पत्थर की अँगूठी, चीनी मिट्टी के खिलौने, एनामेल की तश्तरी, लाल फीते—ऐसी ही चीजें। औरतों की प्रिय वस्तुओं की सूची सभी जगह , सभी समाज में प्रायः एक ही-सी होती है। गँवई मंची और उसकी पढ़ी-लिखी बहनों में ज्यादा फर्क नहीं। चीजों के संचय और उन पर अधिकार करने की प्रवृत्ति दोनों की ही प्रकृति-प्रदत्त है। बूढ़ा नकछेदी गुस्सा भी हो तो क्या हुआ?

मगर मुझे इसकी थोड़े ही खबर थी कि दिखाने लायक जो सबसे बेहतरीन चीज थी, उसे आखिर में दिखाने के लिए मंची ने दबा रक्खा था!

अब उसने उसी चीज को नाज-भरे आनन्द आग्रह के साथ मेरे सामने रख दिया—वह थी नीले-पीले हिंगलाज की एक माला।

उसके चेहरे पर खुशी और गर्व की देखने लायक हँसी निखर आई। अपनी पढ़ी-लिखी दूसरी बहनों की तरह उसने मन के भावों को छिपाना तो सीखा नहीं था, सो इन सारी मामूली चीजों के अधिकारजनित उच्छ्वसित आनन्द में एक निर्मल और बनावट-विहीन नारी-आत्मा झाँकने लगी। हमारे सभ्य समाज में नारी-मन की ऐसी स्वच्छ अभिव्यक्ति देखने का सुयोग शायद ही मिलता हो।

—"अच्छा बताइए तो, ये सब चीजें कैसी हैं?"

—"निहायत अच्छी!"

—"क्या कीमत हो सकती है इसकी? आप लोग कलकत्ता में पहनते तो होंगे इसे?"

कलकत्ता में इसके व्यवहार की हमें जरूरत नहीं पड़ती, कोई नहीं पहनता, फिर भी मुझे लगा, ज्यादा-से-ज्यादा भी होगा, तो इसका दाम छै आने से हर्गिज अधिक न होगा। मैंने पूछा—"कितना लिया उसने, सो बताओ।"

—"सत्रह सेर सरसों। इसमें बाजी मेरी रही कि नहीं?"

वह बेतरह ठगी गई है, अब यह बताने से लाभ क्या था? ऐसा ही होता है। नाहक ही नकछेदी की झिड़कियाँ खिलाकर उसके मन की इस अनोखी खुशी को बर्बाद करने की मुझे क्या गरज पड़ी थी।

दरअसल यह सब कुछ मेरी ही अनभिज्ञता की बदौलत संभव हो सका है। मुझे चाहिए था कि फेरीवालों के दर-दाम का खास खयाल रक्खूँ। लेकिन मैं था नया, यहाँ की इन बातों की मुझे जानकारी भी क्या थी? मुझे तो इतना भी मालूम नहीं था कि फसल तैयार होने समय ऐसा मेला लगता है! आइंदा ऐसी धाँधली न हो, इसका प्रबन्ध करने का मैंने निश्चय कर लिया।

दूसरे दिन सबेरे नकछेदी अपनी दोनों स्त्रियों और बाल-बच्चों के साथ यहाँ से चला गया। जाने से पहले लगान चुकाने के लिए वह मेरे झोंपड़े में आया था, साथ मंची भी आई थी। मैंने देखा—मंची के गले में वही माला है। उसने मुस्कुराकर कहा—"भादों में मकई काटने को फिर आऊँगी बाबूजी। आप रहेंगे तो? हम जंगली बहेड़े का अचार डाला करते हैं—आपके लिए मैं लेती आऊँगी!"

मंची मुझे अच्छी लगी थी। उसके चले जाने से मैं दुखी हुआ।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

[एक]

अबकी बार मुझे एक अजीब जानकारी प्राप्त हुई।

खबर मिली कि मोहनपुरा रिजर्व फारेस्ट से दक्खिन में पन्द्रह-बीस मील पर सखुए और बीड़ी के पत्ते का बड़ा-सा जंगल कलक्टरी से नीलाम किया जायगा। मैंने अपने हेड आफिस को इसकी सूचना दी। तार द्वारा आदेश मिला, जैसे भी हो, उस जंगल को नीलामी में बड़ी-से-बड़ी बोली बोल कर ले लो।

लेने के पहले जंगल को एक बार अपनी आँखों से देखना जरूरी था। क्या है, नहीं है—यह जाने बिना बोली बोलना मुझे मंजूर नहीं था। नीलाम की तारीख भी समीप थी, सो तार पाने के दूसरे ही दिन मैं वहाँ से चल पड़ा।

मेरे कुली वगैरह मेरा सामान लेकर पहले ही चल पड़े थे। मोहनपुरा की हद पर कारो नदी पार करते समय उनसे भेंट हो गई। साथ में बनवारी लाल पटवारी था।

पतली-सी पहाड़ी नदी। घुटने-भर पानी पत्थरों पर से झिर-झिर कर बह रहा था। हम दोनों घोड़े पर से उतर पड़े। पत्थरों पर घोड़े के फिसलने का खतरा था। दोनों किनारों पर बालू के ऊँचे कगारे थे। उन पर भी घोड़ों से चढ़ते नहीं बनता था—घुटने तक वे बालू में डूब जाते। जब तक मैं उस पार की सख्त समतल जमीन पर पहुँचा, दिन के ग्यारह बज रहे थे। बनवारी पटवारी बोला—"रसोई यहीं बन जाती, तो अच्छा था हुजूर, आगे पता नहीं, पानी मिलेगा भी कि नहीं।"

नदी के दोनों किनारों पर जनहीन जंगल था। यही गनीमत थी कि जंगल बड़ा नहीं था, छोटे-छोटे केंद, पलास और सखुए के पेड़ चट्टानों की भरमार, आबादी का कहीं नामोनिशान भी नहीं।

भोजन का क़ाम जल्दी ही खत्म कर लिया गया, लेकिन फिर भी वहाँ से रवाना होने में मुझे एक बज गया।

बेला खत्म होने को आई, मगर जंगल का फिर भी खात्मा नहीं हो रहा था। मेरे जी में आया—'और आगे जाने की बेकार कोशिश न करके किसी बड़े पेड़ के नीचे पड़ाव डाल देना ही बेहतर है।' बीच में दो जंगली बस्तियाँ मिलीं जरूर थीं, एक कुल पाल और दूसरी बुरुड़ि ; लेकिन उस समय दिन के लगभग तीन बजे थे। अगर यह मालूम होता कि शाम तक इस जंगल का अन्त नहीं होने का, तो रात वहीं बिताने की सोची जाती।

शाम होते-होते जंगल और भी घना मिलने लगा। पहले जरा छिछला-छिछला-सा था, अब ऐसा मालूम होने लगा, मानो चारों तरफ से बड़े-बड़े पेड़ों की भीड़ ने पतली पगडंडी को दबोच दिया हो। अभी-अभी जहाँ मैं खड़ा हूँ, वहाँ चारों तरफ ऊँचे-ऊँचे पेड़ खड़े हैं, आसमान नहीं दिखाई पड़ता, रात का अँधेरा अभी से ही घनीभूत हो उठा।

कहीं-कहीं जंगल की शोभा देखने ही योग्य थी! जानें कौन-से सफेद फूलों के गुच्छों से जंगल प्रकाशित हो उठा था। नीले आसमान के नीचे छाया-सघन अपराह्न में ये फूल वन के माथे पर निखर आए थे, मनुष्य की नजरों की ओट में सभ्य जगत् से दूर। पता नहीं, यह इतना सौन्दर्य किसके लिए बिछाया गया था! बनवारी ने बताया—'यह जंगली तेउड़ी के फूल हैं—इसी समय खिलते हैं।' जिधर देखता, उधर ही पेड़ों और झाड़ियों के ऊपर नीलापन लिये तेउड़ी के श्वेत फूलों ने अपनी शोभा बिखेर रखी थी, जैसे किसी ने धुनी हुई नीलाभ रुई पेड़ों पर बिखेर दी हो। पता नहीं घोड़े को रोक कर वहाँ कितनी देर तक रुका रहा गया। कहीं-कहीं की शोभा ऐसी अद्भुत थी कि देख कर मन अजीब-सा हो उठता था। लगता, जाने कहाँ आ गया हूँ, कितनी दूर, सभ्य संसार से बहुत दूर किसी जन-विहीन अजाने जगत् की उदास और अनुपम वन्य-सुषमा के बीच, जिससे मनुष्य का कोई सम्बन्ध ही नहीं, और न ही मनुष्यों को वहाँ प्रवेश करने का अधिकार है, जो सिर्फ जीव-जन्तु और पेड़-पौधों की ही दुनिया है।

बार-बार अवाक् होकर जंगल के दृश्य देखते रहने के कारण शायद और भी देर हो गई। बनवारी मेरे मातहत काम करता था, लिहाजा वह मुझे कुछ कह तो सकता नहीं था, लेकिन वह भी जरूर अपने मन में यही सोच रहा होगा कि 'इन बंगाली बाबू के दिमाग का कोई पुर्जा जरूर खराब है। इनसे जमींदारी का काम-धाम भला कब तक चल सकेगा ?' आखिर हम एक बड़े-से आसन पेड़ के नीचे ठहर गए। सब मिलाकर हम, आठ दस आदमी थे। बनवारी ने कहा––"काफी आग जला लें और सब पास-पास रहें। बिखर कर कोई न रहे, बहुत तरह का खतरा है।"

मैं कैंप-चेयर डाल कर बैठा। ऊपर दूर तक फैला हुआ खुला आकाश, अभी तक अँधेरा लरा नहीं था ; दूर, पास तमाम जंगल में तेउड़ी के सफेद फूलों का मेला, ढेरों फूल, अनगिनती ! मेरी कुर्सी के पास ही सुनहले रंग की अधसूखी और लम्बी-लम्बी घास थी। धूप से तपी मिट्टी की सोंधी गंध, सूखी घास की गंध, किसी अनचीन्हे वनफूल की गंध––जैसे दुर्गा-प्रतिमा के राँगे के साजों की बू हो ! इस उन्मुक्त और वन्य जीवन ने मेरे मन में मुक्ति और आनन्द की अनुभूति भर दी––वह अनुभूति, जो ऐसे विराट् सूने प्रांतर और मानवहीन स्थान के सिवाय और कहीं नहीं आ सकती। अपना अनुभव न हो, तो किसी को मुक्त जीवन का वह उल्लास समझा सकना कठिन है।

इतने में एक कुली ने आकर पटवारी से कहा कि वह सूखे डाल-पत्ते बीनने के लिए जरा दूर निकल गया था, वहाँ उसने कोई चीज देखी। यह जगह अच्छी नहीं, भूत या परियों का अड्डा मालूम होता है ; यदि यहाँ पड़ाव न ही डाला जाता तो अच्छा था।

पटवारी ने कहा––"हुजूर, जरा चलकर देख ही आएँ कि क्या है।"

जंगल में थोड़ी दूर तक चलकर कुली ने दूर से वह जगह दिखाकर कहा––"हुजूर वहाँ जाकर देखें, मैं तो और आगे नहीं जा सकता।"

कँटीली लताओं की झाड़ी में एक स्तम्भ पर भयानक-सा चेहरा खुदा था। साँझ को उसे देखकर डर जाना स्वाभाविक ही था।

वह चेहरा हाथ का बना हुआ बेशक था, मगर मैं समझ नहीं सका कि इस घोर जंगल में यह स्तम्भ आया कहाँ से। यह भी नहीं समझ सका कि यह है कितना पुराना।

आखिर ज्यों-त्यों करके रात बीती। सुबह के नौ बजे तक हम अपनी जगह पहुँच गए।

वहाँ जंगल के मालिक के एक कर्मचारी से भेंट हुई। उसने मुझे जंगल दिखाना शुरू किया। अचानक एक सूखे नाले के उस पार पत्थर के खंभे की चोटी झाँक उठी, ठीक वैसा ही स्तम्भ, जैसा कल शाम को देखा था। इसमें भी वैसी ही एक भयानक आकृति खुदी हुई थी।

वनवारी मेरे साथ था। उसे भी मैंने दिखाया। कर्मचारी उसी इलाके का रहने वाला था। उसने बताया—इस इलाके में ऐसे और भी चार-पांच स्तम्भ हैं। इधर पहले असभ्य जंगली जातियों का निवास था। यहाँ राज्य भी इन्हीं का था। ये स्तम्भ उन्हीं के हाथों के बने हैं। ये हैं सीमा-निर्देशक खंभे।

मैंने पूछा—"तुमने यह कैसे जाना कि ये खंभे हैं?"

वह बोला—"सदा से यही सुनता आ रहा हूँ बाबूजी। इसके सिवाय उस राजा के वंशधर अभी तक जीवित हैं।"

मुझे बड़ा कौतूहल हुआ। पूछा—"कहाँ हैं?"

उसने उँगली से दिखाते हुए कहा—"इस जंगल की उत्तरी सीमा पर एक छोटी-सी बस्ती है, वहीं। हमने तो सुना है कि उत्तर में हिमालय, दक्खिन में छोटानागपुर की सीमा, पूरब में कोसी नदी और पच्छिम में मुंगेर—इस चौहद्दी के अन्दर के सभी पहाड़ी जंगलों के राजा इन्हीं के पुरखे थे।"

स्कूल मास्टर गनौरी तिवारी ने भी मुझसे एक बार यही कहा था कि यहाँ के आदिम जातीय राजा के वंशधर अभी भी जीवित हैं। इधर की पहाड़ी जातियों के सभी लोग अभी भी उन्हें राजा मानते हैं। मुझे वह बात याद आ गई। जंगल वाले कर्मचारी का नाम तो था

बुद्धूसिंह ; किन्तु वह बहुत होशियार था। बहुत दिनों से यहाँ काम कर रहा था ; वह यहाँ के जंगल-पहाड़ों की अच्छी जानकारी रखता था।

बुद्धूसिंह ने बताया—"मुगलों के जमाने में इन लोगों ने उनसे लड़ाइयाँ लड़ी थीं। इधर से जब उनकी सेना बंगाल को जाती थी, तब ये लोग तीर-कमानों से उन्हें रोका करते थे। आखिरकार जब राजमहल में मुगल सूबेदार रहने लगे, तब इन लोगों की रियासत चली गई। बड़े बहादुर थे ये। अब तो कुछ रहा नहीं। रहा-सहा भी जो था, सो सन् १८६२ के संथाल-विद्रोह में जाता रहा। उस विद्रोह के नेता अभी जीवित हैं। वही वर्तमान राजा हैं। नाम है उनका दोबरू पन्ना वीरवर्दी। बहुत बूढ़े हो गए हैं और बड़े ही गरीब हैं। इतना होने पर भी यहाँ की आदिम जातियाँ उन्हें राजा का ही सम्मान देती हैं। राज-पाट न होते हुए भी सब उन्हें राजा ही मानते हैं।"

राजा से मिलने की मुझे बड़ी उत्कंठा हुई।

राजा के दर्शनों के लिए योग्य भेंट की जरूरत थी। जिसका जो प्राप्य सम्मान है, वह न दो तो कर्त्तव्य की हानि होती है।

एक बजते-बजते पास के गाँव से मैंने कुछ फल-मूल और दो बड़े-बड़े मुर्गे खरीद लिये। यहाँ का जो काम-काज था, उसे समाप्त किया और लगभग दो बजे मैंने बुद्धूसिंह से कहा—"चलो, जरा राजा से मिल आएँ।"

बुद्धूसिंह में मुझे वैसा उत्साह नहीं दिखा। वह बोला—"आप जायँगे वहाँ? आपसे मिलने लायक नहीं हैं वह। असभ्य पहाड़ियों के राजा हैं सही, तो क्या आपसे बराबरी की बात करने योग्य हो सकते हैं बाबूजी? कोई खास बात नहीं।"

मैंने उसकी अनसुनी कर दी। मैं और बनवारीलाल राजधानी की तरफ चले। उसे भी अपने साथ ले लिया।

राजधानी एक निहायत मामूली बस्ती, बीस-पच्चीस घर के लोगों की आबादी थी वह।

मिट्टी के छोटे-छोटे घर, खपड़ापोश। खूब साफ-सुथरे—लिपे-पुते। दीवारों पर साँप, कमल, लताएँ बनीं। छोटे-छोटे बच्चे खेल-कूद में मशगूल थे, औरतें घर के काम-धंधे करती थीं। युवतियों के बदन की खूबसूरत बनावट, अच्छी तनदुरुस्ती, प्रत्येक के चेहरे पर कितना सुन्दर लावण्य! सब हम लोगों की तरफ अवाक् देखते रहे।

एक स्त्री से बनवारीलाल ने पूछा—"राजा छै रे?"

उसने जवाब दिया—"मैंने देखा तो नहीं, मगर घर ही होंगे, जायँगे कहाँ?"

[दो]

बस्ती में जहाँ हम सब जाकर रुके, वही राजप्रासाद है, ऐसा बुद्धूसिंह के भाव से जाहिर हुआ। गाँव के दूसरे घरों से इसमें इतना ही फर्क था कि इसके चारों तरफ पत्थर की चहारदीवारी थी। गाँव के पीछे ही पहाड़ी थी, पत्थर वहीं से लाए गए थे। राजभवन में बच्चे बहुत थे, कई तो बहुत ही छोटे। उनके गले में काँच के दानों की और फलों के लाल-नील बीजों की मालाएँ थीं। दो-एक बच्चे देखने में बड़े ही खूबसूरत लगे। बुद्धूसिंह ने पुकारा, तो सोलह-सत्रह साल की एक लड़की दौड़कर बाहर निकली और हमें देखकर अवाक् रह गई। उसकी निगाहों से लगा कि वह डर भी गई है।

बुद्धूसिंह ने पूछा—"राजा कहाँ हैं?"

बुद्धूसिंह से मैंने उस लड़की के बारे में पूछा। उसने बताया—"यह राजा के पोते की लड़की है।"

यानी राजा ने बहुत दिनों तक स्वयं जीवित रहकर बेशक बहुतेरे युवक और प्रौढ़ों को गद्दी के हक से वंचित किया है!

मानें चाहे न मानें, मैंने अपने मन में सोचा कि यह जो लड़की हमें राह दिखाती चल रही है, वह वास्तव में राजकुमारी है—इसके

पुरखों ने बहुत दिनों तक इस जंगली इलाके पर शासन किया है--उसी शासक-वंश की यह लड़की है।

मैंने लड़की का नाम पूछने को कहा।

बुद्धूसिंह ने बताया--"उसका नाम है भानुमती।"

--"वाह, नाम तो बड़ा सुन्दर है--भानुमती! राजकुमारी भानुमती!"

भानुमती की तन्दुरुस्ती अच्छी थी, गठा हुआ शरीर। लावण्यभरा मुखमंडल। हाँ, जो कपड़े वह पहने थी, वह सभ्य समाज के मानदंड के अनुरूप नहीं थे। सिर के बाल रूखे। गले में काँच और कौड़ी के दाने। दूर ही से एक बड़ी बकाईन की ओर इशारा करते हुए उसने कहा--"वहाँ जाओ, वहीं बाबा गाय चरा रहे हैं।"

'गाय चरा रहे हैं!' मैं तो चौंक पड़ा--'इलाके भर के राजा, संथाल विद्रोह के नेता दोबरू पन्ना वीरवर्दी, और गाय चरा रहे हैं? यह कैसी बात!'

कुछ पूछने के पहले ही भानुमती वहाँ से जा चुकी थी। हम लोग आगे बढ़े। देखा--बकाईन के नीचे बैठकर एक बूढ़ा आदमी सखुए के पत्ते में तम्बाखू भरकर पी रहा है।

बुद्धूसिंह बोला--"सलाम राजा साहब!"

ऐसा लगा, दोबरू पन्ना कानों से सुन तो लेते हैं; पर आँखों से भली तरह देख नहीं पाते।

बोले--"कौन, बुद्धूसिंह? साथ में और कौन है?"

वह बोला--"एक बंगाली बाबू हैं, आपसे मिलने के लिए आए हैं। वे कुछ भेंट लाए हैं, आपको वह भेंट कबूल करनी पड़ेगी।"

मैंने बूढ़े के सामने खुद ले जाकर मुर्गे और फल रक्खे और कहा--"आप इस इलाके के राजा हैं। मैं आपके दर्शनों के लिए बड़ी दूर से आया हूँ।"

बूढ़े की लम्बी-चौड़ी बनावट से ही मुझे लगा--जवानी में दोबरू

पन्ना देखने ही लायक जवान रहे होंगे। चेहरे पर बुद्धि की छाप साफ झलकती थी। वे बहुत खुश हुए। मेरी तरफ गौर से देखकर उन्होंने पूछा—"आपका घर ?"

मैंने कहा—"कलकत्ता !"

—"ओहहो, बड़ी दूर है। सुना है, कलकत्ता बहुत बड़ी जगह है।"

—"आप वहाँ कभी नहीं गए क्या ?"

—"नहीं-नहीं। हम शहर कहाँ जाते। हमारे लिए यह जंगल ही ठीक है। बैठिए। भानमती कहाँ गई, अरी ओ भानमती !"

वह दौड़ी-दौड़ी आई। पूछा—"क्या है बाबा ?"

—"देखो, ये बंगाली बाबू और इनके साथ के आदमी आज यहीं रहेंगे, खाएँगे-पिएँगे।"

मैंने प्रतिवाद किया—"जी नहीं, हम तो आपसे भेंट करने आए थे, तुरन्त चले जाएँगे। रहने के लिए आप....."

उन्होंने कहा—"यह हर्गिज नहीं हो सकता। भानमती, यहाँ से ये चीजें उठा ले जा !"

मैंने इशारा किया। बनवारीलाल भानमती के पीछे-पीछे गया और सब चीजें पहुँचा आया। मैं बूढ़े की बात को टाल नहीं सका, उन्हें देख कर ही मेरा हृदय भर आया था। संथाल-विद्रोह के नेता, पुराने अभिजात-वंश के वीर दोबरू पन्ना (आदिम जाति के ही हुए तो क्या हुआ) मुझे रहने का आग्रह कर रहे हैं, उस आग्रह को आदेश ही समझना चाहिए।

मैं देखते ही समझ गया था कि राजा साहब हैं बड़े ही गरीब। उन्हें गाय चराते हुए देखकर पहले मैं चकित तो हो गया ; पर बाद में खयाल आया कि भारत के इतिहास में इनसे भी बहुत बड़े-बड़े राजा परिस्थिति-वश इससे भी हीन ृत्ति करने को मजबूर हुए थे।

उन्होंने अपने हाथों से सरपुए के पत्ते का चुरुट बनाकर मुझे दिया। दियासलाई नहीं थी। पास ही आग जल रही थी। उसी में से एक पत्ता सुलगा कर उन्होंनें मेरी तरफ बढ़ाया।

मैंने कहा—"आप भारत के प्राचीन राजवंश के हैं, आपके दर्शन से पुण्य होता है।"

दोबरू पन्ना बोले—"अब क्या रहा? हमारा वंश सूर्यवंश है। यह पहाड़-जंगल, सारी पृथ्वी अपना ही राज्य थी। जवानी में मैंने कंपनी से लड़ाई लड़ी थी। अब अपनी उम्र काफी हो गई। लड़ाई में मैं हार गया। फिर कुछ रह नहीं गया।

ऐसा नहीं मालूम हुआ कि इस जंगली भूभाग के सिवा बाहरी किसी पृथ्वी की उन्हें खबर है। उनकी किसी बात का मैं जवाब देने जा रहा था कि वहाँ एक युवक आकर खड़ा हुआ।

दोबरू ने कहा—"यह मेरा छोटा पोता है, जगरू पन्ना। इसका बाप अभी यहाँ नही है, लछमीपुर की रानी साहिबा से भेंट करने गया है। अरे, जगरू, बाबू साहब के लिए खाने का इन्तजाम कर।"

नए सखुए के तने-सा जवान का बदन, उभरी हुई पेशियाँ। उसने पूछा—"आप साही का माँस खाते हैं?"

फिर अपने पितामह की तरफ ताक कर कहा—"कल पहाड़ के उस पार फंदा डाला था, दो साही फँसे हैं।"

सुना, राजा के तीन बेटे, उनके आठ-दस बच्चे-बच्चियाँ है। इतने बड़े राज-परिवार के सभी लोग एक साथ इसी गाँव में रहते हैं। शिकार करना और गाय चराना, यही इनकी आजीविका है। इसके सिवाय आपसी झगड़े के फैसले के लिए जो पहाड़ी लोग आते, वे कुछ-न-कुछ भेंट अवश्य देते—दूध, मुरगी, बकरी, चिड़िया या फल-मूल।

मैंने पूछा—"खेती-बारी भी है कि नहीं?"

उन्होंने गर्व के साथ कहा—"खेती अपने वंश का कार्य नहीं। अपने यहाँ शिकार की इज्जत सबसे ज्यादा है, वह भी कभी भाले से शिकार करने का गर्व सबसे बड़ा समझा जाता था। तीर-कमान से किया हुआ शिकार देवता के काम नहीं आता। वह वीर का काम भी नहीं। लेकिन अब सभी चलने लगा है। मेरा बड़ा लड़का मुंगेर से एक बन्दूक

खरीद लाया है। मैंने उसे कभी छुआ तक नहीं। भाले का शिकार ही यहाँ शिकार है।"

भानुमती मिट्टी का बर्त्तन लेकर फिर आई।

राजा साहब बोले—"लीजिए, तेल लगा लीजिए। पास ही एक झरना है, सुन्दर झरना, उसमें नहा लीजिए।"

हम नहा कर लौटे, तो राजा ने हमें राजभवन के एक कमरे में ले जाने को कहा।

भानुमती चावल और आलू ले आई। जगरू ने साही का माँस बना कर मखुए के पत्ते पर दिया। भानुमती दूध और शहद ले आई। मेरे साथ रसोइया नहीं था। बनवारी को आलू छीलने को कहा और मैं चूल्हा जलाने की चेष्टा में गया; लेकिन मोटी-मोटी लकड़ियों से चूल्हा सुलगाना बड़ा कष्टदायक था। कई बार चेष्टा की; पर मुझसे न सुलग सका। इतने में भानुमती ने चिड़िया का एक घोंसला लाकर चूल्हे में डाल दिया और आग जल उठी। फिर वह दूर हट कर खड़ी हो गई। भानुमती है तो राजकन्या, मगर खासे अच्छे स्वभाव की। बड़ा ही सहज और सरल मर्यादा-ज्ञान।

स्वयं राजा दोबरू पन्ना शुरू से आखिर तक रसोई घर के दरवाजे पर बैठे रहे, जिससे आतिथ्य में किसी बात की त्रुटि न हो। भोजनादि कर चुकने के बाद वे बोले—"मेरे पास उतने कमरे तो हैं नहीं, आप लोगों को बड़ी तकलीफ हुई। इसी जंगल में पहाड़ पर अपने खानदान का बहुत बड़ा मकान था, आज भी उसके चिह्न मौजूद हैं। अपने बाप-दादों के मुँह से मैंने सुना है, पुराने समय में हमारे पुरखे वहाँ रहते थे। अब क्या वे दिन रह गए हैं! हमारे पुरखों द्वारा प्रतिष्ठित देवता आज भी वहाँ हैं।"

मुझे बड़ा कौतूहल हुआ। कहा—"अगर हम उसे एक बार देख आएँ, तो आपको कोई एतराज तो न होगा?"

—"एतराज किस बात का? हाँ, असल में वहाँ अब कुछ खास बात तो है नहीं। चलिए, मैं भी चलता हूँ। जगरू, हमारे साथ चलो।"

मैंने आपत्ति की—बानवे साल के बूढ़े को पहाड़ पर चढ़ाने को जी नहीं चाहा; मगर मेरी आपत्ति टिक नहीं सकी। हँस कर उन्होंने कहा—"पहाड़ पर तो अक्सर मुझे चढ़ना ही पड़ता है। हमारे वंश की समाधियाँ वहीं हैं। प्रत्येक पूर्णिमा को मुझे वहाँ जाना पड़ता है। चलिए, आपको वह जगह भी दिखाऊँगा।"

उत्तर पूरब के कोने से यह छोटी-सी पहाड़ी—यहाँ उसे धनझरी कहते हैं—एक जगह अचानक पूरब की तरफ घूम गई है, जिसमे एक कोना-सा बन गया है। उसके नीचे है उपत्यका, इस उपत्यका में हरियाली की तरंग-सा उतर आया है जंगल, जैसे पहाड़ पर से झरना उतरता हो। जंगल बहुत घना नहीं, छिछला-सा है। जंगल के माथे पर दूर की क्षितिज-रेखा से लगी धुँधली शैलमाला, शायद गया या रामगढ़ की तरफ की हो—जहाँ तक नजर जा रही थी, जंगल-ही-जंगल था, कहीं बड़े-बड़े पेड़ों के ऊँचे जंगल और कहीं सखुए और पलाश के नए पौधों के कम ऊँचे। जंगल की पतली पगडंडी पकड़ कर हम पहाड़ पर पहुँचे।

एक जगह पत्थर की एक चट्टान, ढेंकी के आकार की, गड़ी थी। उसके पास ही एक बहुत बड़े गढ़े का मुँह था, वैसा ही गढ़ा जैसा कि कुम्हारों के बर्तन पकाने का आवा होता है, या लोमड़ी जमीन में बनाती है। गढ़े के मुँह पर सखुए के पौधे उगे थे।

राजा दोबरू बोले—"इस गढ़े के अन्दर जाना होगा। डरने की बात नहीं, मेरे साथ चलिए। जगरू, तुम आगे-आगे चलो।"

जान हथेली पर लेकर में अन्दर धँसा। बाघ-भालू का खतरा हो सकता है। यदि वह न हुए तो साँप के होने में तो कोई शक ही नहीं।

गढ़े में कुछ दूर तक तो झुक कर चलना पड़ता है, तब खड़े होने की गुंजाइश मिलती है। पहले तो भीतर बड़ा अँधेरा लगा; पर कुछ

देर में अभ्यस्त हो जाने पर कोई असुविधा न हुई। यह एक गुफा थी। होगी कोई बीस-बाईस हाथ लम्बी और पन्द्रह हाथ चौड़ी। उत्तर की दीवार में लोमड़ी के गढ़े-सा एक दूसरा गढ़ा भी था। उससे कुछ दूर आगे जाने पर शायद ऐसी ही दूसरी गुफा है; मगर उसके अन्दर जाने की इच्छा मैंने नहीं जाहिर की। गुफा की छत ज्यादा ऊँची न थी। खड़ा होकर कोई भी व्यक्ति हाथ से उसे छू सकता। अजीब बू आ रही थी अन्दर। चमगादड़ों का अड्डा। सुना है यहाँ गीदड़ और बनबिलाव भी रहते हैं। बनवारी ने मुझसे चुपके से कहा—"हुजूर, यहाँ और ज्यादा न ठहरें, चलें बाहर।"

दोबरू पन्ना के पुरखों का किला-भवन यही है!

हकीकत में यह एक प्राकृतिक गुफा थी—पुराने जमाने में पहाड़ के ऊपर की तरफ मुँह वाली गुफा में छिप जाने से दुश्मनों से सहज ही जान बच सकती थी।

राजा ने कहा—"इसका एक और भी द्वार हैं, गुप्त द्वार। उसका पता किसी को नहीं दिया जाता। उसे हमारे खानदान के लोगों को छोड़ कर और कोई नहीं जानता। यद्यपि आज-कल इसमें कोई नहीं रहता, फिर भी उस नियम का पालन किया जाता है।"

गुफा से निकल कर जान में जान आई।

थोड़ी और चढ़ाई चढ़ने के बाद पहाड़ पर एक बहुत बड़ा बरगद का पेड़ बीघे भर तक अपनी झुरियाँ फैलाए खड़ा था।

राजा ने कहा—"कृपया जूते उतार कर चलें।"

पेड़ के नीचे, मसाला पीसने के जैसे पत्थर होते हैं, वैसे ही बहुत-से पत्थर वहाँ भी बिखरे पड़े थे।

राजा ने बताया कि उनके वंश का समाधि-स्थान यही है। वहाँ का एक-एक पत्थर राजवंश के एक-एक व्यक्ति की समाधि का द्योतक था। बरगद के नीचे तमाम वैसी चट्टानें बिखरी पड़ी थीं। कोई-कोई समाधि बड़ी ही पुरानी थी। बरगद की झुरियों ने दो तरफ से उसे

सँड़ासी की तरह जकड़ रक्खा था। और वे झुरियाँ पेड़ की जड़ों-जैसी ही मोटी हो गई थीं। कई चट्टानें तो झुरियों से बिल्कुल ढँक गई थीं। उनकी प्राचीनता इसी से समझी जा सकती थी।

राजा दोबरू ने कहा—"यह बरगद पहले यहाँ नहीं था। दूसरे-दूसरे पेड़ थे। काल-क्रम से एक नन्हे-से पौधे ने फैल कर दूसरे सभी पेड़ों को मार डाला। यह बरगद इतना पुराना है कि असली जड़ अब नहीं रही। जो झुरियाँ ऊपर से उतरी हैं, वही जड़ बन गई हैं। इन झुरियों को उखाड़ फेंकें तो पता चले कि इनके नीचे ऐसे कितने पत्थर दबे पड़े हैं। अब आपही समझें, यह समाधि-स्थान कितना पुराना है।

वास्तव में उस पेड़ के नीचे खड़े-खड़े मेरे मन में ऐसा एक भाव जगा, जो अब तक कहीं नहीं जगा था, राजा को देख कर भी नहीं (वह तो एक बूढ़े संथाल से लगे), राजकुमारी को देखकर भी नहीं (किसी तन्दुरुस्त हो या मुंडा तरुणी से राजकुमारी का कोई भेद नहीं था), और राजप्रासाद को देखकर तो बिल्कुल ही नहीं (वह तो साँपों का अड्डा या किसी भूतिया महल-सा लगा) ; मगर बरगद और उसके नीचे के जाने कितने दिनों के इस समाधि-स्थान ने मेरे हृदय में एक अननुभूत और अपूर्व अनुभूति जगा दी।

उस जगह की गंभीरता, रहस्य और प्राचीनता का भाव अवर्णनीय है। दिन ढल रहा था, पीली धूप पत्तों, डालों और झुरियों पर, जंगल और धनझरी की विभिन्न चोटियों पर पड़ने लगी। अपराह्न की उस घनीभूत छाया ने तो मानो उस समाधि-स्थान को और भी गंभीर, रहस्य-मय सौन्दर्य से मंडित कर दिया था।

मिस्र के प्राचीन राजाओं के समाधि-स्थल थिब्स के पास जो 'वैली आव दि किंग्स' है, वह आज संसार-भर के पर्यटकों की लीलाभूमि हो उठी है ; उसका जितना ढोल पीटा गया है, जितना प्रचार किया गया है कि मौसम में उसके होटलों में तिल धरने की जगह नहीं मिलती— 'वैली आव दि किंग्स' अतीत के कुहरे से जितना अंधकाराच्छन्न नहीं

हुआ था, उतना हो जाता है सिगरेट के धुएँ से; मगर प्राचं
राजाओं का यह समाधि-स्थल रहस्य और महिमा में उससे वि
कम नहीं है, जो वन की सघन छाया में गिरि-माला की ओ
युग से अपने को छिपाए है, सदा छिपाए रहेगा। मिस्र के धन
की कीर्ति के समान इनके समाधि-स्थान में आडम्बर नहीं है
और वैभव नहीं है, क्योंकि ये बेचारे नितान्त गरीब थे, इनकं
और संस्कृति मनुष्य के आदिम युग की सभ्यता और संस्कृति थं
गुफाओं में अपना राजमहल, राजसमाधि और सीमाज्ञापक जो खं
वे शिशु मानव के मन से बनाए। अपराह्न की छाया में पहाड़
उस विशाल बरगद के नीचे खड़े होकर मैं सर्वव्यापी शाश्वत
दूर अतीत में अभिज्ञता की एक नई ही दुनिया देख पाया-
तुलना में पौराणिक और वैदिक युग भी वर्तमान के पर्याय में आ

मैं देखने लगा——उत्तर-पश्चिम की घाटी को पार करवे
आर्यगण स्रोत के वेग से अनार्य आदिम जाति द्वारा शासित
प्रवेश कर रहे हैं——भारत का जो परवर्त्ती इतिहास है, वह
सभ्यता का इतिहास है——अनार्य जातियों का कहीं कोई इति
और अगर लिखा भी है, तो इन्हीं गुप्तगिरि-गह्वरों में, जंगलों
कार में और टूट कर बिखरने वाली कंकाल-रेखाओं में। उ
को पढ़ने की विजयी आर्य-जाति को कभी चिन्ता ही नहीं हुई।
अभागे आदिम लोग आज भी उसी तरह उपेक्षित और अवम
सभ्यता के गर्व में चूर आर्यों ने उनकी ओर कभी उलट कर
ताका, उनकी सभ्यता को समझने की कभी कोशिश नहीं की
भी नहीं करते। मैं और बनवारी उसी विजयी जाति के और ब
पन्ना, युवक जगरू और तरुणी भानुमती उस विजित, पद-दलित
प्रतिनिधि हैं——हम दोनों ही जाति के लोग संध्या के अन्धेरे
सामने खड़े हैं; सभ्यता के गर्व से ऊँची नाक लिये, आर्यकों
से हम प्राचीन अभिजात-वंशीय दोबरू पन्ना को बढ़ा संथाल

हैं, राजकुमारी भानुमती को मुंडा मजदूरिन समझ रहे हैं ; उन्होंने जिस प्रासाद को बड़े आग्रह और गर्व के साथ मुझे दिखाया, उसे अनार्य सुलभ हवा-धूप-रहित गुफा, साँपों और भूतों का अड्डा समझ रहा हूँ। शाम के अँधेरे में इतिहास की यह महान् करुण नाटिका मानो मेरी आँखों के आगे अभिनीत हुई—उस नाटक के कुशीलव हैं हारे, उपेक्षित और दरिद्र अनार्य राजा दोबरू पन्ना, तरुणी अनार्य राज कन्या भानुमती, तरुण राज-पुत्र जगरू पन्ना—दूसरी तरफ मैं, मेरा पटवारी बनवारीलाल और मेरा मार्ग-दर्शक बुद्धूसिंह।

साँझ के उतरते हुए अँन्धेरे मे राज-समाधि और बरगद के ढँक जाने के पहले ही हम लोग पहाड़ से उतर आए।

उतरते हुए रास्ते में सिन्दूर से पुता एक पत्थर मिला। उसके आस-पास मनुष्य के बोए हुए गेंदे और संध्यामणि फूल के पौधे थे। उसी के सामने दूसरा पत्थर खड़ा था, वह भी सिन्दूर से पुता था। यह देव-स्थान बहुत पुराना था, यही राजवंश के कुल-देवता हैं। पहले यहाँ नर-बलि होती थी, बड़ा पत्थर चूप के काम आता था। अब यहाँ पर कबूतर और मुर्गे चढ़ाए जाते हैं।

मैंने पूछा—"ये कौन-से देवता हैं ?"

राजा दोबरू बोले—"टाँड़बारो, जंगली भैंसों के देवता।"

पिछले जाड़ों में गोनू महतो से सुनी हुई कहानी याद आ गई।

दोबरू बोले—"टाँड़बारो बड़े जाग्रत देवता हैं। ये न होते, तो चमड़े और सींग के लोभ से शिकारियों ने भैंसों के वंश का खातमा ही कर दिया होता। ये उनके रक्षक हैं। जब भैंसे फंदे में फँसने लगते हैं, तब ये सामने खड़े होकर हाथ के इशारे से उन्हें बचा लेते हैं। बहुतों ने आँखों से देखा है।"

जंगली आदिम जाति के इस देवता को सभ्य जगत् में कोई नहीं मानता और नहीं जानता है ; किन्तु ये जो काल्पनिक नहीं हैं, सचमुच

ही हैं, यह बात वन-जन्तु-बहुल जंगल और पर्वतों के निविड़ सौंदर्य एवं रहस्यों के बीच रहकर मन में स्वतः आ गई थी।

बहुत दिनों के बाद जब कलकत्ता लौटा, तब एक बार बड़ा बाजार में जेठ के जलते हुए दिनों में एक गाड़ीवान को भारी बोझा खींचने वाले गाड़ी में जुते भैंसों को चमड़े के कोड़े से बड़ी बेरहमी से पीटते हुए देखा था। उस दिन मन में अनायास ही यह आया था—'हाय देवता, टाँड़बारो, यह न तो छोटानागपुर है, न मध्यप्रदेश का जंगल, यहाँ तुम्हारे हाथ इस पीड़ित पशु की रक्षा कैसे कर सकते हैं? यह बीसवीं सदी की आर्य-सभ्यता से गर्वित कलकत्ता नगरी है—यहाँ हारे हुए राजा दोबरू पन्ना-जैसे ही तुम असहाय हो!'

मुझे गया जाना था, इसलिए साँझ से पहले ही रवाना हो गया। बनवारी घोड़ों को लेकर खेमें में लौटा। लौटते समय फिर राजकुमारी भानुमती से मुलाकात हो गई। वह कटोरे में मेरे लिए दूध लेकर राज-महल के द्वार पर खड़ी थी।

बारहवाँ परिच्छेद

[एक]

एक रोज राजू पाँडे ने खबर दी—"बनैले सूअर खेतों की खड़ी फसल को रोज रात को बर्बाद कर देते हैं। उनमें कुछ दाँतवाले खूँखार पट्ठे भी हैं। लिहाजा कनस्तर पीटने के अलावा और कुछ करते नहीं बनता। अगर कचहरी की ओर से इसका कोई उपाय नहीं किया जायगा, तो मेरी सारी फसल नष्ट हो जायगी।"

तीसरे पहर बन्दूक लेकर मैं खुद ही वहाँ गया। राजू की जमीन नाढ़ा बैहार के घने जंगल में पड़ती थी। उधर अभी लोग बहुत कम बसे थे, खेत भी कम थे, अतः जानवरों के उपद्रव ज्यादा होते थे।

राजू अपने खेत में काम कर रहा था। मुझे देखकर सब छोड़-छाड़कर लपका। मेरे हाथ से उसने घोड़े की लगाम ले ली और घोड़े को बहेड़े के पेड़ से बाँध दिया।

मैंने कहा—"अब तो तुम्हारे दर्शन दुर्लभ होगए हैं—कचहरी की तरफ कभी आते क्यों नहीं?"

राजू के झोंपड़े के चारों ओर कसाल का जंगल था—बीच-बीच में केंद और बहेड़े के पेड़ भी थे। पता नहीं, इस जन-मानवहीन जंगल में वह अकेला कैसे रहता था। साँझ हुए किसी से यहाँ बात कर सकना भी असंभव था—अजीब आदमी था वह!

राजू ने कहा—"समय ही कहाँ मिलता है कि कहीं जाऊँ हुजूर, फसल सँभालते-सँभालते ही जान चली गई। फिर भैंस हैं।"

मैं पूछने ही जा रहा था कि तीन भैंस चराने और डेढ़ बीघे की खेती में क्या ऐसी व्यस्तता हो सकती है कि कहीं जाने का समय ही नहीं मिलता, मगर तब तक राजू ने खुद अपने कामों की एक ऐसी सूची पेश

की कि देखकर लगा---सचमुच ही उसे साँस लेने की फुर्सत नहीं। खेत-खलिहान के काम, भैंस चराना, दूध दुहना, मक्खन निकालना, पूजा-पाठ करना, रामायण पढ़ना, रसोई, भोजन---सुनते-सुनते मैं ही मानो हाँफ उठा। बेशक राजू बड़े जीवट का आदमी है! इस पर भी तमाम रात जागकर उसे कनस्तर पीटना पड़ता था।

मैंने पूछा---"सूअर कब आते हैं?"

---उनके आने का कोई ठिकाना तो नहीं हुजूर---"हाँ, रात होते ही निकल पड़ते हैं। जरा देर बैठकर तो देखें। तब पता चले कि कितने आते हैं।"

मेरे लिए सबसे बड़ा कौतूहल यह था कि राजू यहाँ अकेला रहता कैसे है? मैंने उससे यही पूछा।

वह बोला---"आदत पड़ गई है हुजूर। जमाने से इसी तरह रहता आया हूँ, कष्ट तो खैर नहीं होता, बल्कि यों खुशी से ही रहता हूँ। दिन भर करारी मेहनत, शाम को भगवद्‌भजन---दिन मजे में कट जाते हैं।"

मुझे पता था कि एक खास सांसारिक विषय से राजू को बड़ी आसक्ति है कि वह चाय खूब पीता है। मगर इस घने जंगल में चाय की सामग्रियाँ मिलती कहाँ से होंगी, यह सोचकर मैं अपने साथ चाय और चीनी लेकर गया था। मैंने कहा---"राजू, जरा चाय बना लो। चाय का सब सामान मेरे साथ है।"

उसने बड़ी खुशी से तीन सेर पानी आने वाले लोटे में पानी चढ़ा दिया। चाय तैयार हो गई; लेकिन काँसे के एक छोटे कटोरे के सिवा वहाँ कोई दूसरा बर्तन ही नहीं था। मुझे उसी कटोरे में चाय देकर वह खुद लोटे से पीने लगा।

राजू को हिन्दी पढ़ना-लिखना आता है; मगर बाहरी दुनिया की उसे कोई जानकारी नहीं। कलकत्ता का नाम तो उसने सुन रक्खा है, लेकिन वह किधर है, सो नहीं जानता। बम्बई या दिल्ली के बारे में उसकी धारणा चन्द्रलोक की धारणा-जैसी ही काल्पनिक और धुँधली है।

शहरों में से सिर्फ पूर्णियाँ को ही उसने देखा है, वह भी कई बरस पहले एक बार वहाँ गया था और सिर्फ थोड़े ही दिन वहाँ रहा था।

मैंने पूछा—"मोटर देखी है ?"

—"नहीं हुजूर, सुना है कि बैल या घोड़े के बिना ही चलती है—धुँआ निकलता है। आजकल पूर्णियाँ में शायद बहुत-सी आ गई हैं। बहुत दिनों से पूर्णियाँ भी नहीं जा पाया हूँ। गरीब आदमी, शहर जाने को पैसे भी तो चाहिएँ।"

मैंने उससे पूछा—"कलकत्ता जाने की इच्छा है क्या ? अगर जाना चाहो, तो मैं घुमा लाऊँ, पैसे नहीं लगेंगे।"

राजू ने कहा—"शहर बड़ी बुरी जगह है हुजूर! चोर, उचक्कों-गुंडों का वहाँ अड्डा है। सुनते हैं, वहाँ जाने से जात नहीं बचती। वहाँ के लोग बदमाश होते हैं। हमारी तरफ का एक आदमी था, उसके पाँव में कुछ हुआ था, इसलिए वह किसी शहर के अस्पताल में गया था। डाक्टर छुरी से उसके पाँव को चीरता जाता और पूछता जाता था कि 'बताओ, कितने रुपए दोगे ?' उसने कहा—'दस रुपये दूँगा।' डाक्टर ने पाँव को और चीरा। फिर पूछा—'अभी भी बताओ, कितना दोगे ?' उसने गिड़गिड़ाकर कहा—'डाक्टर साहब, पाँच रुपये मैं और दूँगा, आप दया करके पाँव को ज्यादा न चीरें।' डाक्टर ने कहा—'उतने से नहीं होने का।' और उसने पाँव को फिर चीरना शुरू किया। वह बेचारा गरीब जितना रोता जाता, डाक्टर उतना ही पाँव को चीरता जाता। चीरते-चीरते काट ही डाला उसके पाँव को। आप ही सोचें, कैसी खतर-नाक बात है!"

राजू की बातें सुनकर हँसी को रोकना मुश्किल हो गया। मुझे याद आया, इंद्रधनुष को देखकर एक बार इसी राजू ने कहा था—'यह इंद्रधनुष जो देखते हैं बाबूजी, यह दीमक के टीले से उगता है, मैंने अपनी आँखों से देखा है।'

राजू के झोंपड़े के सामने ही आसान का एक बहुत बड़ा पेड़ है।

हम लोग उसी के नीचे बैठकर चाय पी रहे थे। चारों तरफ घना जंगल केंद, आँवले, बहेड़े के पेड़-पौधे। फूल की भीनी-भीनी गन्ध ने साँझ की हवा को बड़ा ही मधुर बना रक्खा था। ऐसी जगह में इस तरह बैठ कर चाय पीना मुझे जीवन में एक सौन्दर्यमय अभिज्ञता प्रतीत हुई। ऐसे अरण्य-प्रांतर कहाँ हैं, कहाँ है कास-वन से घिरा ऐसा झोंपड़ा और राजू जैसा आदमी ही यहाँ कहाँ है? यह अभिज्ञता जितनी अनोखी थी, उतनी ही दुष्प्राप्य भी।

मैंने कहा—"अच्छा राजू, तुम अपनी स्त्री को क्यों नहीं ले आते? उसे लाने से तुम्हें खुद बनाकर खाने का कष्ट नहीं रह जायगा।"

राजू बोला—"वह जिन्दा नहीं रही हुजूर—सत्रह-अठारह साल हुए, गुजर गई। तब से घर में मन को टिका नहीं पाता हूँ।"

राजू की स्त्री का नाम सरजू (यानी सरयू) था। जब राजू अठारह साल का और सरयू चौदह साल की थी, तब राजू कुछ दिनों के लिए उत्तम-धरमपुर, श्यामला टोला में सरयू के पिताजी की पाठशाला में व्याकरण पढ़ने गया था।

राजू से पूछा—"कितने दिनों तक पढ़ा था?"

—"कितने दिन क्या, साल-भर के करीब पढ़ा था; पर इम्तहान नहीं दिया। वहीं हम दोनों की देखा-देखी हुई और धीरे-धीरे—"

और जरा खाँस कर राजू चुप हो गया।

मैंने उत्साह देकर कहा—"हाँ, उसके बाद?"

—"मगर कहूँ तो क्या, उसके पिताजी मेरे अध्यापक थे, उनसे यह बात कहता भी कैसे? कातिक का महीना, छठ का तेयहार—औरतों के एक दल के साथ पीली साड़ी पहने सरयू कोसी नहाने जा रही थी, मैं—"

राजू फिर खाँसकर चुप हो गया।

मैंने उत्साह देकर कहा—"हर्ज क्या है? कहो।"

—"उसे देखने के लिए मैं एक पेड़ की आड़ में छिपा रहा। इस-

लिए कि उनसे इन दिनों मेरी देखा-सुनी बहुत कम ही हो पाती थी—कहीं उसके रिश्ते की बात चल रही थी। जब औरतें गाती-गाती—आप जरूर जानते होंगे कि छठ के त्योहार में औरतें गाती हुई नदी को जाती हैं ?—गाती-गाती औरतें जब मेरे पास पहुँचीं, तब सरयू ने मुझे पेड़ की ओट में छिपा देख लिया। वह भी हँसी, मैं भी हँसा। मैंने इशारे से उसे टोली से पिछड़ जाने को कहा। उसने भी इशारे से बताया—लौटते समय, अभी नहीं।"

कहते-कहते बावन वर्ष वाले राजू के मुखड़े पर बीस वर्ष के नव-युवक प्रेमी-जैसी लज्जाशीलता और आँखों में एक स्वप्नमय दृष्टि जाग पड़ी—मानो जीवन के बहुत पीछे प्रथम यौवन के दिनों में जो कल्याणी तरुणी चौदह साल की थी, उसके संगीहीन प्रौढ़ प्राण उसी को ढूँढ़ने के लिए निकल पड़े हैं। अकेले इस घने जंगल में रहते-रहते वह थक गया है। ऐसे में जिसकी बात सोचना उसे भाता है, जिसके संग के लिए उसका मन उन्मुख है, वह बहुत पहले की वही बालिका सरयू है, जो कि आज इस दुनिया में कहीं नहीं है।

उसकी कहानी भली लग रही थी। मैंने कहा—"फिर ?"

—"लौटते समय उससे भेंट हुई। वह दल से पीछे हो गई। मैंने कहा—'सरयू, मुझे अब तकलीफ हो रही है। तुमसे मिलना-जुलना बन्द हो गया है। मैं जानता हूँ कि मुझसे अब पढ़ना न होगा, फिर यह कष्ट बेकार ढोना है। सोचता हूँ, इसी महीने यहाँ से चला जाऊँ।' सरयू रो पड़ी। बोली—'तुम पिताजी से कहते क्यों नहीं ?' उसके रोने से मैं मर्माहत हो गया और जिस बात को अपने अध्यापक से कहने की मुझमें कभी जुर्रत नहीं थी, वही कह बैठा। ब्याह में यों कोई बाधा नहीं थी। जात-घर सब अनुकूल ही था। ब्याह हो भी गया।"

रोमांस महज मामूली-सा था, शहर की हलचल में यदि कोई इसे सुनता, तो निहायत घरेलू और गँवई मामला, जरा-सा पूर्वराग भर कहकर शायद उड़ा भी देता ; मगर वहाँ इसकी अभिनवता और सौन्दर्य से मन

मुग्ध हो गया। दो हृदयों ने किस तरह एक दूसरे को पाया था अपने जीवन में, यह जो कितना बड़ा रहस्यमय इतिहास है, इसे उस दिन समझा था।

चाय पीते-पीते साँझ बीत गई, आसमान में हल्की चाँदनी निखरी छठीं या सातवीं तिथि थी।

मैंने बन्दूक उठाई। बोला—"चलिए पाँडेजी, देखूँ आपके खेत में सूअर कहाँ है ?"

खेत के पास ही शहतूत का एक बड़ा-सा पेड़ था। राजू ने कहा—"इस पेड़ पर चढ़ना है हुजूर—उसकी दो डाली पर सुबह मैंने मचान बाँध दिया था।"

अजीब मुसीबत। जमाने से पेड़ पर चढ़ने की आदत नहीं रही, फिर इस रात को। राजू ने उत्साह देकर कहा—"चढ़ने में तकलीफ नहीं होगी हुजूर। बाँस है, डाल-पत्ते भी हैं। आसानी से चढ़ सकते हैं।"

मैंने राजू को बन्दूक थमाई और चढ़कर मचान पर बैठ गया। मेरे बाद राजू भी ऊपर आ गया। दोनों नीचे की तरफ निगाह किए पास-पास बैठे थे।

चाँदनी और भी खिल पड़ी। गाछ की दो डाली से चाँदनी में कुछ साफ और कुछ धुँधला दीखनेवाला जंगल का उपरी हिस्सा मन में एक अनोखा ही भाव जगा रहा था। जीवन में यह भी एक नया ही अनुभव था!

जरा-सी ही देर बाद जंगल में सियार बोल उठे और उसी समय काला-सा कोई जानवर जंगल के दक्खिन से निकलकर राजू के खेत में घुसा।

राजू बोला—"वह रहा हुजूर —"

मैंने बन्दूक सँभाल ली। कुछ और पास आने पर पता चला, वह सूअर नहीं, बल्कि नीलगाय है।

नीलगाय को मारने की इच्छा नहीं हुई। राजू ने दुरदुराया और नीलगाय जंगल की तरफ चली गई। मैंने यों ही बन्दूक की आवाज की।

दो घंटे बीत गए। दक्खिन की ओर जंगल में वनमुर्गा बोल उठा। दाँतवाले सूअर को मारने का मनसूबा गाँठा था; मगर सूअर का बाल भी देखना नसीब न हुआ। बन्दूक की आवाज से ही सारा गुड़ गोबर हो गया।

राजू बोला—"उतर चलिए हुजूर, आपके खाने का भी प्रबन्ध करना है।"

मैंने कहा—"भोजन? मैं अपनी कचहरी जाऊँगा—अभी तो रात के दस भी नहीं बजे। जाना ही पड़ेगा। सबेरे सर्वे-कैंप की निगरानी में जाना है।"

—"तो खाकर जाइए।"

—"नहीं-नहीं, ज्यादा रात गए जंगल में जाना ठीक न होगा—अभी ही चल दूँ। तुम बुरा न मानना।"

घोड़े पर चढ़ते समय मैंने पूछा—"कभी-कभी तुम्हारे यहाँ चाय पीने को आ जाया करूँ, तो ऊब तो नहीं होगी तुम्हें?"

राजू बोला—"आप भी कैसी बातें करते हैं बाबूजी। इस जंगल में अकेला रहता हूँ, मैं गरीब ठहरा, मुझे आप प्यार करते हैं, इसीलिए अपनी चाय-चीनी साथ लाकर मेरे साथ चाय पीते हैं। यों शर्मिन्दा न कीजिए हुजूर!"

राजू अभी भी देखने में सुन्दर लग रहा था, जवानी के दिनों में निस्संदेह वह देखने में बड़ा खूबसूरत रहा होगा। अध्यापक की कन्या ने पिता के तरुण छात्र के प्रति प्यार जताकर अपनी सुरुचि का ही परिचय दिया था।

काफी रात हो चुकी थी। मैं मैदान की राह अकेला जा रहा था। कहीं रोशनी नहीं, अद्‌भुत एक स्तब्धता—मानो मैं किसी जनहीन अजाने ग्रहलोक में पृथ्वी से निर्वासित किया गया होऊँ—दिगंत-रेखा पर दम-

कता हुआ वृश्चिक का उदय हो रहा था, ऊपर अँधेरे आकाश में असंख्य जोतिर्लोक, नीचे लवटोलिया बैहार का सुनसान जंगल, नक्षत्रों की हल्की जोत में जंगली झाऊ की फुनगियाँ दिखाई दे रही थीं—कहीं दूर पर सियारों ने पहर की घोषणा की, और भी आगे मोहनपुरा जंगल की सीमा-रेखा अन्धेरे में काले पहाड़-सी दिखाई पड़ रही थी। किसी कीड़े की लगातार टी-टी-टी को छोड़कर कहीं कोई आवाज नहीं था। कान लगा कर सुनने से उसी आवाज में और तरह के कीड़ों के भी शब्द मिले मालूम पड़ते थे। इस मुक्त जीवन का कैसा अनोखा रोमांस! प्रकृति से घनिष्ठता का कैसा अपूर्व आनन्द! सब कुछ न जाने कैसा एक अनिर्दिष्ट, अव्यक्त रहस्य, पता नहीं, वह रहस्य क्या था; किन्तु इतना जरूर कह सकता हूँ कि वहाँ से लौट आने के बाद वैसे रहस्य का भाव मन में फिर कभी नहीं जागा।

मानो इस नीरव-निर्जन रात्रि में देवतागण नक्षत्रों में सृष्टि की कल्पना में लीन हों, जिस कल्पना में कि सुदूर भविष्यत् के नये-नये विश्वों का आविर्भाव, नये-नये सौन्दर्यों का जन्म, विभिन्न नए प्राणों का विकास बीज-रूप में निहित है। उनके इस रहस्य-रूप को केवल वही आत्माएँ देख पाती हैं जो ज्ञान की आकुल पिपासा में निरलस जीवन यापन करती हैं, जिनके प्राण विश्व की विराटता और क्षुद्रता के संबंध में सजग आनन्द से उल्लसित हैं और जिसके तुच्छ और क्षुद्र वर्तमान के दुःख-शोक जन्म-जन्मान्तर के पथ से होने वाली दूर-यात्रा की आशा में बिन्दु के समान खो गए हैं। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।'

जिन लोगों ने एवरेस्ट के शिखर पर चढ़कर बर्फ की आँधी और बाढ़ में अपने प्राणों की बलि चढ़ाई थी, उन लोगों ने विश्वदेवता के उस विराट् रूप को देखा है अथवा जब कोलम्बस ने अजोरस द्वीप के उपकूल में तैरते हुए तख्ते पर बहते हुए महासमुद्र पार के अजाने महादेश के बारे में जानना चाहा था, तब विश्व की यह लीला-शक्ति उनके मन में प्रकट हुई थी, जो घर बैठे तंबाखू का धुआँ उड़ाते हुए

पड़ोसी की बेटी की शादी और उसके धोबी-नाई का काम किया करते हैं, इस स्वरूप को हृदयंगम करना उनके वश की बात नहीं ।

[दो]

मिछी नदी के उत्तरी किनारे पर जंगल-पहाड़ों के बीच नाप-जोख चल रही थी। कोई दस दिन से मैं खेमे में यहीं रह रहा था, शायद और भी दस-बारह दिन रहना पड़े, ऐसी आशा थी ।

यह जगह अपने स्थान से बहुत दूर पड़ती थी। राजा दोबरू पन्ना की रियासत के आस-पास । मैं ने रियासत तो कह दी, मगर दोबरू पन्ना तो राज्य-विहीन राजा हैं—उनके घर के आस-पास कहना चाहिए ।

बड़ी बेहतरीन जगह । एक उपत्यका, सामने की तरफ चौड़ी, पीछे की ओर सँकरी । पूरब-पच्छिम में पहाड़ियों की श्रेणी-बीच में थी यह अश्वमुखी उपत्यका । जंगलों से भरी, जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी थीं चट्टानें, कँटीले बाँस की झाड़ियाँ, और भी न जाने क्या-क्या पेड़-पौधे । बहुत-से पहाड़ी झरने उत्तर की तरफ से उतर कर इस उन्मुक्त उपत्यका से होते हुए बाहर को बह रहे थे । इन झरनों के दोनों ओर के जंगल खासे घने थे और इस इलाके में इतने दिनों तक रहने के अनुभव से मैं समझ सकता था कि ऐसी ही जगहों में बाघ का ज्यादा खतरा रहता है । हिरन थे, वनमुर्गों को रात के दूसरे पहर में बोलते सुना था । लोमड़ी की बोली सुनी थी, मगर बाघ नहीं देखा था, न उसकी आवाज यहाँ सुनी ।

पूरब की तरफ के पहाड़ में एक बहुत बड़ी गुफा थी । गुफा के सामने ही एक पुराना और घना बरगद था—जो हरदम सन्-सन् करता रहता था । दोपहर की धूप में नीले आसमान के नीचे की यह जनहीन उपत्यका और गुफा मन में बहुत ही पुराने युग की स्मृतियाँ ले आतीं, जिस युग में आदिम जाति के राजाओं का राजमहल रही होगी यह गुफा, जैसी कि दोबरू पन्ना के पुरखों की थी । गुफा की दीवारों में एक जगह न जाने क्या खुदा हुआ था, शायद कोई तस्वीर थी—अब बिल्कुल धुँधली हो गई

थी, समझ में नहीं आती थी। जंगली आदिम जाति की कितने ही नर-नारियों की कल हास्य ध्वनि, कितने सुख-दुःख, बर्बर समाज के जुल्मो-सितम के आँसू से लिखे हुए कितने इतिहास उस गुफा की माटी में, हवा में, पत्थरों की दीवारों पर लिखे हैं—यह सोचते हुए अच्छा लगता।

गुफा से रस्सी-दो-रस्सी के फासले पर झरने के किनारे एक गोंड़ परिवार रहता था। दो झोंपड़े थे उसके—एक बड़ा और एक छोटा, डालों के घेरे, पत्तों की छौनी। झोंपड़ों के सामने की खुली जगह में पत्थर के टुकड़े बटोर कर उसने चूल्हा बनाया था। झोंपड़े एक बहुत बड़े जंगली बादाम के पेड़ के नीचे थे। बादाम के झड़े हुए सूखे पत्तों से आँगन भर गया था।

उस गोंड़ परिवार में दो लड़कियाँ थीं—एक की उम्र सोलह-सत्रह, और दूसरी की चौदह होगी। रंग तो उनका घोर काला था; पर चेहरे पर सहज सौन्दर्य का निखार था, सुन्दर स्वास्थ्य। रोज दोनों लड़कियाँ दो-तीन भैंस लेकर सबेरे पहाड़ पर चराने जाया करतीं, साँझ से पहले लौट आतीं। मैं अपने तम्बू में जब चाय पीने को बैठता, तब उन्हें भैंसें लेकर सामने से घर लौटते हुए देखा करता।

एक दिन वह बड़ी लड़की आप तो रास्ते पर खड़ी रही और अपनी छोटी बहन को मेरे पास भेज दिया। उसने आकर कहा—"सलाम बाबूजी! बीड़ी है क्या? दीदी माँग रही है।"

—"तुम बीड़ी पीती हो?"

—"मैं नहीं, दीदी पीती है। यदि हो तो एक दे दो बाबूजी।"

—"मेरे पास बीड़ी तो नहीं, चुरुट है, लेकिन वह मैं तुम्हें दूँगा नहीं। बहुत कड़ी है, पी नहीं सकोगी।"

वह लड़की चली गई।

थोड़ी देर बाद मैं उनके घर गया। मुझे देखकर गृह-स्वामी अचम्भे में पड़ गया—आदर से मुझे बिठाया। दोनों लड़कियाँ मकई का घाटा सखुए के पत्ते पर परोस कर नमक के साथ खा रही थीं। सिर्फ नमक

के साथ, और कुछ नहीं। उनकी माँ चूल्हे पर कुछ पका रही थी। नन्हे बच्चे खेल रहे थे।

मालिक की उम्र होगी पचास की। स्वस्थ और बलवान शरीर। मुझे उसने बताया कि घर उनका सिवनी जिले में है। चूँकि यहाँ भैंसो के लिए पहाड़ पर घास और पानी काफी मिल जाता है, इसीलिए साल-भर से यहीं हैं। यहाँ बाँसों से टोकरियाँ, सूप, माथे की बरसाती बनाने की बड़ी सहूलियत है। शिवरात्रि में अखिल कूचा के पहाड़ पर मेले में उनसे कुछ पैसे मिल जाते हैं।

मैंने पूछा—"यहाँ कब तक रहोगे ?"

—"जब तक जी चाहे बाबूजी ! यह जगह खूब भा गई है, नहीं तो हम लोग लगातार एक साल भी कहीं नहीं रहते। एक और सहूलियत है यहाँ, पहाड़ पर शरीफे बहुत होते हैं; आश्विन के महीने में मेरी लड़कियाँ दो-दो टोकरी पक्का शरीफा रोज पहाड़ पर से तोड़ लाती थीं। दो महीने हमने सिर्फ शरीफों पर काटे हैं। शरीफों के लोभ से ही यहाँ रहना है। उनसे पूछ देखिए न।"

खाते-खाते ही बड़ी लड़की उल्लास से बोल उठी—"ओः, पहाड़ के पूरब की तरफ एक जगह है। वहाँ न जाने कितने शरीफे हैं। पक कर टूट गिरते हैं, कोई छूता तक नहीं उन्हें। हम भर-भर टोकरी तोड़ लाते थे।"

इतने में घने जंगल से निकल कर कोई झोंपड़े के सामने आकर खड़ा हो गया—"सीताराम ! सीताराम ! जय सीताराम ! —जरा आग दोगे ?"

मालिक बोला—"आइए बाबाजी, बैठिए।"

जटा-जूटधारी एक बूढ़ा साधु था। इस बीच साधु की नजर मुझ पर पड़ी और वह अचरज-मिश्रित भय से कुछ थोड़ा खिसक कर एक किनारे खड़ा हो गया।

मैंने कहा—"प्रणाम बाबाजी—"

उसने आशीर्वाद तो जरूर दिया ; मगर तब तक भी उसका भय पूरी तरह भागा नहीं था ।

उसे साहस देने की नीयत से मैंने पूछा—"रहना कहाँ होता है बाबा ?"

मेरी बात का जवाब दिया गृहस्वामी ने—"बड़े ही घने जंगल में ये रहते हैं—वह वहाँ, जहाँ दोनों पहाड़ मिल गए हैं । बहुत दिनों से यहाँ हैं ।"

बूढ़ा साधु इस बीच में बैठ गया था। उसकी तरफ देखते हुए मैंने पूछा—"यहाँ कब से हैं ?"

अब उसके जी-में-जी आया । बोला—"पन्द्रह-सोलह साल से ।"

—"अकेले रहते होंगे ? सुना है, यहाँ बाघ रहता है । डर तो नहीं लगता ?"

—"अकेले नहीं, तो साथ कौन रहेगा बाबू साहब ? परमात्मा का नाम लेते हैं । डरने से काम कैसे चल सकता है । अच्छा बताइए तो, मेरी उम्र कितनी होगी ?"

मैंने उनकी ओर गौर से देखा और बोला—"कोई सत्तर की होगी ।"

साधु ने हँसकर कहा—"जी नहीं, नब्बे से ज्यादा हो चुकी है । मैं गया के पास एक जंगल में दस साल तक रहा । वहाँ के इजारादारों ने जब जंगल काटना शुरू किया और लोग-बाग बसने लगे, तब भाग आया । गाँव-घर में नहीं र सकता ।"

—"यहाँ एक ुफा है, आप उसमें क्यों नहीं रहते ?"

—"एक क्यों बाब, गुफाएँ तो इस पहाड़ में बहुत-सी हैं । मैं जहाँ रहता हूँ, वह गुफा तो नहीं है, पर गुफा ही समझिए । याने ऊपर छत है, दो ओर दीवारें हैं, सिर्फ सामने की ओर खुला है ।"

—"खाते क्या हैं आप ? भीख माँगते हैं ?"

—"मैं कहीं नहीं जाता । परमात्मा सब जुटा देते हैं । बाँस की निकलनेवाली नई फुनगी को उबाल कर खाया करता हूँ । जंगल में एक

तरह का और कंद मिलता है, काफी मीठा लगता है वह, उसे भी खाता हूँ। पक्का आँवला और शरीफा यहाँ बहुत मिलता है। आँवला खूब खाता हूँ। रोज आँवला खाने से आदमी जल्दी बूढ़ा नहीं होता, जवानी को बाँध कर रक्खा जा सकता है। गाँव के लोग समय-समय पर मिलने आते हैं, तो वे दूध, सत्तू औरा बूरा दे जाते हैं। इन्हीं सब पर किसी तरह दिन कट जाते हैं।"

—"कभी बाघ-भालू से सामना हुआ है या नहीं ?"

—"कभी नहीं। हाँ, एक बड़ा ही भयानक अजगर इस जंगल में देखा है। बेबस-सा एक जगह पड़ा था वह। ताड़ के पेड़-जैसा मोटा, काला, बदन पर हरी-लाल रेखाएँ। अँगारे-सी लहकती हुई आँखें। अभी भी वह अजगर इस जंगल में है। जब मैंने देखा था, तब वह पानी के पास पड़ा था, हो सकता है हरिण की ताक में रहा हो। अब किसी गुफा में छिप गया है। खैर, रात हो गई। अब चलूँ।"

आग लेकर साधु चला गया। पता चला कि कभी-कभी वह यहाँ आग लेने आता है, गप-शप करता है।

अँधेरा बढ़ चुका था, अब धुमैली-सी चांदनी छिटकी। उपत्यका का जंगल अनोखी नीरवता से भर गया। केवल पास के झरने के कल-कल और कभी-कभी वनमुर्ग की बोली के अतिरिक्त दूसरा शब्द सुनाई नहीं पड़ रहा था।

मैं खेमे में लौट आया। रास्ते में एक सेमल के बड़े पेड़ पर ढेरों जुगनू जल रहे थे—ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर चक्राकार घूमते हुए—अन्धकार की पृष्ठ-भूमि में ज्यामिति के अनेक क्षेत्र बनाते हुए-से।

[तीन]

यहीं एक दिन आया कवि वेंकटेश्वरप्रसाद। दुबला, छरहरा बदन, सर्ज का कोट, मैली धोती, रूखे और बिखरे बाल। उम्र चालीस से ज्यादा।

मैंने सोचा, नौकरी का उम्मीदवार है। पूछा—"क्या चाहिए ?"

उसने कहा—"श्रीमान् के दर्शन को आया हूँ (हुजूर संबोधन नहीं किया)। मेरा नाम वेंकटेश्वरप्रसाद है। घर है बिहार शरीफ—जिला पटना। यहाँ चकमकी टोले में रहता हूँ—यहाँ से तीन मील पर।"

—"अच्छा। यहाँ किस काम से आना हुआ?"

—"दया करके आप अनुमति दें, तो कहूँ। आपका समय तो बर्बाद नहीं कर रहा हूँ मैं?"

तब भी मैं समझ रहा था कि वह नौकरी की खोज में आया है; लेकिन चूँकि उसने 'हुजूर' नहीं कहा; इसलिए मेरा ध्यान उसने अपनी ओर आकर्षित कर लिया। मैंने कहा—"बैठिए, इस गरमी में बड़ी दूर से पैदल आए हैं।"

एक बात और देखी कि उसकी भाषा बड़ी मार्जित थी। वैसी हिंदी मैं नहीं बोल सकता। अमले-प्यादे और गाँव के रैयतों से अपना कारोबार ठहरा, मेरी हिंदी उनकी देहाती बोली और बंगला मुहावरों की मिली-जुली एक अजीब खिचड़ी थी। यह कैसे कहूँ कि इतनी सुंदर और शुद्ध हिंदी कभी सुनी ही नहीं? सो जरा सँभलकर कहा—"आखिर आपके यहाँ आने का उद्देश्य?" वह बोला—"मैं आपको अपनी कुछ कविताएँ सुनाने आया हूँ।"

मैं तो अचरज में पड़ गया। कवि ही क्यों न हो, इस जंगल में मुझे कविता सुनाने की कौन-सी गरज पड़ी इसे? कहा—"तो आप कवि हैं? खुशी हुई आपसे मिलकर। मैं खुशी-खुशी आपकी कविता सुनूँगा। मगर आपको मेरा पता कैसे चला?"

—"यहाँ से तीन ही मील पर मेरा घर है—पहाड़ के ठीक उस पार। गाँव के सब लोग कह रहे थे कि कलकत्ता से एक बंगाली बाबू आए हैं। आप लोगों में विद्या की बड़ी कद्र है, क्योंकि आप लोग खुद विद्वान् हैं। कवि ने कहा है—

विद्वत्सु सत्कवि वाचा लभते प्रकाशं
छात्रेषु कूटमलसमं तृणवज्जड़ेषु।"

वेंकटेश्वरप्रसाद ने मुझे कविता सुनाई। किसी रेलवे लाइन के टिकट चेकर, बुकिंग क्लर्क, स्टेशन मास्टर, गार्ड इन्हीं सब पर एक बड़ी लंबी कविता। कविता खास अच्छी नहीं जँची ; लेकिन मैं उसके प्रति अविचार नहीं करना चाहता। उसकी भाषा मैं ठीक तरह समझ नहीं सका, सच कहूँ, तो कुछ भी नहीं समझ सका। फिर भी बीच-बीच में उत्साह और समर्थन में कुछ-न-कुछ कहता गया।

बड़ी देर हो गई, मगर वेंकटेश्वरप्रसाद की कविता क्यों खत्म होने लगी, उठने की बात तो दूर रही।

दो घंटे के बाद जरा चुप होकर उसने पूछा—"आपको कैसी लगी मेरी कविता ?"

मैंने कहा—"क्या कहने हैं ! ऐसी कविता मैंने बहुत कम सुनी हैं। आप इन्हें किसी पत्रिका में क्यों नहीं भेजते ?"

उसने दुखित होकर कहा—"यहाँ सब लोग मुझे पागल कहते हैं बाबूजी। यहाँ कविता का समझनेवाला भी कोई नहीं है। आज तृप्ति हुई आपको सुनाकर। समझदारों को ही सुनाने की चीज है यह। जैसे ही सुना कि आप आए हैं, मैंने तै किए कि एक दिन आपको अवश्य ही कष्ट दूँगा।

उस दिन तो वह चला गया ; पर दूसरे ही दिन तीसरे पहर आकर मुझे अपने यहाँ चलने के लिए तंग करने लगा। आखिर टाला न गया, उसी समय उसके साथ चकमकी टोले के लिए मैं पैदल ही चल पड़ा।

बेला झुक आई थी। सामने जहाँ तक पहाड़ की छाया पड़ी थी, वहाँ तक गेहूँ के खेत लहरा रहे थे। चारों ओर एक अद्भुत शांति विराज रही थी। झुंड-के-झुंड सिल्ली बाँसों की झाड़ियों पर उड़-उड़ कर बैठ रहे थे, एक जगह छोटे बच्चे जाने कौन-सी मछली पकड़ने की कोशिश कर रहे थे।

गाँव में घनी आबादी। सटे-सटे घर, कितने ही घरों में आँगन

नाम की चीज ही नहीं। वेंकटेश्वर मुझे बीच-बीच के ढंग के एक मकान में ले गया। बाहरी कमरा रास्ते के किनारे ही था, उसी में एक चौकी पर बैठ गया। जरा देर बाद कविप्रिया के भी दर्शन हुए—मेरे लिए उसने मकई का भूँजा और दहीबड़ा लाकर, जिस चौकी पर बैठा था, उसी के एक ओर रख तो दिया ; लेकिन कुछ बोली नहीं, यद्यपि उन्होंने घूँघट नहीं काढ़ा था। चौबीस-पचीस की होंगी, रंग साफ तो नहीं ; पर बुरा भी नहीं। शांत चेहरा, सुंदरी चाहे न कहें, कवि-पत्नी कुरूपा न थीं।

एक चीज खास तौर से देखी, वह थी कवि-पत्नी की तंदुरुस्ती। पता नहीं क्यों, इधर जहाँ कहीं भी गया, स्त्रियों की तंदुरुस्ती मुझे बंगाल की स्त्रियों से कहीं अच्छी लगी। मोटी नहीं, लेकिन खासी छरहरी कूँदे हुए शरीर वाली और चुस्त-दुरुस्त लड़कियाँ यहाँ जितनी मिलीं, बंगाल में उतनी नहीं होतीं। कवि-पत्नी ऐसी ही औरत थीं।

जरा देर बाद कटोरे में भैंस का दही वे मेरी चौकी के पास रख गईं और खुद किवाड़ की आड़ में जा खड़ी हुईं। जंजीर की खटाखट सुनकर वेंकटेशप्रसाद गया और हँसते हुए आकर बोला—"देवीजी कह रही हैं कि आप तो हमारे बंधु हुए। बंधु को ठंढा करना होता है न, इसलिए दही में पीपल, सोंठ और मिर्च की बुकनी ज्यादा दी गई है।"

मैंने हँसकर कहा—"अगर ऐसी ही बात है, तो केवल मेरी ही क्यों, जिसमें सबकी आँखों से पानी निकले, ऐसा किया जाय। आइए, यह दही हम तीनों ही खाएँ।" दरवाजे की ओट से वे हँसीं। मैं भी अजीब आदमी, उन्हें दही खिला कर ही माना।

थोड़ी देर में कवि-पत्नी फिर अंदर गईं। हाथ में एक थाली लिए आईं। और उसे मेरी चौकी पर रक्खा। अबकी बार जरा दबे और कौतूहल-भरे स्वर में मेरे सामने ही वे बोलीं—"जरा बाबू साहब से कहो कि घर के बने इन पेड़ों से मुँह की जलन मिटाएँ।"

औरत के मुँह से यह बोली कितनी फबती थी! इधर की औरतों की जबान मुझे बेहद भली लगती थी। मैं खुद अच्छी हिंदी नहीं बोल पाता; इसलिए हिंदी बोली की तरफ मेरा बड़ा खिंचाव था। यह हिंदी किताबी हिंदी न थी—इन गाँवों में पहाड़ की तलहटी में, जंगली इलाकों में, जौ-गेहूँ के दूर तक फैले खेतों के पास, जहाँ रहट के पानी से खेतों की सिंचाई होती, डूबते सूरज की छाया से भरी गिरि-मालाओं की ओर उड़ते हुए मिल्ली और बगले एक दूर विस्तृत भूभाग का आभास लाते, वहाँ की यह अचानक खत्म हो जाने वाली टूटे-फूटे क्रियापदों वाली भाषा, जो आमतौर से औरतों के ही मुँह से सुनी जाती थी, उस भाषा की तरफ मेरा खास झुकाव था।

मैंने कवि से कहा—"अपनी दो-एक रचनाएँ तो सुनाइए कृपा करके।"

उत्साह से वेंकटेशप्रसाद का चेहरा खिल उठा। उसने एक कविता सुनाई—गाँव के प्रेम पर लिखी हुई कविता। एक नाले के इस पार एक युवक मकई जोता करता था और उस पार कमर में घड़ा लिये रोज एक युवती पानी भरने आया करती। युवक सोचा करता, वह युवती बड़ी सुंदर है। वह दूसरी तरफ मुँह कर सीटी बजाया करता, गाय-बकरी चराता और बीच-बीच में नजर बचा कर युवती को देख लिया करता। बहुत बार दोनों की आँखें भी मिल जातीं। युवती का चेहरा ऐसे में लाज से लाल हो उठता, और वह गर्दन घुमा लेती। युवक रोज यही सोचता कि कल उससे वह जरूर बात करेगा। घर में भी वह उस युवती की ही बात सोचा करता; मगर जाने कितने कल आए और चले गए, मन की बात मन ही में रह गई। उसके बाद एक दिन युवती पानी भरने नहीं आई, उसके दूसरे दिन भी नहीं आई; दिन बीते, सप्ताह गुजरा, महीना बीत गया, आखिर गई कहाँ वह सुपरिचिता किशोरी? बेचारा रोज निराश हो-होकर खेत

से लौटा करता--अपनी यह प्रेम-कथा किसी से कहते भी नहीं बनती। फिर उसे रोजी की फिक्र में कहीं परदेश में नौकरी करनी पड़ी। बहुत दिन बीत गए--बीत गए ; लेकिन तो भी वह अपनी उस पनिहारिन प्रेयसी को न भुला सका।

दूर तक फैली सुनील शैलमाला और दिगंतव्यापी खेतों की ओर देखते हुए मेरे जी में आया कि यह कथा कवि वेंकटेशप्रसाद के अपने ही जीवन की अभिज्ञता तो नहीं है ? कविप्रिया का नाम था रुक्मा, यह मैंने यों समझा कि इस शीर्षक की कवि की एक कविता है, जो उसने मुझे सुनाई थी। मैं सोचने लगा---रुक्मा-जैसी सुंदर और गुणवती पत्नी पाकर भी क्या कवि के बचपन का वह दुःख अब तक दूर नहीं हो सका ?

वेंकटेशप्रसाद मुझे मेरे तंबू तक छोड़ने आया। रास्ते में एक बड़े बरगद की तरफ इशारा करके कहा---"वह जो पेड़ है, वहाँ उसीके नीचे, एक सभा हुई थी। बहुत-से कवि आए थे, सबने अपनी-अपनी कविताएं सुनाई थीं। ऐसी सभा को इधर कवि-सम्मेलन कहते हैं। मैं भी बुलाया गया था। मेरी कविता सुनकर पटना के ईश्वरीप्रसाद दुबे ने ---'जानते हैं आप उन्हें ? बड़े पंडित हैं---'दूत' पत्र के संपादक हैं, खुद कवि भी बहुत अच्छे हैं---उन्होंने मेरी बड़ी तारीफ की थी।"

मैंने समझा, बेचारे को जिंदगी में एक ही वार ऐसे सम्मेलन में खड़े होकर कविता सुनाने का मौका मिला है और वह दिन इसीलिए इसके जीवन में बड़ा स्मरणीय है। इतना बड़ा आदर इसे और कभी नहीं मिला।

तेरहवाँ परिच्छेद

[एक]

तीन महीने के बाद अपने गाँव को लौट रहा था। इतने दिनों में यहाँ नाप-जोख का काम खत्म हो गया।

ग्यारह कोस की दूरी। पिछली बार पूस संक्रान्ति का मेला देखने के लिए इसी मार्ग से आया था। सखुए-पलास का वही जंगल, चट्टानों से भरा वही प्रांतर, वही ऊँची-नीची पहाड़ियाँ। कोई दो घंटे तक जब चल चुका, तब क्षितिज के पास एक धुँधली-सी रेखा दिखाई पड़ी——मोहनपुरा रिजर्व फारेस्ट।

दिशा बताने वाले इस जाने-पहचाने दृश्य को पिछले तीन महीनों से मैंने नहीं देखा। इस लंबी अवधि तक यहाँ रहने की वजह से लवटोलिया और नाढ़ा बैहार के प्रति ऐसा एक आकर्षण हो गया था कि ज्यादा दिनों तक और कहीं रह जाने से तकलीफ होती, लगता कि परदेश में आ गया हूँ। तीन महीने बाद आज मोहनपुरा जंगल की सीमा-रेखा पर नज़र पड़ते ही उस आनंद की अनुभूति हुई, जो परदेसी को स्वदेश लौटते हुए होती है। वैसे लवटोलिया की सीमा अभी सात-आठ कोस पर थी।

एक छोटे-से पहाड़ के नीचे बहुत-सी जगह साफ-सुथरी करके कुसुमी की खेती की गई थी। पकने का समय आ गया था, कटनिए खेतों में आ जुटे थे।

खेत के पास से ही मैं गुजर रहा था। अचानक किसी ने मुझे पुकारा ——"बाबूजी, ओ बाबूजी——"

मैंने उलटकर देखा——पिछले साल वाली मंची थी! विस्मित भी हुआ और आनंदित भी। मैंने घोड़े को रोका। हँसिया हाथ में लिए

हुए मंची हँसती हुई दौड़ी आई। बोली—"दूर से ही घोड़े को देखकर मैं पहचान गई। इधर कहाँ गए थे बाबूजी?"

मंची वैसी ही है—बल्कि पहले से कुछ और तंदुरुस्त हो गई है। कुसुमी की पंखुड़ियों से उसका हाथ और साड़ी के सामने का हिस्सा रँग गया था।

मैंने कहा—"वहरावुरू पहाड़ की तलहटी में काम चल रहा था। तीन महीने से वहीं था। वहीं से लौट रहा हूँ। तुम लोग?"

—"कुसुमी काट रही हूँ बाबूजी। दिन तो काफी निकल आया। इस वक्त तो यहीं रुक जायँ। वह रही झोंपड़ी अपनी।"

मुझसे 'ना' कहते नहीं बना। मंची ने काम छोड़ दिया और मुझे अपने झोंपड़े में ले गई। उसका पति नकछेदी भगत भी मेरे आने की बात सुनकर खेत से लौट आया।

नकछेदी की पहली स्त्री झोंपड़ी में रसोई बना रही थी। मुझे देखकर वह भी खुश हुई।

मगर मंची सब में आगे-आगे थी। मेरे लिए उसने गेहूँ के खड़ का काफी मोटा गद्दा बनाया। छोटे-से कटोरे में महुए का तेल देकर बोली—"आप नहा लीजिए। उस टीले के दक्खिन में एक छोटा-सा कुंड है। बड़ा ही निर्मल पानी है। चलिए, मैं आपको लिए चलती हूँ।"

मैंने कहा—"मैं तो उस पानी में नहीं नहाऊँगा! बस्ती-भर के लोग उसीमें कपड़े फींचते हैं, मुँह धोते हैं, नहाते हैं, बर्तन माँजते हैं। वह पानी तो बड़ा गंदा होगा। तुम लोग भी वही पानी पीते हो क्या? तो मुझे इजाजत दो, मैं तो वह पानी नहीं पी सकता।

मंची सोच में पड़ गई। मैं ताड़ गया कि यहाँ उसके सिवाय और पानी कहाँ मिलेगा कि ये उसे न पिएँ? उसको छोड़कर दूसरा उपाय भी क्या था?

मंची का उदास चेहरा देखकर मुझे दुःख हुआ। अब तक ये

इस गंदे पानी को खुशी-खुशी पीते चले आ रहे हैं, कभी सोचा भी नहीं कि इसमें और क्या हो सकता है और आज अगर इसी पानी के चलते मैं इसकी मेहमानी कबूल न करके लौट जाऊँ, तो इस सरल-प्राणा स्त्री के जी को चोट पहुँचेगी।

मैंने कहा—"खैर, उस पानी को खूब उबाल दो—पी लूँगा। और, नहाना रहने दो।"

वह बोली—"क्यों, मैं एक कनस्तर पानी उबाल देती हूँ, आप उसीसे नहा भी लीजिए। अभी बहुत ज्यादा देर नहीं हुई। मैं अभी पानी ले आती हूँ।"

मंची पानी ले आई। रसोई का सारा इंतजाम करके बोली—"मेरे हाथ का बनाया तो आप खाएँगे नहीं। खुद ही बनाइए।"

—"क्यों, खाऊँगा क्यों नहीं, तुम्हीं बनाओ।"

—"नहीं-नहीं, आप खुद बनाइए। एक दिन के लिए आपकी जात क्यों लूँ, मुझे पाप लगेगा।"

—"पाप-ताप कुछ नहीं होगा, मैं कहता हूँ, बनाओ तुम।"

लाचार होकर मंची पकाने बैठी। कोई लाम-काफ नहीं, मोटी-मोटी दो-चार रोटियाँ और जंगली निनुए की तरकारी। नकछेदी न जाने कहाँ से भैंस का दूध ले आया।

रसोई में बैठी-मैठी मंची का मन न जाने कहाँ-कहाँ घूमता रहा। वह किस्सा सुनाने लगी—उड़द काटने पहाड़ों में गई थी, वहाँ उसने एक बकरा पाला था। वह बकरा कैसे खो गया, इसकी भी कहानी सुननी पड़ी वहीं बैठकर।

मुझसे बोली—"कँकवारा में गरम पानी का कुंड है, जानते हैं आप? उसीके आस-पास तो आप गए थे, वहाँ नहीं गए?"

मैंने कहा—"कुंड के बारे में सुना तो है, मगर वहाँ जाना नहीं नसीब हुआ।"

मंची बोली—"आपको पता है, मैं एक बार वहाँ पिटी थी, मुझे नहाने नहीं दिया गया था?"

उसके पति ने कहा—"वह भी एक अजीब घटना रही। वहाँ के पंडे बड़े बदमाश हैं।

मैंने पूछा—"क्या हुआ था?"

मंची ने अपने पति से कहा—"आप बाबूजी को बता दें। ये तो कलकत्ता रहते हैं। लिख मारेंगे, तो बच्चू को पता चलेगा!"

नकछेदी ने कहा—"वहाँ सूरजकुंड जो है, वह बहुत अच्छा है। यात्री उसमें नहाते हैं। हम लोग उन दिनों आँवलातल्ली की तलहटी में उड़द काट रहे थे। इस बीच आ पड़ा पूर्णिमा का योग। मंची काम-धाम छोड़कर नहाने चली गई। मुझे बुखार आ रहा था, नहाना नहीं था। बड़ी बहू तुलसी भी नहीं गई। धरम-वरम पर उसे वैसा विश्वास भी नहीं है। मंची सूरजकुंड में उतरने लगी कि पंडो ने कहा—'उधर कहाँ जाती है?' मंची ने कहा—'नहाने जा रही हूँ, और कहां?' पंडों ने पूछा—'कौन जात है तू?' वह बोली—'गंगोता।' पंडों ने कहा—'हम गंगोतों को कुंड में नहीं नहाने देते, लौट जा तू।' 'मंची को तो आप जानते ही हैं, कैसी है!' वह बोली—'यह तो पहाड़ी झरना है, इसमें कोई भी नहा सकता है। इतने लोग तो नहा रहे हैं, सब क्या ब्राह्मण और छत्री ही हैं?' और वह कुंड में उतरने लगी। पंडों ने उसे घसीटकर मारते-मारते निकाल दिया। वह रोती-रोती लौट आई।"

—"फिर?"

—"फिर क्या होता बाबूजी! हम गरीब गंगोते, कटनिए ठहरे। हमारी फरियाद सुनता भी कौन? मैंने इसे दिलासा दिया—रो मत, मैं तुझे मुंगेर के सीताकुंड से नहला लाऊँगा।"

मंची बोली—"आप जरा इसे लिख तो देंगे बाबूजी, बंगाली

बाबुओं की कलम में बड़ा जोर रहता है—ये कंबख्त जरा आटे-दाल का भाव समझेंगे।"

मैंने सोत्साह कहा—"जरूर लिखूँगा, मैं।"

इसके बाद मंची ने मुझे बड़े जतन से खिलाया। उसका आग्रह और सेवा-जतन मुझे बड़ा अच्छा लगा।

रुखसत होते समय मैंने बार-बार कहा—"जौ-गेहूँ की कटनी के समय लवटोलिया बैहार जरूर आना।"

मंची बोली—"यह भी कहने की बात है—जरूर जाऊँगी। लौटते हुए लगा कि मंची आनंद, स्वास्थ्य और सरलता की प्रतिमूर्ति हो मानो। मानो इस वन-भूमि की वह लक्ष्मी हो—परिपूर्ण यौवना, जीवनमयी, तेजस्विनी लेकिन मुग्धा, अनभिज्ञ, बालस्वभावा।

बंगाली की कलम के जोर का भरोसा करनेवाली उस औरत को उस दिन जो वचन देकर आया था, आज इतने दिनों के बाद मैंने उसक पालन किया—पता नहीं, अब इससे उसका कौन-सा उपकार होगा। आज जानें वह कहाँ है, कैसी दशा में है, जीवित भी है या नहीं, कौन जाने!

[दो]

सावन का महीना था। नए मेघों की करुणा बहुत पहले ही बरस पड़ी थी; नाढ़ा और लवटोलिया बैहार या ग्रांट साहब के बरगद के नीचे खड़े होकर चारों तरफ निगाह दौड़ाइए, तमाम हरे समुद्र-सा नया कोमल कास-वन लहरा उठा है!

राजा दोबरू पन्ना ने झूलने का न्योता भेजा था। एक दिन पूर्णिमा के उत्सव में शामिल होने के लिए मैं चला। राजू और मटुकनाथ ने भी पीछा नहीं छोड़ा, साथ लग लिए। उन्हें पैदल जाना था, सो वे मुझसे पहले ही रवाना हो गए।

डेढ़ बजे के करीब डोंगी से भिट्टी नदी को पार किया। सबके

पार होते-होते ढाई बज गए। मैं सबको छोड़कर घोड़े से आगे निकल गया।

पश्चिम के आसमान में घने मेघ घिर आए और जरा देर में झमाझम पानी पड़ना शुरू हो गया।

अरण्य-प्रांतर में झमाझम झड़ी का अपूर्व ही दृश्य देखा! मेघों से सारी शैलमाला नीली हो उठी, बिजली वाले घने काले मेघों से आच्छन्न आकाश, कहीं-कहीं सखुए या केंद की डालों पर पंख फैलाए नृत्य-तत्पर मोर, पहाड़ी झरनों में बालक-बालिकाएँ कटची की चचटी लगाकर नन्हीं-नन्हीं मछलियाँ पकड़ रहे थे, धुमैली चट्टानें भींग कर काली दिखने लगी थीं और उन पर चरवाहे सखुए के पत्तों के बने चुरुट पी रहे थे। शांत और सुनसान स्थान—जंगल और जंगल, प्रांतर-पर-प्रांतर, झरने, पहाड़ी बस्तियाँ, रंगीन मिट्टीवाली जमीन, कहीं-कहीं फूले कंदब और पियार के पेड़।

साँझ से पहले ही मैं राजा दोबरू पन्ना की राजधानी में पहुँच गया।

पिछली बार का कमरा मेहमानों के लिए लीप-पोतकर रक्खा गया था। दीवारों पर गेरू की पोताई, कमल और मोर के चित्र, सखुए के खंभों पर लता और फूलों की झालर। मैं घोड़े से पहले ही पहुँच गया—मेरा बिस्तर नहीं पहुँच सका था; मगर मुझे उससे कोई असुविधा नहीं हुई। नई चटाई कमरे में बिछी थी, दो तीन साफ तकिए भी उस पर डाल दिए गए।

कुछ क्षणों के बाद पीतल की तश्तरी में फल-मूल और कटोरे में गरम दूध लिए कमरे में भानुमती आई और उसके पीछे-पीछे सखुए के पत्ते पर छुट्टे पान, समूची सुपारी और पान के और-और मसाले लिए, उसी की हमउम्र एक दूसरी लड़की आई।

भानुमती जमुनिया रंग की साड़ी पहने थी, जो घुटने तक उठ आई थी, गले में सब्ज और नीले दानों की माला, जूड़े में स्पाइडर

लिली के फूल। और भी तंदुरुस्त तथा लावण्यमयी हो उठी थी भानुमती—गठे हुए बदन में जवानी के लावण्य का ज्वार उभर उठा था; लेकिन आँखों की सरलता वही रह गई थी, जो पहले देख आया था।

मैंने पूछा—"क्यों भानुमति अच्छी तो हो?"

नमस्कार करना भानुमती जानती ही नहीं थी। मेरे उत्तर में हँस कर वह बोली—"और आप?"

—"मैं सकुशल हूँ।"

—"कुछ खा लीजिए। तमाम दिन घोड़े पर सवार रहे हो, भूख तीखी लग आई होगी।"

मेरे हाँ-ना का उसने इंतजार ही न किया और घुटने गाड़ कर नीचे बैठ गई। तश्तरी में से पपीते के दो टुकड़े निकालकर उसने मेरे हाथ में दिए।

उसका यह निःसंकोच बंधुत्व मुझे अच्छा लगा। मेरे-जैसे आदमी के लिए यह व्यवहार अद्भुत, अप्रत्याशित-सा नया, सुंदर और मधुर था। कोई बंगालिन-किशोरी ऐसा करती कभी? औरतों के बारे में कहाँ तो हमारा मन सदा-सर्वदा सिकुड़ा-सिमटा रहता है। उनके बारे में न तो जी खोलकर सोच सकते हैं, न प्राण खोलकर उनसे मिल सकते हैं।

यह भी पाया मैंने कि यहाँ के प्रांतर जैसे खुले हैं, वन, मेघमाला, गिरि-पंक्तियाँ जैसी मुक्त और दूरच्छन्दा हैं, वैसा ही संकोचहीन, सरल और बाधाविहीन है भानुमती का व्यवहार। आदमी से आदमी का जैसा स्वाभाविक व्यवहार होना चाहिए। ऐसा ही व्यवहार मैंने मंची और वेंकटेश्वरप्रसाद की स्त्री में भी पाया। जंगल और पहाड़ों ने इनके मन को मुक्त कर दिया है, दृष्टि को उदार कर दिया है—उसी अनुपात में इनका प्रेम भी मुक्त, दृढ़ और उदार है। चूँकि इनका मन बड़ा है, इसलिए इनका प्रेम भी महत् है।

मगर पास में बैठकर भानुमती ने अपने हाथों से जिस प्रकार

खिलाया, उसकी तुलना नहीं हो सकती! उस दिन मैंने नारी के निःसंकोच व्यवहार की मधुरता को अपने जीवन में पहली बार अनुभव किया। समझा कि नारी जब स्नेह करती है, तब न जाने कौन-से स्वर्ग का द्वार खोल देती है!

भानुमती के अंदर जो आदिम नारी है, सभ्य समाज में संस्कार और बंधन के दबाव से उस नारी की आत्मा मूर्च्छित पड़ी है।

पिछली बार इससे जो व्यवहार मिला था, अबकी का व्यवहार उससे भी अधिक अपनापन लिए था। भानुमती ने समझा है कि मैं उसके परिवार का बन्धु हूँ, उनका भला चाहने वाले अपनों में से ही एक हूँ, लिहाजा उससे जो व्यवहार मिला, वह अपनी स्नेहमयी सगी बहन का व्यवहार था।

इतने दिन हो गए; किंतु भानुमती की वह प्रीति और बंधुत्व की बात मेरे स्मृति-पटल पर वैसी ही उज्ज्वल है। जंगली सभ्यता के उस दान के आगे मेरे मन में सभ्य समाज के अनेक वैभव निस्तेज होकर पड़े हैं।

अब तक राजा दोबरू उत्सव के आयोजनों में लगे थे। अब मेरे कमरे में आए।

मैंने पूछा—"झूला क्या आपके यहाँ बराबर होता है?"

वे बोले—"यह उत्सव पुश्तैनी है। इस मौके पर दूर-दूर के सगे-संबंधी यहाँ नाचने को आते हैं। कल ढाई मन चावल यहाँ पकेगा!"

मटुकनाथ विदाई के लोभ से आया था। उसने सोच रक्खा था, बहुत बड़े राजा का दरबार है, कितना क्या होगा जानें। उसके चेहरे से लगा, उसे निराशा हुई। लगा, इस राजदरबार से तो उसकी पाठशाला ही अच्छी है।

राजू से मन की बात दबाते न बनी। बोल उठा—"यह राजा कहाँ हैं हुजूर, संथाल-सरदार तो हैं! मेरे यहाँ जितनी भैंसे हैं, मैंने सुना है, राजा के यहाँ उतनी भी नहीं!"

इसी बीच उसने राजा की धन-संपत्ति की भी थाह पा ली—गाय-भैंस इधर वैभव का बहुत बड़ा मानदंड है। जिसके जितनी अधिक भैंसें हैं, इधर वह उतना ही बड़ा आदमी गिना जायगा।

काफी रात गए चौदहवीं की चाँदनी ने जब गृहस्थों के आँगन में ज्योति-तिमिर का जाल-सा बुन दिया, तब राजमहल से नारियों के समवेत स्वर में एक अजीब ढंग का गीत सुनाई पड़ा। कल सावनी पूर्णिमा होगी, बाहर से आई हुई मेहमान और राजकुमारी की सहेलियाँ कल के नाच-गीत की तैयारी कर रही थीं। उनके गीत और मांदर की आवाज रात-भर एक साथ उठती रही।

सुनते-सुनते मैं जाने कब सो गया, नींद में भी मानो कितनी ही बार मैं उनका वह गीत सुन रहा था।

[तीन]

दूसरे दिन झूले का उत्सव देखा, तो मटुकनाथ और राजू ही क्या, मुनेश्वरसिंह भी मुग्ध हो गया।

सुबह ही देखा, आस-पास की बस्तियों से भानुमती की हम-उम्र कोई तीस-एक लड़कियाँ आ जुटी हैं। एक प्रथा मुझे इनकी अच्छी लगी कि नाच-गान की ऐसी बाढ़ में भी उन्होंने महुए की शराब नहीं पी। मैंने राजा दोबरू से इसके बारे में पूछा भी। उन्होंने नाज के साथ हँसकर कहा—"हमारे कुल की औरतों में यह बात नहीं। फिर मैं आज्ञा न दूँ, तो किसी की मजाल नहीं कि मेरे बाल-बच्चों के सामने शराब पिए।"

दोपहर को मटुकनाथ ने मुझसे चुप-चुप कहा—"देखता हूँ, ये राजा साहब तो मुझसे भी गए-बीते हैं। पकाने के लिए बड़ा ही मोटा और लाल चावल दिया है, पका कोंहड़ा और जंगली परोल। इतने सारे लोगों के लिए आखिर मैं क्या पकाऊँ?"

सबेरे से भानुमती की शक्ल भी नहीं दिखाई दी। जब मैं खाने को बैठा, तब एक कटोरे में दूध लिए वह मेरे पास आकर बैठ गई।

मैंने कहा—"रात तुम्हारा गाना मुझे बड़ा अच्छा लगा।"

हँसकर उसने पूछा—"हमलोगों के गीत आप समझ लेते हैं?"

मैंने कहा—"क्यों, तुम लोगों के बीच रहते हुए इतने दिन हो गए, तुम्हारे गीत समझूँगा क्यों न भला!"

—"आज शाम आप झूला देखने जाएँगे न?"

—"उसी के लिए तो आया हूँ। कितनी दूर जाना है?"

धनझरी पहाड़ की तरफ अँगुली दिखाकर भानुमती बोली—"उस पहाड़ तक तो आप गए हैं। हम लोगों का मंदिर नहीं देखा है क्या?"

इतने में उसकी हमजोली लड़कियाँ दरवाजे पर आकर रुकीं और बड़े कौतूहल से मेरा खाना देखकर आपस में जाने क्या-क्या बोलने-बतियाने लगीं।

भानुमति बोली—"यहाँ क्या है, जाओ।"

उनमें से एक जरा चंचल थी। बढ़कर बोली—"झूले के दिन बाबू साहब को नमक-करौंदा तो खाने को नहीं दे दिया है तू ने?"

बाकी लड़कियाँ खिलखिलाकर हँस पड़ीं और एक दूसरे के बदन पर गिरने लगीं।

मैंने भानुमती से पूछा—"ये हँस क्यों रही हैं?"

लजाती हुई बोली—"उन्हीं से पूछ लो, मैं क्या जानूँ?"

इतने में एक लड़की ने मेरी पत्तल में कमरख और मिर्च डाल दिया और बोली—"मिर्च का अचार खा लें बाबूजी। भानुमती तो आपको केवल मिठाई ही खिला रही है। यह कैसे होगा—हम कुछ कड़वा भी खिला लें।

फिर सभी लड़कियाँ ठठाकर हँस पड़ीं। इतनी-इतनी तरुणियों की सरल हँसी से दिन में ही पूनो की चाँदनी छिटक पड़ी।

साँझ से पहले युवक-युवतियों की एक टोली पहाड़ की ओर

रवाना हुई। हम भी उन्हीं के साथ लग गए—एक विशाल जुलूस ही समझिए! पूरब की तरफ नवादा-लक्ष्मीपुर की सरहद पर धनझरी पहाड़, जिसके नीचे से भिट्ठी नदी उत्तर की ओर प्रवाहित हुई है, उसी पहाड़ पर पूर्णमासी का पूर्ण चंद्र उगता आ रहा था। एक तरफ नीची उपत्यका—जंगलों से हरी-भरी, दूसरी तरफ धनझरी की पंक्ति। मील-भर चलकर हम पहाड़ के नीचे पहुँचे। थोड़ी उँचाई चढ़ जाने पर एक समतल-सी जगह पड़ती थी। उसके बीचोबीच पियार का एक पेड़, जिसके तने को फूल और लता ने घेर रक्खा था। राजा दोबरू ने बताया, यह पेड़ बड़ा पुराना है, मैं बचपन से ही इसे देखता आया हूँ। झूले के समय स्त्रियाँ इसी के नीचे नाचा करती हैं।

ताड़ के पत्ते की चटाई डालकर हमलोग एक तरफ बैठ गए। और पूनो की चाँदनी से धुली उस वनभूमि में लगभग तीस तरुणियाँ पेड़ का चक्कर काटती हुई नाचने लगीं—कुछ युवक मांदर (मृदंग) बजाते हुए उनके साथ घूमने लगे। भानुमती, दल में सबसे आगे थी। लड़कियों के जूड़े में फूलों की माला, बदन में फूलों के गहने लदे थे।

बड़ी रात तक यह नृत्य-गीत लगातार चलता रहा। बीच-बीच में वे थोड़ा साँस भी ले लेतीं और फिर नाचना शुरू कर देतीं—मांदर के बोल, चाँदनी, वर्षास्निग्ध वनभूमि और सुठाम, श्यामा नृत्परायण तरुणियों की टोली—सब मिलकर किसी बड़े चित्रकार की आँकी हुई तस्वीर जैसी शोभामयी लग रही थी। उसका आकुल आवेदन किसी मधुर-संगीत-सा प्रतीत हो रहा था। सोलंकी राजकन्या और उनकी सहचरियों के ऐसे ही झूले के नाच-गान की बात याद हो आई, चरवाहे बालक बप्पादित्य को खेल के बहाने माला देने की बात।

इससे भी सुदूर अतीत के, प्राचीन प्रस्तर-युग के भारत के रहस्य से ढँके इतिहास की सारी घटनाएँ मेरी आँखों के आगे मानो फिर से अभिनीत होने लगीं—भानुमती और उसकी सखियों के नृत्य में आदिम

भारत की वह संस्कृति मानो मूर्तिमती हो उठी है—हजारों साल पहले ऐसे कितने ही वन, कितनी पर्वतमालाएँ, ऐसी कितनी ही चाँदनी रातें भानुमती-जैसी कितनी ही बालिकाओं के नृत्य-चंचल चरणों के छंद से आकुल हो उठी थीं ; उनकी वह हँसी आज भी मरी नहीं, इन जंगलों और गिरि-मालाओं की आड़ से वे अपने वर्धमान वंशधरों के लहू में आज भी उत्साह और आनन्द की उस वाणी को भेजती रहती हैं।

गहरी रात। पच्छिम के जंगल के पीछे चाँद झुक गया। हम सभी पहाड़ से नीचे उतर आए। यह अच्छा रहा कि आसमान में आज बदली नहीं थी, मगर सुबह की तरफ ओदी हवा काफी सर्द हो गई। उतनी रात बीतने पर भी खाने बैठा, तो भानुमती दूध और पेड़ा लेकर आई।

मैंने कहा—"तुम लोगों का बेहतरीन नाच रात मैंने देखा।"

लजाकर वह बोली—"आपको वह नाच भला क्या लगेगा, भला—कलकत्ता में यह सब कोई देखता भी है!"

दूसरे दिन भानुमती और उसके प्रपितामह लौटने देने में आनाकानी करने लगे। मगर रुकने से अपना काम नहीं चल सकता था, सो लौट आया।

चलते समय भानुमती ने कहा—"कलकत्ता से मेरे लिए एक आईना ला देंगे बाबूजी? मेरे पास एक था ; पर कुछ दिन हुए वह टूट गया!"

सोलह साल की सुंदरी तरुणी को आईने की कमी! आखिर आइना बना किसके लिए है? एक हफ्ते के अंदर ही मैंने पूर्णियाँ से एक आइना मँगवा कर उसे भिजवा दिया था।

चौदहवाँ परिच्छेद

[एक]

कई महीने बाद, फागुन का आरंभ। लबटोलिया से मैं अपनी कचहरी को लौट रहा था। रास्ते में कुंड के पास बँगला बोली सुनाई पड़ी। मैंने घोड़े को रोका। जितना ही पास पहुँचने लगा, मेरा अचरज बढ़ता गया। औरतों की भी आवाज आ रही थी——आखिर माजरा क्या है ? जंगल से होकर मैं कुंड के पास पहुँचा। देखता क्या हूँ कि झाऊ की झाड़ियों के पास दरी डाल कर आठ-दस बंगाली बाबू गप-शप कर रहे हैं। पास ही पाँच-छै औरतें कुछ पका रही हैं, छै-सात बच्चे-बच्चियाँ दौड़-धूप रही हैं। मैं समझ नहीं सका कि इतने सारे औरत-मर्द इस जंगल में पिकनिक के लिए कहाँ से आ गए ? मैं अवाक् खड़ा रह गया। इतने में उन लोगों की नजर मुझ पर पड़ी। एक ने बंगला में कहा——"अरे ऽ, यह कम्बख्त सत्तू कहाँ से आ गया ?"

मैं घोड़े से उतर कर उनके पास गया। पूछा——"आप लोग तो बंगाली-से दीखते हैं——यहाँ कैसे आना हुआ ?"

वे अचंभे में पड़ गए, कुछ अप्रतिभ भी हुए। बोले——"ओ, आप बंगाली हैं ? हें-हें.. बुरा न मानेंगे, हमने सोचा——हें-हें. . . ."

मैंने कहा——"जी बुरा मानने की क्या बात है इसमें ? मगर आप लोग कहाँ से आए और इन औरतों के साथ. . . . ."

बातें होने लगीं। दल में जो प्रौढ़ सज्जन थे, वे रिटायर्ड डिप्टी मजिस्ट्रेट थे——राय बहादुर। बाकी लोग उन्हीं के लड़के, भतीजे, भतीजी, लड़की, पोती, दामाद के दोस्त आदि। कलकत्ता में राय बहादुर ने किसी किताब में पढ़ा था कि पूर्णियाँ में शिकार बहुत मिलता है। पूर्णियाँ में उनके भाई मुंसिफ थे, वे यह देखने के लिए यहाँ आकर टिके थे कि सच-

मुच ही यहाँ शिकार की सहूलियत है या नहीं। आज सुबह के ट्रेन से चले और दस बजे कटोरिया में उतरे। वहाँ से नाव पर चढ़कर कोसी पार करके पिकनिक के लिए यहाँ आए, क्योंकि जिसके मुँह से भी सुना, यही सुना कि लवटोलिया, बोमाइबुरू और फुलकिया का जंगल नहीं देखा, तो कुछ नहीं देखा। सो यहाँ से पिकनिक खत्म करके ये मोहनपुरा के पास कोसी में नाव पर सवार होंगे और आज ही रात को कटोरिया पहुँच जाएँगे।

मैं तो अवाक् रह गया। संबल के नाम पर उनके पास एक दोनली बंदूक थी, बस। उसी के भरोसे पर बाल-बच्चों के साथ थे इस घोर जंगल में पिकनिक के लिए चले आए। साहस की तारीफ करनी पड़ी; लेकिन राय बहादुर तो दुनिया देखे हुए व्यक्ति थे, उन्हें जरा सावधान होना चाहिए था। साँझ होते-होते इधर के जंगली लोग भी मोहनपुरा जंगल के पास से गुजरने की हिम्मत नहीं करते। जंगली भैंसों का खतरा रहता है। बाघ भी निकल आए, तो ताज्जुब नहीं। बनैले सूअर और साँपों की तो बात ही क्या। बच्चों के साथ पिकनिक में आने की यह जगह ही नहीं।

राय बहादुर मुझे छुट्टी देने को राजी न थे—बैठना ही पड़ेगा, चाय पीनी ही पड़ेगी। मेरा हाल पूछने लगे—मैं यहाँ इस जंगल में क्या करता हूँ। लकड़ी का तो व्यवसाय नहीं करता? मैंने अपना सारा किस्सा बताया और सबके साथ उन्हें अपने यहाँ रात बिताने का अनुरोध किया; मगर वे रुकने को राजी न हुए। आज रात तक उन्हें पूर्णियाँ पहुँचना जरूरी था, नहीं तो वहाँ लोग फिक्र में पड़ जायँगे।

मैं समझ नहीं सका कि ये इतनी दूर जंगल में पिकनिक करने को आए क्यों। लवटोलिया के मुक्त प्रांतर और वन, दूर की पहाड़ियों की शोभा, सूर्यास्त की सुषमा, पंछियों की बोली, पास ही वन के माथे पर बसन्त के न जानें कितने तरह के फूल खिले थे—मैंने देखा कि इन बातों का इन्हें जरा भी खयाल नहीं। ये तो केवल चीख रहे थे,

उछल-कूद रहे थे, गीत गा रहे थे और इस फिक्र में लगे थे कि खाने की क्या तदबीर हो। लड़कियाँ जो थीं, उनमें से दो तो कलकत्ता में कालेज में पढ़ती थीं, बाकी स्कूल में। लड़कों में से एक था मेडिकल कालेज का छात्र, दूसरे सब स्कूल-कालेज के विद्यार्थी, मगर किसी तरह से हो, जब प्रकृति के इस अचरज-भरे सौन्दर्य-राज्य में आ ही निकले थे, तो भी उन्हें देखने की आँखें ही न थीं। सच पूछिए, तो ये लोग तो शिकार के लिए आए थे, खरगोस, चिड़िया, हिरन—मानों ये जीव इनकी गोली का निशाना बनने के लिए राह के किनारे ही बैठे हों!

और जो लड़कियाँ आई थीं, वैसी कल्पनालेश हीन लड़कियाँ कहीं भी जो देखी हो मैंने! बस इधर से उधर की दौड़-धूप, जंगल से रसोई के लिए सूखी लकड़ियाँ बटोर कर लाना और बक-बक—उनमें से किसी ने भी एक बार चारों तरफ निहार कर नहीं देखा कि उनकी यह खिचड़ी कहाँ बन रही है, किस निविड़ सौन्दर्यमय वन के किनारे।

एक लड़की बोली—"यहाँ 'टिन कटर' ठोंकने की बड़ी सुविधा है, क्यों? पत्थर कितने हैं!"

एक दूसरी ने कहा—"उँह, क्या जगह है यह—बढ़िया चावल कहीं ढूँढ़े नहीं मिलता। कल सारे शहर की खाक छानती रही—कैसा घिनौना चावल मिला; तिस पर तुर्रा यह कि तुम लोग पुलाव पकाने के मनसूबे गाँठ रहे थे!"

उन्हें क्या पता था कि जहाँ वे रसोई पका रही थीं, वहाँ चाँदनी रात में परियाँ आकर खेला करती है?

उन्होंने बाइस्कोप की बातें शुरू कीं। रात भी उन्होंने पूर्णिया में तसवीर देखी और वह शायद बिलकुल वाहियात थी। बस, इसी तरह की बातचीत। साथ ही कलकत्ता के सिनेमा से यहाँ की तुलना! ढेंकी स्वर्ग में भी धान ही कूटता है जाकर—बात झूठ नहीं। शाम के पाँच बजे वे चल दिए।

जाते समय जमे दूध और जैम के कुछ खाली डिब्बे छोड़ गए। वहाँ पेड़ों के नीचे ये चीजें मुझे कैसी तो बेमेल लगीं।

[दो]

बसंत के विदा होते ही इस साल लवटोलिया में गेहूँ की फसल पक गई। पिछले साल अपने मौजे में सरसों की फसल बहुत ज्यादा थी, अबकी बहुत खेतों में गेहूँ भी था, सो वैशाख के आरंभ ही में कटनी का मेला लग गया।

कटनिए जैसे भविष्यद्रष्टा थे, इस साल सर्दियों में वे नहीं आए, इस समय जमात बाँधकर आने और जंगल के पास, मैदानों में झोंपड़े बनाकर रहने लगे। दो-तीन हजार बीघे में फसल लगी थी, लिहाजा मज-दूर भी तीन-चार हजार से कम नहीं आए होंगे। सुना, अभी लोग आ ही रहे हैं।

मैं सुबह जो घोड़े की पीठ पर सवार होता, सो शाम को ही उतरता। जाने कैसे-कैसे लोग आ रहे हैं, इनमें कितने बदनाश, कितने गुंडे, कितने रोगी होंगे, सब पर निगाह न रखने से ऐसी जगह में, जहाँ पुलिस नहीं, कभी भी कोई दुर्घटना हो सकती है।

एकाध घटना सुना ही दूँ।

एक दिन रास्ते में दो लड़के और एक लड़की रोते मिले। मैं घोड़े से उतर पड़ा। पूछा—"क्यों रो रहे हो, क्या हुआ ?"

उन्होंने जो बताया, उसका सारांश यह है—वे लड़के उस गाँव के नहीं थे, नंदलाल ओझा गोलावाला के गाँव के थे। सगे भाई-बहन थे, सब मेला देखने आए थे। आज ही आए थे। कहीं लाठी और फंदे का जूआ चल रहा था। बड़ा लड़का खेलने लगा। एक लाठी जमीन से लगी खड़ी थी, उसी पर रस्सी फेंकनी पड़ती थी। अगर लाठी में फंदा लग गया, तो एक का चार लीजिए।

बड़े भाई के पास दस आने पैसे थे। उसने बार-बार फंदा फेंका,

और एक बार भी न लग सका। इस तरह वह अपना सब हार गया। छोटे भाई के आठ आने और बहिन के चार आने भी हार बैठा। पास में फूटी पाई भी न रही कि कुछ खा सके, तमाशा देखने की तो दूर रही।

मैंने उन्हें चुप होने को कहा और जहाँ जुआ हो रहा था, उन्हें लेकर उसी तरफ चला। पहले तो वे जगह ही नहीं बता पा रहे थे, अंत में बहेड़े का एक पेड़ दिखाकर बोले, इसी के नीचे जुआ हो रहा था। लेकिन वहाँ कोई नहीं था। कचहरी के जमादार रूपसिंह का भाई मेरे साथ था। उसने कहा—"ऐसे जुआरी भी कहीं एक जगह ठहरते हैं हुजूर। चल दिए होंगे कहीं।"

तीसरे पहर वह जुआरी पकड़ गया। किसी बस्ती में वह जुआ खेल रहा था। मेरे प्यादों ने देखा, पकड़ लाए। उन बच्चों ने भी जुआरी को पहचाना।

पहले तो वह पैसे लौटाने को राजी नहीं हो रहा था। बोला—"मैंने इनके पैसे छीन तो नहीं लिए, खेल कर ये खुद ही हार गए हैं, इसमें मेरा कौन-सा कसूर है?" लेकिन उन बच्चों के पैसे तो उसे देने ही पड़े। मैंने हुक्म दिया कि इसे पुलिस के हवाले करो।

वह पैरों पड़कर गिड़गिड़ाने लगा। मैंने पूछा—"तुम्हारा घर?"

—"बलिया जिला, बाबूजी!"

—"लोगों को इस तरह ठगा क्यों करते हो? कितने पैसे ठगे?"

—"गरीब आदमी हूँ हुजूर, मुझ पर रहम करें। तीन दिन में कुल दो रुपए तीन आने पैदा कर सका हूँ।"

—"इन मजदूरों से तीन दिन में तुमने बहुत ज्यादा पैदा किया है।"

—"मगर साल में रोजगार के ऐसे मौके ही कितने आते हैं हुजूर? सारे वर्ष में तीस-चालीस रुपए की आमदनी हो पाती है।"

मैंने उसे इस शर्त पर छुड़वा दिया, कि आज ही वह मेरा गाँव छोड़ कर चला जाय। उस दिन से फिर उसे वहाँ किसी ने नहीं देखा।

कटनियों में इस बार मंची को न देखकर मुझे उद्वेग भी हुआ, और अचरज भी। उसने गेहूँ की फसल के समय आने का बार-बार वादा किया था। कटनी का मेला लगा, उठ भी गया——मैं समझ नहीं सका कि वह आई क्यों नहीं।

दूसरे मजूरों से पूछ-ताछ भी की ; पर कोई पता नहीं चला। मैं सोचने लगा——कोसी नदी के दक्खिन में इस्माइलपुर दीयरे को छोड़कर आस-पास यहाँ जितना बड़ा खेती का इलाका दूसरा तो है नहीं। फिर जब मजदूरी भी एक ही-सी मिलती है, तब वह इतनी दूर क्यों जायगी ?

मेला उठने-उठने के समय एक गंगोते मजूर से उसका समाचार मिला। वह मंची और उसके पति नकछेदी भगत को पहचानता था। साथ-साथ बहुत जगह काम भी किया था शायद। उसने बताया——उसने उन्हें फागुन में अकबरपुर के सरकारी खासमहाल में काम करते देखा था। उसके बाद वे कहाँ गए, पता नहीं।

कटनी का मेला आधे जेठ तक उठ गया। एक दिन कचहरी में नकछेदी भगत को देखकर मैं अचरज में पड़ गया। मेरा पाँव पकड़ कर वह फुक्का फाड़ कर रो पड़ा। मैंने पाँव छुड़ाया तथा और भी ताज्जुब में पड़कर पूछा——"बात क्या है ? तुम लोग कटनी के दिनों यहाँ आए क्यों नहीं ? मंची मजे में तो है ? है कहाँ वह ?"

मेरी बात के जवाब में उसने जो जवाब दिया, वह संक्षेप में यों है——मंची कहाँ है, इसकी उसे कोई खबर नहीं। खासमहाल में काम करते समय वह उसे छोड़कर न जाने कहाँ भाग गई। खोज-ढूँढ बहुत की ; पर उसका पता न चला।

मैं चकित और विस्मित रह गया ; लेकिन मुझे नकछेदी भगत के लिए कोई हमदर्दी न थी, ऐसा लगा। सोच-फिकर जो कुछ भी थी, सब उस वन्य स्त्री के लिए। आखिर वह गई कहाँ, उसे कौन फुसला कर ले भागा, वह कहाँ और किस हालत में है ? सस्ती शौकीनी की चीजों की

जैसी रुझान मैंने उसमें देखी थी, उन चीजों का लोभ दिखाकर उसे भगा ले जाना मुश्किल न था। हुआ भी ऐसा ही होगा।

मैंने पूछा—"और उसका बच्चा?"

—"वह दुनिया में नहीं रहा। चेचक से मारा गया।"

सुनकर मैं बहुत दुखी हुआ। निश्चय ही बच्चे के शोक में पागल होकर ही वह बेचारी निकल पड़ी होगी—"दो आँखें जिधर ले जायँ। जरा देर मैं चुप रह गया। फिर पूछा—"तुलसी कहाँ है?"

—"वह यहीं है, साथ आई है।—हुजूर, मुझे थोड़ी-सी जमीन दें। कटनी पर अब बूढ़े-बूढ़ी का गुजारा नहीं चल सकता। मंची थी, तो बल था। उसी के भरोसे घूमा करता था। वह मेरे हाथ-पाँव तोड़कर चली गई!"

संध्या समय उसके झोंपड़े में गया। तुलसी बाल-बच्चों को लिए हुए चीना तैयार कर रही थी। मुझे देखकर वह रो पड़ी। देखा—मंची के चले जाने से वह भी बहुत दुखी है। बोली—"हुजूर, यह सारा कसूर इस बूढ़े का है। वहाँ सरकारी लोग टीका लगाने आए थे। बुड्ढे ने चार आना घूस देकर उन्हें विदा कर दिया, टीका नहीं लगाने दिया। कहा—टीका लगाने से चेचक होगा। तीन दिन भी नहीं गुजरे थे कि मंची के बेटे को चेचक निकली और उसी में वह चल भी बसा। उसके शोक में वह पागल-सी हो गई। खाना-पीना छोड़ बैठी—सिर्फ रोती और रोती।"

—"उसके बाद?"

—"उसके बाद खासमहाल से हम लोगों को निकाल दिया गया हुजूर। कहा गया—'चेचक में तुम्हारा बच्चा मरा है, अब तुम लोगों को यहाँ नहीं रहने दिया जायगा।' एक रजपूत छोकरा मंची पर निगाह गड़ाए था। जिस दिन हम लोग खासमहाल से रुखसत हुए, मंची उसी रात को गायब हुई। उस दिन सबेरे मैंने उस छोकरे को झोंपड़े का चक्कर काटते देखा था। यह जरूर उसी की कारस्तानी होगी हुजूर। इधर मंची

कलकत्ता देखने की बड़ी रट लगाए हुए थी। जभी मैं समझ रही थी कि कुछ-न-कुछ होगा।"

मुझे भी याद आया, पिछले साल भी उसने मुझसे कलकत्ता देखने का बड़ा आग्रह दिखाया था। उस धूर्त राजपूत छोकरे ने कलकत्ता दिखान के लोभ से उसे भगा लिया हो, तो ताज्जुब क्या।

मुझे पता था कि ऐसी दशा में इधर की औरतों की अंतिम परिणति चाय के बगीचों की कुलीगिरी में होती है। मंची के नसीब में आखिर क्या आसाम की पहाड़ियों की दासता और निर्वासन ही लिखा था?

मुझे बूढ़े नकछेदी भगत पर बड़ा गुस्सा आया। सारी खुराफातों की जड़ कम्बख्त यही बूढ़ा है। बुढ़ापे में इसने मंची से शादी ही क्यों की थी? फिर सरकारी टीके वाले को घूस देकर इसने लौटा क्यों दिया? इसे मैं जमीन भी दूँगा, तो इसके लिए हर्गिज नहीं, इसकी बूढ़ी औरत और बच्चों की खातिर दूँगा।

दिया भी। सदर से हुक्म आया था, नाढ़ा बैहार में जल्दी-से-जल्दी रैयत बसाऊँ। नकछेदी भगत को ही मैंने सबसे पहले बसा दिया।

नाढ़ा बैहार घने जंगल से भरा था। महज दो-एक रैयतों ने अभी-अभी झोंपड़ा बनाना शुरू किया था। जंगल देख कर पहले तो नकछेदी की हिम्मत टूट गई, कहा—"हुजूर! वहाँ तो दिन दहाड़े ही बाघ उठा ले जाएँगे—इन नन्हें बच्चों को लेकर....."

मैंने साफ-साफ कह दिया—"अगर वहाँ रहना पसन्द न हो, तो और कहीं जाओ—"

लाचार होकर उसने उस जंगल में ही जमीन ले ली।

[तीन]

नकछेदी जब से यहाँ है, मैं एक बार भी उसके झोंपड़े पर नहीं गया। उस दिन साँझ को बैहार होकर लौट रहा था—एक जगह थोड़ी

साफ की हुई जगह दिखाई पड़ी—पास-पास कसाल के दो झोंपड़े। एक में से रोशनी छनकर बाहर आ रही थी।

मुझे पता नहीं था कि यह झोंपड़ा नकछेदी का है। घोड़े की टाप सुनकर जो प्रौढ़ा स्त्री झोंपड़े के अन्दर से बाहर आई, वह नकछेदी की स्त्री तुलसी थी।

—"तुम लोगों ने यहाँ पर जमीन ली है? नकछेदी कहाँ है?"

मुझे देखकर वह आश्चर्य में पड़ गई। जल्दी में गेहूँ का भूसा भरी टाट की एक गद्दी उसने डाल दी और बोली—"जरा देर बैठिए बाबूजी। वह लवटोलिया गए हैं—नमक-तेल लाने। बड़े लड़के को साथ ले गए हैं।"

—"और तुम इस घोर जंगल में अकेली हो?"

—"यह सब रम गया है अब तो बाबूजी। डरने मे हम गरीबों का काम चल सकता है भला? यों अकेली रहना तो नहीं पड़ता; मगर अपनी खोटी तकदीर। जब तक मंची रही, क्या जंगल और क्या पानी, कहीं डर नहीं था। गजब का साहस और तेज था उसमें बाबूजी।"

तुलसी अपनी तरुणी सौत को चाहती थी। उसे यह भी पता था कि मंची की चर्चा से मुझे खुशी होगी।

तुलसी की लड़की सुरतिया ने कहा—"मैंने नीलगाय का एक बच्चा पकड़ रक्खा है, देखेंगे? उस दिन हमारे झोंपड़े के पीछे तीसरे पहर खस्-खस् करता फिर रहा था। मैंने और छनिया ने मिलकर पकड़ लिया। बड़ा सुन्दर है।"

मैंने पूछा—"खाता क्या है वह?"

सुरतिया बोली—"चीना और कोमल पत्ते। केंद के नए पत्ते तोड़कर ला देती हूँ।"

तुलसी बोली—"बाबूजी को दिखा—"

सुरतिया हरिन-जैसी तेज पीछे की तरफ भाग गई। जरा देर में उसकी चीख पुकार सुनाई पड़ी—"अरे छनिया, नीलगैया त भागी गेलौ रे—हिन्ने-हिन्ने—जल्दी पकड़—"

दोनों बहनों ने आख़िर बच्चे को पकड़ ही लिया और हँसती-हाँफती उसे मेरे पास ले आईं।

अँधेरे में मैं उसे देख सकूँ, इस ख्याल से तुलसी ने एक जलती हुई लकड़ी को ऊपर उठा कर रक्खा। सुरतिया ने पूछा—"सुन्दर है न बाबूजी! कल रात को भालू इसे खाने की फिराक में था। महुए खाने के लिए कल रात उस पेड़ पर भालू चढ़ा था—बहुत रात हो चुकी थी—बप्पा और मैया गहरी नींद में थे, मुझे खबर थी। भालू पेड़ से उतर कर हमारे पिछवाड़े आया। मैं रात को इसे अपनी छाती से लगाकर सोती हूँ—भालू की आहट पाकर मैंने इसका मुँह दबाकर छाती से और भी कसकर चिपका लिया।"

—"तुझे डर नहीं लगा?"

—"इस्... डर क्या, मैं डरती नहीं। लकड़ी चुनने जाती हूँ, तो कितना भालू देखती हूँ, वहाँ भी डर नहीं लगता, डरने से काम चलेगा बाबूजी?"

उसने पुरखिन-जैसी शक्ल बना ली।

झोंपड़े के चारों तरफ मिल की काली चिमनियों-जैसे केंद के काले-काले तने आसमान की ओर सिर उठाए थे, जैसे कैलिफोर्निया के रेडउड् पेड़ का जंगल हो। चमगादड़ और निशाचर पंछियों के डैनों की फटाफट हर डाल पर होने लगी थी। झाड़ियों पर झुंड-के-झुंड जुगनू जल रहे थे, झोंपड़े के पीछे ही सियार बोल रहे थे—मैं समझ नहीं पा रहा था कि इन कई छोटे-छोटे बच्चों को लेकर इनकी माँ इस सुनसान जंगल में रहती कैसे है। हे विज्ञ, रहस्यमय अरण्य, आश्रितों पर सचमुच ही तुम्हारी बड़ी कृपा है।

बातों-ही-बातों में मैंने पूछा—"मंची क्या अपना सब कुछ साथ लेती गई है?"

सुरतिया बोली—"साथ कुछ भी नहीं ले गई है छोटी माँ। उस

बार उसका जो बक्स आप देख गए थे, उसे भी छोड़ गई। देखेंगे आप? अभी लाई।

बक्स को लाकर उसने मेरे सामने खोला। कंघी, छोटा-सा आइना, नकली दाने की माला, एक सब्ज रूमाल—ठीक जैसे किसी नन्ही बच्ची के खिलौनों का बक्स हो; मगर पिछली बार लवटोलिया में जिसे खरीदा था, वह माला इसमें नहीं थी।

कौन कह सकता है कि अपना घर-संसार छोड़ कर वह कहाँ चली गई? इन लोगों ने तो आखिर झोंपड़ा डालकर अपनी दुनिया बसाई, इनमें से वह जैसी खानाबदोश थी, वैसी खानाबदोश ही रह गई।

घोड़े पर सवार होते समय सुरतिया बोली—"और किसी दिन आइए बाबूजी। फंदे से हम चिड़िया फँसाते हैं। नया फंदा बुन रक्खा है। एक डाहुक और गुड़गुड़ी को पाला भी है। ये जब बोलते हैं, तो जंगल से दूसरी चिड़ियाँ आकर फंदे में फँसती हैं। आज तो समय नहीं रहा, नहीं तो फँसा कर आपको दिखाती—"

इतनी रात को नाढ़ा बैहार होकर जाने में भय-सा लगता। बाईं ओर एक छोटे-से पहाड़ी झरने का पानी कल-कल करता हुआ बह रहा था। कहीं कोई फूल फूला था—गंध से भरा अँधेरा कहीं-कहीं इतना गाढ़ा हो उठा था कि घोड़े की गर्दन का रोआँ नहीं सूझता, कहीं तारों की जोत से अँधेरा कुछ मंद पड़ गया था।

नाढ़ा बैहार तरह-तरह के पेड़-पौधे, जीव-जंतु और पंछियों का अड्डा है—इसकी वनभूमि और प्रांतर को प्रकृति ने अनंत वैभव से सजाया है, सरस्वती कुंड इसी बैहार की उत्तरी सीमा पर पड़ता है। जरीब के पुराने कागजात से पता चलता है, पहले यहाँ कोसी की धारा थी, अब वह भर गई है और यही इतना पानी बच रहा है। दूसरी तरफ वही प्राचीन धारा घने जंगल में जाग उठी है—

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरिताम्

इस वनभूमि की कैसी वर्णनातीत शोभा उस अँधेरे में देखी मैंने।

मगर जैसे ही यह खयाल आया कि इस जंगल की आयु ज्यादा नहीं रह गई, वैसे ही एक कचोट-सी उठी। मैं इसे इतना प्यार करता हूँ और मेरे ही हाथों इसका विनाश होगा! महज दो साल के अन्दर सारा-का-सारा गाँव गंदे टोलों और घिनौनी बस्तियों से भर जायगा। प्रकृति के अपने हाथों से सजाया हुआ, उसकी सैकड़ों साल की साधना का फल यह नाढ़ा बैहार, अपनी अतुल सौन्दर्य-राशि और दूरव्यापी प्रांतर को लेकर जाने कहाँ गायब हो जायगा; मगर इसके बदले मिलेगा क्या?

कुछ फूँस के बदसूरत घर, गोशाला, मकई के खेत, सन की ढेरी, रस्सी की चारपाई, महावीरी पताका, सीझ के काँटे, भरपूर तम्बाकू, भरपूर खैनी और भरपूर चेचक और हैजे के दौरे!

हे अरण्य, हे सुप्राचीन, मुझे माफ करना।

एक दिन सुरतिया के यहाँ फिर गया, उसका चिड़िया फँसाना देखने।

सुरतिया और छनिया, दोनों दो पिंजरे लिए मेरे साथ नाढ़ा बैहार के जंगल के पास गई।

तीसरे पहर का समय। बैहार पर लम्बी छाया छोड़कर, सूरज पहाड़ के पीछे उतर गया था।

एक सेमल के पेड़ के नीचे उन्होंने दोनों पिंजरों को उतारा। एक में था एक डाहुक, दूसरे में गुड़गुड़ी। दोनों ही सिखाई-पढ़ाई चिड़ियाँ थीं। जंगली चिड़ियों को बुलाने के लिए पोंड़की बोलने लगी।

गुड़गुड़ी पहले नहीं बोली।

सुरतिया ने सीटी बजाकर कहा—"बोल री बहिनिया, तोहर फिर. . ."

कहना था कि गुड़गुड़ी बोल उठी—"गुड़-ड़-ड़-ड़—"

सूने अपराह्न में, दूर तक फैले मैदान की निर्जनता में वह अनोखी आवाज मन में ऐसे ही दिगंत-विस्तारी प्रांतर की तसवीर भर देती, ऐसे ही मुक्त क्षितिज का स्वप्न, छायाहीन ज्योत्स्नालोक। पास ही हरियाली पर, जहाँ दुधली के राशि-राशि फूल खिले थे, छनिया ने फंदा बिछाया,

बाँस की करची का बना घेरा, उन्हीं घेरों से उसने गुड़गुड़ी के पिंजरे को ढक दिया।

सुरतिया बोली—"चलिए, हमलोग झाड़ी की आड़ में छिप जायें। आदमी देखकर चिड़ियाँ उड़ जाएँगी।"

कुछ देर हम लोग सखुए की ओट में दुबके बैठे रहे। डाहुक तो जब-तब चुप भी हो जाता, मगर गुड़गुड़ी की पुकार बन्द न होती—बोलती ही चली जा रही थी वह—गुड़-ड़-ड़-ड़।

बड़ा ही अलौकिक स्वर। मैंने कहा—"सुरतिया, अपनी यह गुड़-गुड़ी बेचेगी तू? क्या लेगी इसका?"

सुरतिया बोली—"चुप्-चुप्, वह सुनिए, चिड़िया आ रही है—"

जरा देर की नीरवता के बाद एक दूसरी आवाज वन-प्रांतर को गुँजाती हुई मैदान के उत्तर से आई—गुड़-ड़-ड़

मेरा शरीर सिहर उठा—पिंजरे की चिड़िया की पुकार पर जंगल की चिड़िया ने जवाब दिया......

धीरे-धीरे वह आवाज पास आने लगी।

कुछ देर तक दोनों चिड़ियों की आवाज पास-पास सुनाई देती रही, फिर दोनों सुर मिलकर एक हो गए—अचानक एक सुर थम गया—सिर्फ पिंजरे की चिड़िया बोलती रही।

छनिया और सुरतिया दौड़ पड़ीं—"चिड़िया फँसी!" मैं भी दौड़ा।

फंदे में पैर फँसाकर चिड़िया छटपटा रही थी। फँसते ही उसकी बोलती बन्द हो गई थी—गजब हो गया! अपनी आँखों पर मुझे एत-बार नहीं हो रहा था।

सुरतिया ने चिड़िया को हाथ पर उठा लिया—"देखिए बाबूजी! किस तरह से पाँव फँस गया है। देखा?"

मैंने पूछा—"चिड़ियों का तू क्या करती है?"

उसने कहा—"बाबूजी इन्हें तिरासी रतनगंज की हाट में बेंच आते हैं। दो पैसे में गुड़गुड़ी और सात पैसे को पोंड़की।"

मैंने कहा—"तो मेरे हाथ बेंच, मैं दाम दूँगा।"

उसने मुझे मुफ्त में ही चिड़िया दे दी। मैंने लाख कोशिश की, मगर उसने पैसा लेना मंजूर नहीं किया।

[चार]

आश्विन का महीना। एक दिन सबेरे-ही-सबेरे इस आशय की चिट्ठी मिली कि राजा दोबरू पन्ना का देहान्त हो गया—राजा-परिवार बड़ी मुसीबत में है—अगर समय हो, तो एक बार मैं वहाँ जाऊँ। पत्र जगरू पन्ना ने लिखा था—भानुमती के दादा ने।

मैं उसी समय चल पड़ा और साँझ होने से कुछ पहले ही चकमकी टोला पहुँचा। राजा का बड़ा लड़का और पोता मेरी अगवानी के लिए वहाँ तक आए थे। सुना कि गाय चराते हुए राजा दोबरू पन्ना गिर पड़े थे और उनके घुटने में चोट आई थी। घुटने की वही चोट उनकी मौत का कारण बनी।

राजा का मरना था कि महाजन आ धमका। उसने गाय-भैंसों को अपने कब्जे में कर लिया। रुपया चुकाए बगैर वह देने का नहीं। मुसीबत पर मुसीबत। कल नए राजा का अभिषेक होना चाहिए। उसमें भी रुपयों का खर्च था; मगर रुपया आए तो कहाँ से? और महाजन अगर गाय-भैंस हँका ले गया, तो राज-परिवार की हालत बदतर हो जायगी। उन्हीं के दूध का घी बेंचकर राज-परिवार का आधा खर्च चलता था। अब तो भूखों मरने की नौबत थी।

मैंने महाजन को बुलवाया। बीरबलसिंह उसका नाम था। देखा, वह मेरी एक भी सुनने को तैयार नहीं था। रुपया लिए बिना एक भी मवेशी को छोड़ना उसे कबूल न था। आदमी वह अच्छा नहीं लगा।

भानुमती आकर रोने लगी। वह अपने परदादे को बेहद प्यार करती थी। उनके रहते मानो सब पहाड़ की ओट में थे। उन्होंने आँखें बन्द कीं और ये सारी परेशानियाँ आ पड़ीं। कहते-कहते भानुमती की आँखें

बरसती गई—थमने का नाम नहीं। बोली—"मेरे साथ चलिए, मैं पहाड़ पर से आपको उनकी कब्र दिखा लाऊँ। मेरा कहीं जी नहीं लग रहा है बाबूजी, यही इच्छा होती है कि उनकी कब्र के पास बैठी रहूँ!"

मैंने कहा—"ठहर जाओ, पहले महाजन का कोई किनारा कर देखूँ, फिर जाऊँगा। मगर महाजन से कोई पटरी नहीं बैठी। खूँखार राजपूत, आरजू-मिन्नत सुनने वाला न था; मगर इतनी खातिर की कि तब तक के लिए मवेशियों को यहीं रहने देने को वह राजी हो गया। मगर बूँद भर भी दूध लेने-देने को तैयार नहीं हुआ। दो महीने के बाद उसका कर्ज चुकाने की गुंजाइश किसे हो सकी थी; मगर यह बात पीछे बताऊँगा।

मैंने देखा, भानुमती द्वार के सामने अकेली खड़ी है। बोली—"तीसरा पहर हो गया, इसके बाद वहाँ जाते न बनेगा—चलिए कब्र दिखा लाऊँ।"

वह अकेली मेरे साथ चल पड़ी, इससे मैंने समझा कि भोली पहाड़ी बालिका मुझे अपने परिवार का परम मित्र और नितान्त अपना समझने लगी है। उसके इस सरल व्यवहार और बन्धुत्व ने मुझे मोह लिया।

उस बड़ी उपत्यका पर तीसरे पहर की छाया उतरी थी। भानुमती जल्दी-जल्दी चल रही थी, भीता हरिनी-जैसी। मैंने कहा—"जरा धीरे चलो। अच्छा, यहाँ हर्रसिंगार के फूल कहाँ हैं?"

हरसिंगार का यहाँ नाम ही कुछ और होगा। मैं उसे ठीक-ठीक समझा न सका। पहाड़ पर चढ़ते हुए बड़ी दूर तक दीख रहा था। धनझरी की नीली पहाड़ियों ने भानुमती के देश को, राजहीन राजा दोबरू पन्ना के देश को मेखला की तरह घेर रक्खा था—दूर से हवा के झोंके आ रहे थे।

भानुमती ने करीब आकर पूछा—"चढ़ने में तकलीफ हो रही है बाबूजी?"

—"नहीं। जरा धीरे-धीरे चलो। तकलीफ क्या होगी?"

कुछ दूर और चलकर बोली—"बाबा चल बसे, दुनिया में मेरा और कोई नहीं रह गया बाबूजी—"

वह बच्चे-सी रुआसी होकर इतना बोली।

मुझे उसकी बात पर हँसी आई। बूढ़े परदादा ही तो मरे हैं उसके, और माँ नहीं है, बाकी पिता, भाई, दादी, दादा——सभी तो जीवित हैं। इतना बड़ा हँसता हुआ संसार। हजार हो, आखिर भानुमती एक स्त्री है, पुरुष की थोड़ी-सी सहानुभूति पाने और आदर छीनने की स्त्री-सुलभ प्रवृत्ति उसके लिए स्वाभाविक है।

वह बोली——"आप कभी-कभी आया करेंगे बाबूजी, हम लोगों की खोज-खबर लिया करेंगे ; कहिए, आप भूल तो नहीं जायँगे ?"

सभी जगह और सभी अवस्था में स्त्रियाँ एक ही-सी होती हैं। यह वन-बालिका भी एक ही तत्त्व की बनी है।

मैंने कहा——"भूलने क्यों लगा——बीच-बीच में जरूर ही आया करूँगा।"

उसने न जाने कैसे अभिमान के स्वर में होंठ फुला कर कहा—— "हुँ, बंगाल चले जाने पर, कलकत्ता पहुँच कर इस जंगली देश की बात थोड़े ही याद रहेगी——" जरा रुककर बोली——"हम लोगों की बात—— मेरी बात....."

मैंने नेह-भरे स्वर में कहा——"क्यों, याद नहीं थी ? आइना तुम्हें नहीं मिला था ? तुम्हीं सोचो, याद थी या नहीं——"

खिला हुआ मुखड़ा लिए वह बोल उठी——"ओहहो, सचमुच ही आईना बड़ा सुन्दर है, मैं कहना भूल ही गई थी——"

कब्रगाह पर जब पहुँचा, तब दिन ढल चुका था। दूर की पहाड़ की आड़ में लाल होकर सूरज डूबने लगा था——कब दुबला चाँद उगकर आसन्न अंधकार को दूर भगाएगा, वह स्थान मानो इसी के इन्तजार में चुप खड़ा था।

कब्र पर चढ़ाने के लिए मैंने भानुमती को कुछ फूल लाने को कहा। कब्र पर फूल बिखेरना इधर के लोग नहीं जानते। मेरे उत्साह से वह पास ही कहीं से जंगली हरसिंगार के फूल चुन लाई। हम दोनों ने दोबरू पन्ना की कब्र पर फूल बिखेर दिए।

ठीक इसी समय बरगद की डाल से सिल्ली का झुंड डैने फड़फड़ाता और बोलता हुआ उड़ गया, मानो भानुमती और राजा दोबरू पन्ना के सभी उपेक्षित पुरखे मेरे इस काम से संतुष्ट होकर एक स्वर से कह उठे हों—'साधु! साधु!' क्योंकि अनार्य राज-समाधि के प्रति आर्य-संतति द्वारा यही पहला सम्मान-निवेदन था!

पंद्रहवाँ परिच्छेद

[एक]

एक बार मुझे महाजन धौताल साहू के आगे हाथ पसारना पड़ा। उस बार वसूली कम हुई और सरकारी कर के दस हजार रुपए चुकाने थे। बनवारीलाल पटवारी ने राय दी कि बाकी रुपए धौताल से कर्ज ले लीजिए। वह आपको कर्ज देने से हर्गिज इन्कार नहीं करेगा। वह मेरा रैयत नहीं था, सरकारी खासमहाल का बाशिंदा था। उस पर अपना कोई जोर नहीं। ऐसे में मेरी एक बात पर वह तीन हजार रुपए मुझे एक मुश्त कर्ज दे देगा, इस पर मुझे सन्देह था।

मगर ग़रज़ जैसी बुरी चीज कोई नहीं। एक दिन बनवारीलाल को साथ लेकर चुपचाप उसके यहाँ गया। चुपचाप इसलिए कि कचहरी में किसी पर मैं यह जाहिर नहीं होने देना चाहता था कि कर्ज के रुपयों से कर चुकाना पड़ रहा है।

एक सँकरे मुहल्ले में उसका घर था। एक बड़ा-सा घर। सामने ही कुछ खटिएँ बिछी थीं। वह आँगन के एक ओर तम्बाखू के पौधों में निड़ानी लगा रहा था। हमें देखकर जल्दी-जल्दी आया—कहाँ बैठाए, क्या करे, कुछ समझ नहीं पा रहा था। जरा देर के लिए जैसे किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो पड़ा।

—"अरे, इस नाचीज के घर हुजूर के कदम पड़े ! आइए, बैठिए हुजूर ! आइए तहसीलदार साहब।"

उसके घर कोई नौकर नहीं दिखाई पड़ा। हट्टा-कट्टा-सा उसका एक पोता था, हम लोगों के लिए वही दौड़-धूप करने लगा। घर-द्वार, सरो-सामान देखकर कह कौन सकता है कि यह किसी लखपती का घर है।

उसके पोते रमलखिया ने मेरे घोड़े की जीन आदि खोल कर उसे बाँधा। पाँव धोने के लिए पानी ले आया। ताड़ के एक पंखे से धौताल साहू खुद हम पर हवा करने लगा। साहूजी की एक पोती तम्बाखू भरने गई। मैं तो मुसीबत में पड़ गया। बोला—"इतने तकल्लुफ करने की जरूरत नहीं है साहूजी, मेरे पास चुरुट है, तम्बाकू लाने की दरकार नहीं।

चाहे वह आदर कैसा ही कर रहा हो ; पर असली बात कहने में हिचक हो रही थी। कैसे कहूँ ?

धौताल बोला—"इधर क्या चिड़िया के शिकार को आए थे ?"

—"नहीं-नहीं, तुम्हारे ही पास आया था।"

—"मेरे पास ? ऐसी क्या जरूरत आ पड़ी हुजूर ?"

—"सरकारी कर चुकाना है, रुपए कम हैं। साढ़े तीन हजार रुपयों की मुझे सख्त जरूरत है, इसीलिए आया हूँ।"

कहना ही था, इसलिए किसी तरह कह गया।

उसने जरा भी आगा-पीछा किए बिना कहा—"इसके लिए इतनी फिक्र क्या हुजूर ? हो जायगा इन्तजाम, मगर इसके लिए खुद इतनी तकलीफ उठाकर आने की क्या जरूरत थी ? एक पुर्जा लिखकर तहसीलदार साहब की मार्फत भेज देने से ही हुक्म की तामील हो जाती।"

सोचा, अब असली बात कह देनी चाहिए। रुपए मुझे अपनी जिम्मेदारी पर लेने हैं, क्योंकि जमीदार के नाम पर रुपए लेने का आम-मुख्तार नामा मेरे पास नहीं है। इस पर भी धौताल रुपया देने को तैयार होगा ? परदेसी ठहरा। मुझे जायदाद ही क्या है यहाँ कि जिस पर मुझे रुपये दिए जायँ। संकोच से मैंने यह बात बताई—"साहूजी, लिखा-पढ़ी मेरे ही नाम से होगी, जमीदार के नाम से नहीं।"

उसने ऐसे स्वर में कहा, मानो उसे अचरज हुआ हो—लिखा-पढ़ी किस बात की ? थोड़े-से रुपयों की जरूरत पड़ी है, उसके लिए आप मेरे घर आए हैं। आने की तो जरूरत ही नहीं थी, आदेश भेज देना ही

काफी था, और जब खुद आ ही गए, तो लिखा-पढ़ी क्या ? आप रुपए ले जाइए । वसूली होने पर मुझे भेज दीजिएगा ।"

मैंने कहा—"मैं हैंड नोट लिखे देता हूँ, टिकट साथ ले आया हूँ, या अपनी पक्की बही में दस्तखत करा लो ।"

उसने हाथ जोड़ कर कहा—"माफ करें हुजूर, यह जिक्र ही न करें । इससे मुझे तकलीफ होगी । लिखा-पढ़ी की कोई जरूरत ही नहीं, रुपए आप ले जाइए ।"

मैंने बहुतेरा कहा, उसने एक न सुनी । नोट का बंडल अन्दर से उसने ला दिया । बोला—"लेकिन एक अर्ज है हुजूर !"

—"वह क्या ?"

—"इस समय आपको जाने नहीं दूँगा । सामान लाए देता हूँ । पका-चुका कर खालें, तब जाएँ ।"

मैंने फिर इन्कार किया ; पर एक न सुनी गई । पटवारी से पूछा—"बनवारीलाल, पका लोगे ? मुझ से तो नहीं होगा ।"

बनवारी बोला—"न पकाने से तो काम न चलेगा, आपको पकाना पड़ेगा । मेरे हाथ की रसोई खाने से आपकी बदनामी होगी । मैं मदद में रहूँगा ।"

धौताल का पोता ढेरों सामान ले आया । दादा-पोता मिलकर मुझे रसोई के बारे में तरह-तरह के उपदेश देने लगे ।

धौताल के न रहने पर उसके पोते ने कहा—"ये हमारे दादाजी जो हैं हुजूर, सब डुबो देंगे । बिना सूद, बिना बंधकी और बिना लिखा-पढ़ी के इतने लोगों को इन्होंने रुपए दिए हैं कि अब अदा होना मुश्किल है । सब पर एतबार कर लेते हैं, जो कि बहुतों ने अँगूठा भी दिखा दिया है । घर जाकर रुपए कर्ज दे आते हैं ।"

गाँव का एक और भी आदमी बैठा था । उसने कहा—"आपद-विपद में हाथ फैलाने पर आज तक किसी को साहूजी के यहाँ से खाली हाथ लौटते नहीं देखा । पुराने युग के आदमी हैं । इतने बड़े महाजन

हैं, लेकिन कभी किसी पर नालिश नहीं की आज तक। अदालत जाते हुए डर लगता है। बड़े डरपोक और सज्जन हैं।"

रुपए लौटाने में मुझे छै महीने लग गए। इन छै महीनों के अन्दर धौताल हमारे महाल की सीमा से भी इसलिए नहीं गुजरा कि कहीं मैं यह न सोच बैठूँ, वह रुपयों के तकाजे मे इधर आया है। सज्जन और किसे कहते हैं।

[दो]

साल-भर हो गया, राखाल बाबू के यहाँ नहीं जा पाया। कटनी के मेले के बाद एक रोज उनके यहाँ गया। मुझे देखकर उनकी स्त्री बड़ी खुश हुई। बोलीं—"अब आप आते क्यों नहीं भैया, खोज-पूछ भी नहीं करते—बन्धु-बांधवहीन जगह में बंगाली के दर्शन होना कठिन ही है—तिस पर अपनी जो हालत है—"

और वह चुपचाप रोने लगीं।

मैंने एक बार चारों तरफ निगाह दौड़ाई। घर-द्वार की हालत तो पहले ही जैसी गई-बीती थी ; पर अब वैसी बेतरतीब न थी। बड़ा लड़का वहीं मिस्त्री का काम करता था, मामूली-सा कुछ मिल जाता, इसी से किसी तरह गिरस्ती चलती।

मैंने दीदी से कहा—"छोटे लड़के को मामा के पास काशी भेज दें। कुछ लिख-पढ़ लेगा।"

उन्होंने कहा—"अपना मामा है कहाँ ? ऐसी मुसीबत पड़ी, दो-तीन खत लिखे, महज दस रुपए भेजकर जो चुप लगा बैठे हैं, सो डेढ़ साल हो गए, कोई खबर ही नहीं ली। उससे तो ये मकई काटें, भैंस चराएँ, यही अच्छा है, ऐसे मामा के दरवाजे पर जाना अच्छा नहीं।"

मुझे तुरत लौटना था ; मगर दीदी ने आने नहीं दिया। वे मुझे कुछ बना कर खिलाना चाहती थीं—बिना खिलाए नहीं जाने देने की। लाचारी से इंतजार करना पड़ा। उन्होंने मकई के सत्तू में घी और चीनी

मिलाकर एक तरह का लड्डू बनाया और कुछ हलुआ तैयार करके मुझे खाने को दिया। गरीब के घर में जितना आदर-सत्कार संभव है, उसमें दीदी ने कोई कोर-कसर नहीं रक्खी।

बोलीं—"भादो की मकई मैंने आपके लिए सँजो कर रक्खी थी, क्योंकि आप भुट्टा खाना पसन्द करते हैं।"

मैंने पूछा—"मकई कहाँ मिली ? खरीदी थी ?"

—नहीं, खेत से चुनकर लाई थी। फसल कट जाने पर किसान जो टूटे-फूटे पेड़ छोड़ जाते हैं, गाँव की दूसरी औरतों के साथ उन्हें मैं भी बीनने जाती हूँ। उस समय रोज एक-दो टोकरी चुन कर ले आती थी।"

अवाक् होकर मैंने पूछा—"आप खेत में मकई चुनने जाती थीं ?"

—'हाँ, रात को जाया करती थी, किसी को पता भी नहीं होता। गाँव की कितनी ही औरतें जाती हैं। भादों के महीने में दस टोकरी से कम तो नहीं लाई हूँगी भुट्टा।"

बड़ी तकलीफ हुई। गरीब गंगोतिनें इधर यह काम किया करती हैं। राजपूत-छत्री औरतें गरीब ही क्यों न हों, खेतों में फसल चुनने नहीं जातीं। अपनी तरफ की किसी औरत को ऐसा करते सुनने से जी में चोट लग आती। इन अपढ़ गंगोतों के गाँव में रहकर दीदी ने ऐसा छोटा काम करना भी सीख लिया—इसमें शक नहीं कि उनकी गरीबी भी इसका एक प्रधान कारण थी। खोल कर कुछ कह नहीं सका, शायद उन्हें दुःख हो। यह गरीब बंगाली परिवार बंगाल की शिक्षा-संस्कृति का कुछ भी न पा सका, कुछ वर्षों में यह गंगोतों-जैसा हो जायगा—क्या भाषा में, क्या चाल-चलन में और क्या हाव-भाव में। उस राह पर अब भी वह बहुत दूर बढ़ चुका है।

रेलवे स्टेशन से बहुत दूर घनघोर गाँव में मैंने और भी ऐसे एकाध बंगाली परिवार देखे हैं। ऐसे परिवारों की लड़कियों का ब्याह करना कितना दुष्कर काम है, कहा नहीं जा सकता। एक और भी ऐसे बंगाली ब्राह्मण परिवार को मैं जानता था—वे लोग दक्खिनी बिहार के एक गँवई

गाँव में रहते थे। बड़ी ही गई-बीती हालत थी। घर में तीन-तीन लड़कियाँ, बड़ी की उम्र इक्कीस-बाईस, मझली की करीब बीस और छोटी की भी सत्रह। इनमें से एक की भी शादी नहीं हो सकी थी, होने का कोई उपाय भी न था---वैसे इलाके में जात-गोत के पात्र का प्रबन्ध करना बड़ा ही कठिन काम था।

बाईस साल वाली लड़की देखने में सुन्दर थी---बंगला का एक अक्षर भी उसे नहीं आता था---आकृति और प्रकृति में ठेठ देहाती बिहारी लड़की---खेत से उड़द की गठरी सिर पर उठा लाती, गेहूँ के भूसे का बोझा ढोया करती।

नाम भी था ध्रुवा---पूरा बिहारी नाम।

उसके पिता यहाँ होमियोपैथी डाक्टरी करने आए थे। फिर जगह-जमीन लेकर खेती-बारी भी करने लगे। डाक्टर साहब चल बसे। बड़ा लड़का खेती-गिरस्ती करने लगा। वयस्का बहनों की शादी की उसने कोशिश तो की; पर कर नहीं पाया। दहेज देने की उसमें हिम्मत नहीं थी।

ध्रुवा बिलकुल कपाल कुंडला थी। मुझे भैया कह कर पुकारती। बहुत ही ताकतवर, आटा और सत्तू पीसने, बोझा ढोने और गाय-भैंस चराने में कुशल---गिरस्ती के काम-धंधों में चतुर। उसके बड़े भाई ने यहाँ तक तै किया था कि अगर वैसा कोई पात्र मिल जाय, तो वे उसी एक को तीनों लड़कियाँ ब्याह देंगे और शायद उन बहनों को भी इस पर एतराज न था।

मैंने मँझली लड़की जवा से पूछा था---"बंगाल देखने की इच्छा होती है?"

उसने जवाब दिया था---"नहीं भैया, वहाँ केरो पानी बड्डी नरम छै---"

सुना था, ध्रुवा को शादी करने की बड़ी इच्छा थी। शायद उसने स्वयं ही किसी से कहा था कि उससे जो ब्याह करेगा, उसे कभी गाय दूहने

वाले और सत्तू पीसने वाली को नहीं बुलाना पड़ेगा—वह अकेली ही पाँच सेर सत्तू पीस सकती है ।

हाय री अभागिन बंगालिन कुमारी ! इतने वर्षों के बाद निश्चय ही वह आज भी गंगोतिन की तरह अपने भैया की गिरस्ती सँवार रही होगी, जौ कूटती होगी और खेत से उड़द का बोझा सिर पर ढोकर लाती होगी—बिना दहेज लिए उस देहाती और उतनी बड़ी लड़की को मंगल शंख और उलूध्वनि* के बीच पालकी पर ब्याह करके अपने घर ले भी कौन गया होगा ।

शान्त मुक्त प्रांतर में जब साँझ उतरती है, तब दूर पहाड़ पर जो पतली पगडंडी जंगल की माँग-सी दिखाई पड़ती है, शायद हो कि आज भी व्यर्थ यौवना गरीब ध्रुवा उसी राह से इतने दिनों के बाद भी सिर पर लकड़ी का बोझा लिए उसी तरह उतरती है—यह तस्वीर मैंने कितनी ही बार अपनी कल्पना की आँखों से देखी है—और ठीक इसी तरह कल्पना में देखा है अपनी दीदी, राखाल बाबू की स्त्री को—शायद आज भी वह बूढ़ी गंगोतिनों के समान रात को सबकी आँख बचा कर खेत-खलिहानों में टोकरी लिए भुट्टा बटोरती फिर रही हैं ।

[तीन]

भानुमती के यहाँ से लौटने के बाद उस बार सावन के बीचों-बीच जोरों की बारिश शुरू हुई । रात-दिन बारिश और बारिश, घने कजरारे मेघों से आसमान ढँक गया । नाढ़ा और फुलकिया बैहार की दिगंत रेखा वर्षा से धुँधली हो आई । महालिखा रूप का पहाड़ कहीं खो गया—मोहनपुरा जंगल का ऊपरी भाग कभी धुँधला-सा दीखता, कभी नहीं । सुना, पूरब में कोसी और दक्खिन में कारो नदी में बाढ़ आ गई है ।

मीलों दूर तक खड़े कास और झाऊ के जंगल वर्षा के पानी से भीग रहे थे ; दफ्तर के बरामदे पर कुर्सी डाले बैठा-बैठा मैं देखा करता,

* बंगाल में ब्याह के मौके पर यह शुभ काम अनिवार्य है ।

सामने कसाल के जंगल में झाऊ की डाल पर बैठी संगीविहीन एक पंड़की भींगा करती है, घंटों एक-सी बैठी, कभी-कभी डैने झाड़ कर, फैला कर पानी को रोकने की कोशिश करती, कभी यों ही बैठी रहती।

ऐसे दिनों में कमरे में बैठ कर समय काटना मेरे लिए असंभव हो उठता। मैं घोड़ा कसवा लेता और बाहर निकल पड़ता। उस मुक्ति के क्या कहने, जीवन का कैसा उद्दाम आनन्द! चारों तरफ हरियाली का कैसा लहराता समुद्र---वर्षा के आगमन से कसाल के जंगल में नवीन और सतेज कोपलें उभर आई---जहाँ तक भी निगाह जाती, इधर नाढ़ा बैहार और उधर मोहनपुरा जंगल की अस्पष्ट सीमा-रेखा तक हरियाली का वैसा ही अपार सागर---काजल काले मेघों की छाया में ओदी हवा के झोंके से मरकत श्याम तृणभूमि पर लहरों की लीला और इस अथाह-अकूल सागर में मैं जैसे एक अकेला नाविक---जाने किस अजाने बन्दरगाह को निकला हूँ।

मेघ की श्यामल छाया वाली उस खुली तृणभूमि में मैं घोड़े को भगाता हुआ मीलों जाता। कभी-कभी सरस्वती-कुंड के जंगल में भी गया। प्रकृति की वह अनोखी सौन्दर्य-भूमि युगलप्रसाद के लगाए तरह-तरह के फूल और लताओं से और भी सुन्दर हो उठी है। यह मैं बिना किसी हिचक के कह सकता हूँ कि सरस्वती-कुंड और उसके किनारे के जंगल-जैसी सौन्दर्य-भूमि सारे भारतवर्ष में अधिक नहीं है। बरसात में कुंड के किनारे-किनारे रेड कैस्पियन का मेला---वाटर क्रोफुट के बड़े-बड़े नीलाभ श्वेत फूलों से भर गया है तमाम! अभी उस दिन भी युगलप्रसाद कोई वन-बेल लाकर यहाँ लगा गया है। आजमाबाद कचहरी में वह मुहर्रिर का काम जरूर करता है; पर उसका मन इस कुंड के लता-कुंज और फूलों पर ही लगा रहता है।

कुंड से निकलते ही फिर जंगल, फिर हरा-भरा मैदान---वन के ऊपर घने नीले बादलों का जमघट---पानी का सारा बोझ उतार कर

रिक्त होने के पहले ही दौड़ते आए नए मेघ-पुंज—एक तरफ के आकाश में एक अजीब तरह का नीलापन—उसमें डूबती किरणों से रंग कर मेघ का एक टुकड़ा वहिर्विश्व के दिगंत में जाने किस अजाने पर्वत-शिखर-सा प्रतीयमान ।

साँझ हो आती । ओर-छोरहीन पुलकिया बैहार में सियार बोल उठते । एक तो मेघ का अन्धकार, ऊपर से साँझ का घिरता आता अँधेरा—मैं घोड़े को कचहरी की ओर मोड़ देता ।

कितनी ही बार इस वर्षा थमी मेघ जमी साँझ के इस मुक्त प्रांतर की सीमा-हीनता में मैंने जाने किस देवता के तो स्वप्न देखे—ये बादल, यह संध्या, ये जंगल, चीखते हुए सियारों की टोली, सरस्वती-कुंड के फूल, मंची, राजू पांडे, भानुमती, महालिखा रूप का पहाड़, वह गरीब गोंड़-परिवार, आकाश, व्योम—ये सभी एक दिन उस देवता की विराट् कल्पना में बीज रूप में रहे थे, उन्हीं के आशीर्वाद से आज की इस नव-नील नीरद माला के समान सारे विश्व को अमृत की धारा से अभिसिञ्चित करते हैं—वर्षा की यह साँझ उन्हीं का प्रकाश है, यह उन्मुक्त जीवन का आनन्द उन्हीं की वाणी है, जो वाणी कि मनुष्य को सचेतन किए देती है । उस देवता से डरने को कोई बात नहीं—इस पुलकिया बैहार से भी, उस मेघों से भरे विशाल आकाश से भी असीम, अनन्त है उनका प्रेम और आशीर्वाद । जो जितना ही हीन, जितना ही तुच्छ है, उस विराट् देवता का अदेखा प्रसाद और दया उस पर उतनी ही ज्यादा होती है ।

जिस देवता का स्वप्न मेरे मन में जगता था, वे प्रवीण विचारक, न्याय और दंड के कर्त्ता, बिज्ञ और बहुदर्शीय अथवा अव्यय, अक्षय जैसे कठिन दार्शनिकता के आवरण वाले ही न थे; बल्कि नाढ़ा बैहार या आजमाबाद के खुले मैदान की गोधूलि-वेला में रक्त मेघपुंज, चाँदनी-स्नात सूने प्रांतर को निहार कर जी में होता कि वही प्रेम और रोमांस हैं, कविता और सौन्दर्य हैं, शिल्प और भावुकता हैं—वे प्राणों से प्यार करते हैं, सुकुमार कलावृत्ति से सृष्टि करते हैं, प्रियजनों की प्रीति के लिए सब प्रकार

से अपने को निःशेष कर देते हैं—फिर विराट् वैज्ञानिक की क्षमता और दृष्टि से ग्रह-नक्षत्र-नीहारिका की सृष्टि करते हैं ।

[चार]

सावन के ऐसे ही एक वर्षामुखर दिन में इसलामपुर कचहरी में धतुरिया हाजिर हो गया ।

बहुत दिनों के बाद उसे देख कर मुझे खुशी हुई ।

—"क्या हाल हैं धतुरिया तुम्हारे ? मजे में तो है ?"

जिस छोटी-सी पोटली में उसकी सारी सांसारिक संपत्ति थी, उस पोटली को उतार कर उसने मुझे नमस्कार किया और कहा—"जी बाबूजी, नाच दिखाने आया हूँ । बड़े कष्ट में हूँ इन दिनों—महीना बीत गया, कहीं नाच का डौल नहीं बैठा । सोचा, आपकी सेवा में पहुँचूँ, यहाँ निराश न होना पड़ेगा । इधर और भी अच्छे-अच्छे नाच सीखे हैं।"

धतुरिया बड़ा दुबला हो गया था। तकलीफ हुई देखकर।

—"कुछ खायगा धतुरिया ?"

लजाकर गर्दन हिलाते हुए उसने 'हाँ' की।

मैंने महाराज को बुलाकर उसे कुछ खाना देने को कहा। भात तो उस समय नहीं था, उसने उसे दूध और चूड़ा लाकर दिया। वह जिस तरह खाने लगा, देख कर लगा, कम-से-कम दो दिन से उसे भोजन भी नहीं नसीब हुआ है ।

साँझ से पहले धतुरिया ने अपना नाच दिखाया। देखने के लिए कचहरी के प्रांगण में बहुत-से लोग जुट गए। नाच में उसने पहले से ज्यादा तरक्की की थी। उसमें सच्चे कलाकार का दर्द और साधना थी। मैंने अपनी तरफ से कुछ दिया, कुछ दूसरे लोगों के चंदे से मिला। मगर इतने से उसका कितने दिन निर्वाह चलेगा ?

दूसरे दिन सवेरे वह मुझ से जाने को इजाजत माँगने आया।

—"बाबूजी, आप कलकत्ता कब जायँगे ?"

—"क्यों, क्या बात है ?"

—"मुझे ले चलेंगे कलकत्ता ? मैंने उस बार जो कहा था ?"

—"अच्छा, तू इस वक्त कहाँ जायगा ? खा-पी तो ले, बाद में कहीं जाना।"

—"जी, मुझे जाने दें। झल्लूटोला में एक भूमिहार ब्राह्मण के यहाँ शादी है। शायद नाच का ठिकाना हो जाय। इसी कोशिश में जा रहा हूँ। यहाँ से आठ कोस है। अभी से चलूँगा, तब कहीं शाम—शाम तक पहुँच पाऊँगा।"

धतुरिया को जाने देने की इजाजत देने को जी नहीं चाह रहा था। मैंने पूछा—"अगर तुझे थोड़ी-सी जमीन दूँ, तो रहेगा यहाँ ? खेती-बारी करना—रह जा।"

देखा, धतुरिया मटुकनाथ पंडित को भा गया है। उसकी इच्छा, उसे अपनी पाठशाला में दाखिल करने को थी। बोला—"आप इससे कहें हुजूर, दो साल में मुग्धबोध खत्म करा दूँगा। यह रह जाय यहीं।"

जमीन की चर्चा पर धतुरिया बोला—"बाबूजी, आप मेरे बड़े भाई के समान हैं, मुझ पर आपकी बड़ी कृपा है ; लेकिन यह खेती भला मुझसे हो सकती है ? मेरा जरा भी जी नहीं लगेगा। नाच में मुझे खुशी होती है, दूसरा काम अच्छा नहीं लगता।"

—"समय-समय पर नाचा भी करना। आखिर जमीन के साथ तुझे जंजीर से थोड़े ही बाँध दिया जायगा ?"

धतुरिया खुश हो गया। बोला—"आपकी आज्ञा जैसी होगी, करूँगा। आप मुझे बड़े भले लगते हैं। झल्लूटोला से लौटूँ तो यहीं आऊँगा।"

मटुकनाथ ने कहा—"उसी समय तुम्हें पाठशाला में भी भर्त्ती कर लूँगा। न हो, तो रात को आकर पढ़ा करना। मूरख रहना भी कोई काम है, कुछ व्याकरण, कुछ काव्य का ज्ञान जरूरी है।"

उसके बाद धतुरिया ने नृत्य-कला पर जाने क्या-क्या कहा, मैं ज्यादा समझ न सका। पूर्णियाँ के 'हो-हो' नाच की शैली से धरमपुर के उसी

नाच का कहाँ फर्क पड़ता है, उसने हाथ की कोई नई मुद्रा निकाली है.....आदि-आदि।

—"बाबूजी, बलिया जिले में छठ-त्योहार के समय आपने औरतों का नाच देखा है? उस नाच से छोकड़ा नाच का एक बात में बड़ा सादृश्य है। आपके यहाँ कैसा नाच होता है?"

कटनी के मेले में पिछले साल मैंने जो माखनचोर नटुआ का नाच देखा था, उसके बारे में बताया। हँसकर धतुरिया ने कहा—"वह बेकार है बाबूजी, मुंगेर का गँवई नाच है—गंगोतों को फुसलाने का नाच। उसमें खास बात नहीं—सीधा है, बिलकुल आसान।"

मैंने कहा—"तू जानता है? दिखा तो नाच कर।"

धतुरिया अपने फन में पक्का था। सचमुच ही वह 'माखनचोर नटुआ' का नाच बढ़िया नाच गया—वैसा ही लड़कों-सा रोना, चुराए मक्खन को बाँटने की वही अदा—बिलकुल वही। इसे वह फब भी गया खूब, क्योंकि यह बालक था।"

धतुरिया चला गया। जाते समय बोला—"मुझ पर जब आपने इतनी दया ही दिखाई है, तो एक बार कलकत्ता ही क्यों नहीं ले चलते बाबूजी? वहाँ नाच की कद्र है।"

धतुरिया से यही मेरी आखिरी मुलाकात थी।

दो महीने बाद कटोरिया स्टेशन के पास रेलवे लाइन पर एक बालक की लाश पाई गई—सबने पहचाना, वह लाश नटुआ बालक धतुरिया की थी। यह आत्महत्या थी या दुर्घटना, नहीं कह सकता। अगर आत्महत्या थी, तो किस दुःख से उसने ऐसा किया?

दो साल इस इलाके में रहते हुए जितने लोगों के संपर्क में मैं आया, उन सब में धतुरिया की प्रकृति बिलकुल अलग थी। उसमें जो एक निर्लोभ, सदा चंचल, सदानन्द, निर्विषयिक सच्चे कलाकार के मन का परिचय पाया था, वह इस जंगली इलाके ही में क्यों, सभ्य इलाके के मनुष्यों में भी सुलभ नहीं!

[पाँच]

और भी तीन साल निकल गए।

नाढ़ा बैहार और लवटोलिया का सारा जंगल-महाल बन्दोबस्त के लिए दे दिया गया। पहले-सा जंगल अब कहीं नही रहा। वर्षों में प्रकृति ने एकांत निर्जन में जिन कुंजों की रचना की थी, कितने लता-वितान, कितनी स्वप्न-भूमि संजोई थी---मजदूरों के कठोर हाथों से सब गायब हो गए। जो पचास साल में बन कर तैयार हुआ था---एक दिन में वह नष्ट हो गया। अब कहीं ऐसा दूर विस्तृत प्रांतर नहीं रह गया, जहाँ चाँदनी रात में माया परियाँ उतरें, दयालु टांड़बारो हाथ उठाकर जंगली भैंसों को मरने से बचाए !

नाढ़ा बैहार का तो नाम ही उठ गया, लवटोलिया अब महज एक बस्ती रह गई। जिधर आँख जाती है, फूँस के छप्पर हैं---कसाल की छौनीवाले घर हैं---गंदे, बदसूरत। चिचपिच घनी आबादी---टोले-टोले का विभाजन---खाली जगहों में खेत। जरा-से खेत के चारों ओर काँटों का घेरा। धरती के मुक्तरूप को काट-काट कर टुकड़ों में बाँट कर लोगों ने बर्बाद कर दिया।

एक ही जगह बच रही थी---सरस्वती-कुंड की वन-भूमि।

नौकरी के रहते हुए, मालिक के स्वार्थ के नाते सारी जमीनों को रैयतों में बाँट जरूर दिया, मगर युगलप्रसाद के हाथों से सँवारी सरस्वती-कुंड की उस वन-भूमि को व्यवस्थित नहीं कर सका। बार-बार जाने कितने लोग कुंड के किनारे की जमीन के लिए आए, ज्यादा सलामी देने को भी तैयार हुए, क्योंकि एक तो वह जमीन ही काफी उपजाऊ थी, दूसरे पास में पानी रहने से मकई आदि ज्यादा होने की गुंजाइश थी ; मगर मैं किसी भी तरह उस जमीन की नाप-जोख करने को राजी न हुआ।

मगर उसे और कितने दिनों तक बचा पाऊँगा। सदर के तकाजों के मारे नाक में दम। क्या वजह है कि मैं कुंड के पास की जमीन में

देर लगा रहा हूँ ? यह-वह कारण बताकर अब तक तो उसे रक्खा ; पर अब उपाय नहीं रह गया था। मनुष्य के लोभ की हद नहीं, मैं जानता हूँ कि दो भुट्टों और कट्ठा-पर चीना की फसल के लिए वैसी स्वप्न-भूमि को नष्ट करते उन्हें हिचक नहीं होगी। खासकर इधर के लोग तो पेड़-पौधों की सुन्दरता को जानते ही नहीं, मनोरम भूमि की महिमा को देखने की आँखें ही नहीं हैं—वे तो खा-पीकर पशु की तरह जीना ही जानते हैं। और कोई देश होता, तो ऐसे स्थानों को सौन्दर्य-पिपासु प्रकृति-रसिक लोगों के लिए बचा कर रखता—जैसा कि कैलिफोर्निया में योसेमाइ नैशनल पार्क रक्खा गया है। दक्खिन अफ्रीका में जैसा कि क्रूगर नैशनल पार्क है—बेलजियन कांगो में पार्क नैशनल अल्बर्ट है। हमारे जमींदार वह लैंडस्कोप नहीं समझने के, ये तो जानते हैं सलामी, मालगुजारी, अदा-इरशाल, हस्तबुद।

जन्मांधों के ऐसे देश में, नहीं जानता, युगलप्रसाद ने कैसे जन्म ले लिया—केवल उसी के नाते कुंड की वन-भूमि को मैं आज तक बचाता चला आया हूँ।

मगर और कब तक ?

खैर, अब मेरा भी काम समाप्त हो गया।

तीन साल से बंगाल नहीं गया, वहाँ के लिए कभी-कभी जी बड़ा मचल पड़ता। मानो सारा बंगाल ही मेरा घर हो—तरुणी कल्याणी बहुएँ जहाँ अपने हाथों साँझ की बाती जलाती हैं—यहाँ-जैसा उदास और दरिद्री जंगल नहीं, जिसे नारी के हाथों का स्पर्श ही नसीब नहीं।

क्यों तो मन में आनन्द की बाढ़-सी आ गई, पता नहीं। चाँदनी रात थी—घोड़ा कसा और सरस्वती-कुंड की ओर चल पड़ा। नाढ़ा बैहार और लवटोलिया का जंगल खत्म हो आया था, जंगल की शोभा और निर्जनता जो थोड़ी-सी बच रही थी, वह सरस्वती-कुंड के ही किनारे। मुझे लगा, इस आकस्मिक आनन्द को उपभोग करने की वही एक जगह रही है, वही इसकी उपयुक्त पृष्ठभूमि है।

चाँदनी में कुंड का पानी झलमला रहा था, और केवल झलमला ही नहीं रहा था, बल्कि लहर-लहर पर चाँदनी मानो टूटी पड़ रही थी। निस्तब्ध पेड़ों की भीड़ कुंड के तीन तरफ खड़ी, जंगली लाल बत्तखों की काकली, जंगली हरसिंगार की खुशबू—जेठ का महीना था ; पर हरसिंगार यहाँ बारहों महीने खिलते—

कुछ देर तक कुंड के किनारे घोड़े पर इधर-से-उधर घूमता रहा। पानी में कमल खिले थे, किनारे की ओर वाटरक्रोफुट और युगलप्रसाद के लाए हुए स्पाइडर लिली की झाड़ियाँ फैली थीं। कितने दिनों के बाद अपने घर जा रहा हूँ, इस वनवास से मुक्ति मिलेगी, वहाँ बंगाली स्त्री के हाथों का भोजन मिलेगा, कलकत्ता में एकाध दिन थिएटर-बाइस्कोप देखूँगा, कितने दिनों के बाद बंधु-बांधवों से फिर भेंट होगी !

धीरे-धीरे उस अनुभूत आनन्द की बाढ़ मेरे मन के तटों को प्लावित करती हुई हिलोरें लेने लगी। अद्‌भुत योगायोग—इतने दिनों के बाद देश लौटना, सरस्वती-कुंड का चाँदनी से चमकता हुआ पानी और फूलों की शोभा, जंगली हरसिंगार की चाँदनी से धुली भीनी महक, शांत स्तब्धता, अच्छे घोड़े की कैंटव चाल और हू-हू करती हुई हवा—सब मिलकर एक सपना ! सपना ! आनन्द का गाढ़ा नशा। जैसे मैं यौवनोन्मत्त देवता होऊँ—बाधा-बंधनहीन गति से समय की सीमा को पार कर रहा हूँ—यह सफर ही मानो मेरे अदृष्ट की विजयलिपि, मेरा सौभाग्य, मेरे प्रति किसी प्रसन्न देवता का आशीर्वाद हो !

शायद फिर लौट न सकूँ—वहाँ जाकर मर भी तो सकता हूँ। सरस्वती-कुंड विदा ! अलविदा किनारे की तरु पंक्तियो ! अलविदा चन्द्रालोकित वन ! कोलाहल मुखर कलकत्ता के राजपथ पर खड़े-खड़े तुम लोगों की याद आयगी—जीवन की वीणा की हल्की झंकार की नाईं—याद आयगी। युगलप्रसाद के लाए हुए पेड़ों की बात, किनारे के कमल और स्पाइडर लिली का यह वन, तुम्हा` इस जंगल की घनी डाल पर सूने मध्याह्न में पोंड़की की पुकार, अस्त मेघों की छाया से रँगी

हुई मैना काँटा की डालें—तुम्हारी नीली जलराशि के ऊपर के नील गगन में उड़ती हुई सिल्ली और लाल बत्तखों की पंक्ति—किनारे के कीचड़ पर हिरनौटे के पाँव के निशान—सूनापन, निर्जनता! अलविदा सरस्वती-कुंड!

लौटते वक्त कुंड से एक मील के फासले पर देखा कि जंगल काट कर घर बसाए गए हैं। इसका नाम नया लवटोलिया पड़ा है—जैसा न्यू साउथ वेल्स या न्यू यार्क। जंगल की लकड़ियाँ काट कर (पास में बड़ा जंगल नहीं था, इसलिए लकड़ियाँ सरस्वती-कुंड के ही जंगल से लाई गई होंगी।) नए परिवार ने घास की छौनी डाल कर कुछ छोटे-छोटे झोंपड़े बाँधे हैं। उसी की ओदी जमीन पर नारियल या सरसों के तेल की गर्दन टूटी बोतल, घुड़कता हुआ एक काला-कलूटा बच्चा, सिहोड़े की बारीक डालों से बनी टोकरी, मोटा चाँदी का अनंत पहने यक्ष-जैसी काली हट्टी-कट्टी बहू, एकाध पीतल के लोटे और थालियाँ और कुछ हँसिए, खंती, कुदाली—इन्हीं चीजों से इनकी गिरस्ती चलती है। न केवल न्यू लवटोलिया में, बल्कि इस्माइलपुर और नाढ़ा बैहार में तमाम न जानें कहाँ से उजड़ कर आए हुए लोग बस गए हैं, न तो उनके बाप-दादों का घर है, न उन्हें गाँव या घर की ममता है, न ही है अड़ोसी-पड़ोसी का नाता नेह—आज इस्माइलपुर के जंगल में तो कल मुंगेर के चौर में और परसों जयंती पहाड़ की तराई में—जहाँ देखो, वहीं, तमाम उनके घर।

जानी-पहचानी-सी आवाज मिली। देखा, ऐसे ही एक गृहस्थ के घर बैठ कर राजू पांडेय धर्मतत्त्व की चर्चा कर रहा है। मैं घोड़े से उतरा। सबने खातिर से मुझे बिठाया। राजू से पूछने पर पता चला, वह इलाज के सिलसिले में वहाँ गया था। फीस में चार कट्ठा जौ और आठ पैसे मिले। इसी में उसकी खुशी की सीमा न थी—बैठ कर धर्मतत्त्व की आलोचना में व्यस्त हो गया था।

मुझसे बोला—"बैठिए बाबूजी, एक बात का निबटारा कर दीजिए

आप। अच्छा, धरती का कहीं अन्त है? मैंने तो कहा, जैसे आकाश का अन्त नहीं, वैसे ही धरती का भी अन्त नहीं। ठीक है न बाबूजी?"

मुझे क्या पता था कि टहलने के सिलसिले में ऐसे पेचीदे मसले का सामना भी करना पड़ेगा। यह तो खबर थी कि राजू का दिमाग बराबर ऐसे ही जटिल तत्त्वों में उलझा रहता है और उन समस्याओं का हल करने में वह अपने मौलिक चिंतन का परिचय बराबर दिया करता है, जैसे, इन्द्रधनुष दीमक की टीले से उगता है, नक्षत्र यम के अनुचर हैं, वे यम के आदेश से इस बात की छान-बीन करते हैं कि आदमियों की संख्या किस अनुपात में बढ़ रही है। आदि-आदि।

धरती के बारे में अपनी जो जानकारी थी, मैंने बताई। राजू ने पूछा—"अच्छा, सूरज पूरब में क्यों उगता है और पश्चिम में क्यों डूबता है? सूरज किस सागर से उगता और किस सागर में डूबता है, यह आज तक कोई ठीक-ठीक क्यों नहीं बता सका है? किया है इसका निराकरण? राजू ने संस्कृत पढ़ी थी, निराकरण शब्द के व्यवहार से गंगोते और उनके परिवार के लोग प्रशंसा-भरी मुग्ध दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे और यह भी सोचा कि अंग्रेजीदाँ बंगाली बाबू को वैदजी ने खूब काबू में किया है! गए बेचारे बंगाली बाबू!"

मैंने कहा—"राजू, यह आँखों का भ्रम है। वास्तव में सूरज कहीं जाता नहीं, वह जहाँ-का-तहाँ रहता है।

राजू अवाक् मेरी तरफ ताकने लगा। गंगोते लोग व्यंग से हा-हा करके हँस पड़े। हाय गैलीलियो! इसी नास्तिक विचार विमूढ़ दुनिया में तुम कैद किए गए थे?

अचरज का पहला आवेग कम हो जाने पर राजू ने पूछा—"सूरज नारायण पूरब के उदयगिरि में नहीं उगते और पच्छिम सागर में नहीं डूबते?

मैंने कहा—"नहीं।"

—"अंग्रेजी किताब में ऐसा लिखा है?"

—"हाँ।"

ज्ञान मनुष्य में ओज लाता है। जिस शांत और निरीह राजू पांडेय के मुँह से कभी ऊँची आवाज नहीं सुनी थी, वह जोर से और दर्द के साथ बोला—"झूठ बात है बाबूजी। उदयगिरि की जिस गुफा से सूरज नारायण रोज उगा करते हैं, मुंगेर के एक साधु उसे एक बार देख आए थे। बड़ी दूर चल कर जाना पड़ता है, पूरब की आखिरी सीमा पर वह पहाड़ है, गुफा के दरवाजे पर पत्थर के द्वार हैं, उसी में उनका अभ्र रथ रहता है। हर किसी को उसके दर्शन थोड़े ही नसीब होते हैं? बड़े-बड़े साधु-महंथों को ही यह सौभाग्य मिलता है। वह साधु रथ के अभ्र की एक टुकड़ी साथ ले आया था—चकमक-चकमक, मेरे गुरुभाई कामताप्रसाद ने अपनी आँखों से देखा था।"

कहकर राजू ने एक बार गर्व के साथ गंगोतों की तरफ आँखें घुमाई।

उदयगिरि की गुफा से सूर्योदय का इतना बड़ा और ठोस प्रमाण दे देने के बाद मुझे उस दिन सुन्न घसीट जाना पड़ा।

सोलहवाँ परिच्छेद

[एक]

एक दिन मैंने युगलप्रसाद से कहा—"चलो महालिखारूप के पहाड़ पर कुछ नए पेड़-पौधों की खोज-बीन करें।"

उत्साह के साथ उसने कहा—"उस पहाड़ पर एक खास तरह की लत्तड़ पाई जाती है, जो और कहीं नहीं मिलती। इधर के लोग उसे चीहड़ कहते हैं। चलिए, खोज देखें।"

रास्ता नाढ़ा बैहार की नई बस्तियों के बीच से पड़ता था। इतने ही दिनों में एक-एक सरदार के नाम पर टोलों के नाम रखे जा चुके—झल्लू टोला, रूपदास टोला, बेगम टोला। ओखली में नाज कूटे जाने की धपाधप आवाज, फूँस के छप्परों से उठते हुए धुएँ की कुंडली—रास्ते के किनारे नंग-धड़ंग काले-काले बच्चों की धूल-बालू से खेल-कूद।

बैहार के उत्तर अभी भी घना जंगल रह गया था; लेकिन लवटोलिया में नाम को भी जंगल न था। बैहार के जंगल का तीन-चौथाई हिस्सा खत्म हो चुका था, केवल उत्तरी छोर पर हजार दो-एक बीघे बच रहे थे, जिनका बन्दोबस्त नहीं हो सका था। युगलप्रसाद को इसकी काफी कचोट थी।

उसने कहा—"इन गंगोतों ने सब बर्बाद कर दिया बाबूजी! कम्बख्तों के घर-द्वार हई नहीं, खानाबदोश हैं—आज यहाँ, कल वहाँ। ऐसे सुन्दर जंगल को चाट गए!"

मैं बोला—"उन बेचारों का कुसूर नहीं है युगल! जमींदार अपनी जमीन को यों कैसे छोड़ दे, सरकारी कर चुकाना पड़ता है, गाँठ से कब तक भरा करे? इन्हें तो जमींदार ने बसाया है, नका क्या दोष?"

—"मगर सरस्वती-कुंड न दें हुजूर—बड़े-बड़े कष्ट झेलकर पेड़-पौधे वहाँ लगाए हैं—"

—"मेरे करने से क्या हो सकता है! इतने दिनों तक उसे बचा कर रख सका, यही गनीमत समझो। इधर रैयत, वहाँ की जमीन के लिए रोज जोर मार रही है।"

हमारे साथ दो-तीन प्यादे थे। हमारी बातों का उन्होंने मतलब न समझा और मुझे उत्साह देने के लिए कहा—"आप जरा भी फिक्र न करें हुजूर! रबी की फसल कट जाने दें, वहाँ की एक इंच जमीन भी यों नहीं पड़ी रहेगी।"

महालिखारूप का पहाड़ नौ मील पर था। मेरे दफ्तर वाले कमरे से वह धुँधला-सा दीखा करता। वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते दस बज गए।

कैसी सुनहली धूप और वैसा निखरा नीला आकाश था उस दिन! ऐसा नीला आसमान पहले कभी देखा था—जैसा आकाश कभी-कभी ऐसा नीला होता है! धूप की कैसी अनोखी छटा, नीला आसमान मानो शराब के नशे से मन को मतवाला किए देता हो। धूप कोमल पल्लवों पर पड़ कर और भी निर्मल दीखती। खोंता उजड़ जाने से नाढ़ा वैहार और लवटोलिया की सारी चिड़ियाँ कुछ तो सरस्वती-कुंड वाले वन में, कुछ यहाँ और मोहनपुरा के जंगल में जा पहुँची हैं—उनकी न रुकने वाली चहक!

घना जंगल। ऐसे घने जंगलों में, मन में एक अनोखी शांति और स्वच्छंद स्वाधीनता का भाव भर आता है—कितने पेड़, कितनी शाखाएँ, कैसे-कैसे फूल—यहाँ-वहाँ बिखरी चट्टानें—जी चाहे जहाँ बैठ रहो, सो जाओ, पियार के पेड़ों की घनी छाँह में जीवन के अलस क्षणों को काट दो—यह विशाल अरण्य-भूमि तुम्हारी थकी हुई स्नायुओं को शांति देगी।

हम पहाड़ पर चढ़ने लगे। बड़े-बड़े पेड़ों ने सूरज की रोशनी को अपने ऊपर ले लिया था। छोटे-छोटे झरने कल-कल करते हुए जंगल में

उतर रहे थे——हर्र के पेड़, केलिकंदब के सगवान जैसे बड़े-बड़े पत्तों में हवा रुक रही थी और सनसनाहट हो रही थी।

मैंने कहा——"युगलप्रसाद, चीड़ फल के पेड़ों को ढूँढ़ निकालो।"

चीड़ के पेड़ और बहुत ऊपर जाने पर मिले। कमल-जैसे उसके पत्ते, मोटी काठ की-सी लता आँकी-बाँकी होकर दूसरे पेड़ों पर जा चढ़ी थीं। सेम-जैसे उसके फल, मगर सेम के दोनों छिलके कटकी चप्पल-जैसे बड़े होते हैं——वैसे ही कड़े और चौड़े, भीतर में गोल-गोल बीज। हमने लता-पत्ते की आग में भून कर उन बीजों को खाकर देखा, आलू-जैसा स्वाद।

बड़ी दूर तक पहाड़ पर चढ़ गया। वह वहाँ मोहनपुरा जंगल——दक्खिन में अपना गाँव और वह वहाँ सरस्वती-कुंड का जंगल दिखाई दे रहा है। वह रहा नाढ़ा बैहार का बाकी चौथाई जंगल——वह दूर पर मोहनपुरा रिजर्व फारेस्ट की पूर्वी सीमा से सट कर कोसी नदी बह रही है——नीचे के समतल का दृश्य ठीक तसवीर जैसा दिखाई पड़ रहा है!

——"मोर! मोर हुजूर, यह देखिए!"

माथे के पास ही डाल पर बैठा एक बहुत बड़ा मोर। प्यादे के पास बंदूक थी। वह निशाना ठीक करने लगा। मैंने मना कर दिया।

युगलप्रसाद ने कहा——"इस पहाड़ पर कहीं कोई गुफा है बाबूजी, उसकी दीवारों पर चित्र बने हैं, पता नहीं कब के बने हैं चित्र, उसी गुफा को ढूँढ़ रहा हूँ।"

शायद गुफा में पत्थरों की दीवार पर प्रागैतिहासिक युग के मनुष्य के बनाए चित्र हों। धरती के इतिहास के लाखों-लाख बरस की यवनिका क्षण-मात्र में उठकर समय के बहाव में हमें जाने कहाँ पहुँचा देगी!

प्रागैतिहासिक युग की उस गुफा की तसवीरों को देखने के आग्रह से हम खाक छानते फिरे——वह गुफा मिल भी गई; मगर इतना घुप अँधेरा था उसके अन्दर कि घुसने का साहस ही न हुआ। घुस भी जाता, तो उस अँधेरे में देख क्या पाता। आज रहे, फिर कभी सरो-सामान

के साथ आया जायगा। आखिर अँधेरे में शंखचूड़ और चन्द्रबोड़ा जैसे विषधर साँपों के हाथों जान कौन गँवाए? ऐसी जगहों में इन साँपों की कमी नहीं।

मैंने युगल से कहा—"देखो, कुछ नए-नए किस्म के पेड़-पौधे इस जंगल में लगाओ। पहाड़ के जंगल को कोई कभी नहीं काटेगा। लवटोलिया गया और अब सरस्वती-कुंड का भी भरोसा छोड़ दो—"

वह बोला—"बजा फरमाते हैं हुजूर—बात जँचती है; किन्तु आप तो आएँगे नहीं, सब-कुछ अकेले ही करना पड़ेगा।"

—"बीच-बीच में मैं देख जाया करूँगा। तुम लगाओ।"

महालिखारूप का पहाड़ कोई एक पहाड़ न था, एक पर्वतमाला कहिए, कहीं भी डेढ़ हजार फुट से ज्यादा ऊँची नहीं। हिमालय के नीचे की पर्वत-पंक्ति की ही एक शाखा, यद्यपि तराई प्रदेश के जंगल और हिमालय यहाँ से सौ-डेढ़-सौ मील पर थे। पहाड़ पर से नीचे की समतल भूमि को देखने से ऐसा लगता कि कभी प्राचीन युग का महासागर इस बालुकामय उच्च तट पर पछाड़ें खाता था, गुफा में रहने वाले मानव तब भविष्य के गर्भ में सोए थे और तब महालिखारूप का यह पहाड़ उस सुप्राचीन महासागर की बालुकामय भूमि था।

युगलप्रसाद ने कोई आठ-दस प्रकार के ऐसे लता-पेड़ दिखाए, जो कि नीचे के जंगलों में नहीं मिलते। पहाड़ के वन की प्रकृति ही और तरह की होती है—पेड़-पौधे भी जुदा ढंग के होते हैं वहाँ के।

शाम होने को थी। जाने कैसे वनफूल की-सी खूब महक मिलने लगी—वेला बीतने के साथ-साथ वह गंध और गाढ़ी होती गई। डालों पर पोंड़की, वनमुर्गे और हरेटी के कूजन।

बाघ का खतरा था, सो साथ के लोग नीचे उतरने के लिए उतावले हो उठे; वरना उतरती हुई संध्या की घनी छाँह में निर्जन पहाड़ की वन-भूमि में जो स्निग्ध शोभा निखर आई, उसे छोड़ कर आने को जी नहीं चाह रहा था।

मुनेश्वरसिंह ने कहा—"हुजूर, यहाँ मोहनपुरा से भी बाघ का डर ज्यादा है। जो यहाँ लकड़ियाँ चुनने आते हैं, वे दोपहर के बाद ही उतर पड़ते हैं। जो आते हैं, वे जमात बाँध कर ही आते हैं—अकेले कोई आता भी नहीं। बाघ है, विषधर साँप है—जरा जंगल को देखिए, किस कदर घना है।

लाचार होकर हम उतरने लगे। केलिकदंब के बड़े-बड़े पत्तों की ओट में शुक्र और बृहस्पति झलमला रहा था!

[दो]

एक दिन देखा, एक नए गृहस्थ के घर के बरामदे पर स्कूल मास्टर गनौरी तिवारी सखुए के पत्ते पर सत्तू सान कर मजे में चट किए जा रहा है।

—"अरे, हुजूर! अच्छे तो हैं आप?"

—"मजे में हूँ। तुम कब आए? कहाँ रहे अब तक? ये लोग तुम्हारे कोई लगते हैं क्या?"

—"जी, ये लोग कुछ भी नहीं लगते। यहाँ से होकर गुजर रहा था, रात हो आई थी। ब्राह्मण हैं ये, इसी से यहीं रुक गया। जान-पहचान नहीं थी, अभी हुई है।"

मकान-मालिक ने आगे बढ़कर मुझे नमस्कार किया। बोला—"आइए, बैठिए हुजूर!"

—"बैठने का समय नहीं है। ठीक ही हूँ। जमीन लिए कितने दिन हुए?"

—"दो महीने हुए। अभी सारे खेतों को जोत भी नहीं सका हूँ।"

एक छोटी-सी बच्ची गनौरी तिवारी को तीन-चार मिर्च दे गई। वह उड़द का सत्तू खा रहा था, नमक और मिर्च के साथ। मैं समझ नहीं सका कि सत्तू का उतना बड़ा लौंदा दुबले गनौरी तिवारी के किस पेट में अँटेगा! गनौरी असली खानाबदोश है। जहाँ बैठा वह खा रहा

था, उसके पास ही मैले कपड़े की एक पोटली पड़ी थी, एक गिलाफ यानी बालापोश जैसा पतला ओढ़ना। देखते ही मैं भाँप गया—यह गनौरी तिवारी का है और संसार में यही उसका सर्वस्व है। मैंने उससे कहा—"गनौरी, अभी तो फुर्सत नहीं, तुम फिर कचहरी में आना।"

तीसरे पहर गनौरी आया।

मैंने पूछा—"कहाँ थे तुम?"

—"मुंगेर के गाँवों में घूमता रहा हुजूर—बहुत-बहुत गाँव घूमे।"

—"घूम कर क्या करते रहे?"

—"लड़कों को पढ़ाया करता था पाठशाला खोल कर।"

—"चली नहीं कोई पाठशाला?"

—"दो महीने से ज्यादा कोई न चली। शुल्क ही नहीं देते लड़के।"

—"ब्याह-शादी की या नहीं? उम्र क्या हुई तुम्हारी?"

—"अपना ही गुजारा नहीं चलता, ब्याह क्या करूँ हुजूर! उम्र चौंतीस-पैंतीस की हुई होगी।"

गनौरी-जैसे गरीब इधर कम ही हैं। मुझे याद आया, एक बार वह बिना न्योते के ही भात खाने के लिए मेरे यहाँ आ पहुँचा था, शुरू-शुरू में जब मैं यहाँ आया था। अब जाने कब से उसे भात नहीं नसीब हुआ है। गंगोतों का अतिथि बन-बन कर उड़द का सत्तू खाता फिरता है।

मैंने कहा—"रात को यहीं भोजन करना। कंटू मिश्र पकाता है, उसके हाथ की रसोई खाने में तुम्हें आपत्ति तो नहीं होगी?"

गनौरी बहुत खुश हुआ। भरपेट हँस कर बोला—"कंटू तो अपनी ही जाति का है, पहले भी मैं उसके हाथ का खा चुका हूँ—आपत्ति क्या होगी?"

उसके बाद बोला—"जब आपने ब्याह की चर्चा उठाई ही है हुजूर, तो कह दूँ आपसे। पिछले साल सावन में एक गाँव में मैंने पाठशाला खोली। गाँव में अपनी ही जाति के ब्राह्मण की एक घर था। उसी के

यहाँ रहा। उसकी लड़की से मेरी शादी की बात पक्की हो गई, यहाँ तक कि मुंगेर से मैं एक अच्छी-सी मिरजई भी खरीद लाया--मुहल्ले के लोग चिल्ल-पों करने लगे। कहा--"यह गरीब स्कूल मास्टर है, घर-द्वार का ठिकाना नहीं, इसे क्या लड़की ब्याहोगे। टूट गया ब्याह। मैं वहाँ से चल भी दिया।"

--"लड़की को देखा था तुमने? अच्छी थी?"

--"देखता नहीं? बड़ी अच्छी थी देखने में। मुझसे उसे ब्याहते भी क्यों? ठीक ही तो है, मुझे है क्या?"

समझा, ब्याह टूट जाने से गनौरी बड़ा दुखी हुआ है। लड़की उसे जँच गई थी।

उससे देर तक बातें होती रहीं। उसकी बातों से ऐसा लगा, जिंदगी ने उसे कुछ भी नहीं दिया, दो मुट्ठी दाने के लिए यहाँ से वहाँ सदा भटकाती रही उसे! वह भी उससे न जुट सका। गंगोतों के दरवाजे-दरवाजे घूम कर ही उसने आधी जिन्दगी गुजार दी।

बोला--"इसीलिए बहुत दिनों के बाद लवटोलिया आया हूँ। सुन रक्खा था, यहाँ बहुत सारी नई बस्तियाँ बस गई हैं। वह जंगल नहीं रहा। आया, अगर यहाँ पाठशाला चला सकूँ। नहीं चलेगी हुजूर?"

मैंने सोच लिया, एक पाठशाला खोल कर गनौरी को उसमें लगा दूँगा। बहुत-से बच्चे यहाँ आए हैं। उनकी शिक्षा का प्रबन्ध करना मेरा ही तो कर्त्तव्य है। खैर, देखूँ क्या कर सकता हूँ।

[तीन]

अनोखी चाँदनी रात। राजू पांडेय और युगलप्रसाद गप लड़ाने को पहुँचे। कचहरी से कुछ ही दूर पर एक नई बस्ती बसी थी, वहाँ का भी एक आदमी आया। चार ही दिन हुए हैं कि वे छपरा से यहाँ आए हैं।

वह आदमी अपनी रामकहानी सुना रहा था कि बीबी-बच्चे लेकर

कहाँ-कहाँ की खाक छानी, कितने चौर और जंगल में कितनी बार घर-बार बसाया। कहीं तीन साल, तो कहीं दस साल——एक जगह दस साल रहा था कोसी नदी के किनारे। कहीं कोई तरक्की न कर सका। अब यहाँ आया है, अपनी उन्नति की आशा में।

इन यायावर गृहस्थों की जिन्दगी भी अजीब होती है! इनसे मैंने बातें करके देखी हैं——इनके जीवन बिलकुल मुक्त और बंधनहीन होते हैं——न तो इनका कोई समाज है, न कोई संस्कार ; अपने पुश्तैनी घर की ममता भी इनमें नहीं, खुले आसमान के नीचे अपनी दुनिया बसा कर ये जंगल, पहाड़ों के बीच की उपत्यका, नदियों के चौरों में रहा करते हैं। आज यहाँ, तो कल वहाँ।

इनके प्रेम-विरह, जीवन-मृत्यु, मेरे लिए सभी नए और अजीव-से हैं ; मगर सब से अजीब मालूम हुई इस आदमी की तरक्की की उम्मीद।

समझ नहीं सका कि इस बैहार में महज दस-पाँच बीघे में गेहूँ पैदा करके यह कौन-सी तरक्की की उम्मीद करता है !

उसकी उम्र पचास से ज्यादा हो चुकी थी। नाम था बलभद्र सैंगाई। जात का कलवार। इस उम्र में भी उसे उन्नति करने की उम्मीद रह गई थी !

मैंने पूछा——"इसके पहले कहाँ थे बलभद्दर ?"

——"मुंगेर के एक दीयरे में था हुजूर। दो साल रहा वहाँ। उसके बाद मकई की फसल मारी गई। वहाँ आगे उन्नति की कोई आशा न दीखी। हुजूर, संसार में अपनी उन्नति की कोशिश हर कोई करता है। अब देखूँ, हुजूर के आश्रय में——"

राजू पांडेय ने बताया—"जब मैं यहाँ आया था, मेरे पास छै भैंसें थीं——आज दस हैं। लवटोलिया उन्नति की जगह है——"

बलभद्र बोला——"मुझे भी एक जोड़ा भैंस ले देना पांडेजी ! अब की उपज हो, उस रुपए से भैंस खरीदनी ही पड़ेगी——बगैर भैंस के उन्नति नहीं होती।"

गनौरी इनकी बातें सुन रहा था। उसने भी कहा—"बात सही है। एकाध भैंस खरीदने की इच्छा अपनी भी है। जरा कहीं जम जाऊँ"—

चाँदनी में महालिखारूप के पेड़-पौधे और उसके भी पीछे धनझरी गिरिमाला धुँधली-सी झलक पड़ी थी। थोड़ी-बहुत सर्दी-सी थी, इसलिए आग जलाई गई थी। आग की एक तरफ बैठे थे राजू पांडे और युगलप्रसाद, दूसरी तरफ बलभद्र और तीन-चार नए रैयत।

इनकी वैषयिक उन्नति की बातचीत मेरे लिए कैसी अनोखी थी! उन्नति की इनकी धारणा कुछ बहुत ऊँची नहीं, छै भैंसों की जगह दस या बहुत जोर मारा तो बारह भैंसें—इस दुर्गम जंगल और पहाड़ियों से घिरे इलाके में भी मानव-मन की आशा-आकांक्षा क्या होती है, इसे जानने का सुअवसर पाकर यह चाँदनी रात ही मेरे लिए अपूर्व रहस्यमय हो उठी। और केवल चाँदनी रात ही क्यों, महालिखारूप का वह पहाड़, दूर की वह धनझरी की पहाड़ियाँ, उनके ऊपर की वनपंक्ति, सब रहस्यमय लगीं।

केवल युगलप्रसाद इन सांसारिक बातों से सम्बन्ध नहीं रखता। वह एक विशेष प्रकार का व्रात्य मन लेकर इस दुनिया में आया है—जमीन-जायदाद, गाय-भैंस-आलोचना न तो उसे पसन्द है, न ऐसी चर्चा में वह सम्मिलित ही होता है।

उसने कहा—"सरस्वती-कुंड के पूर्वी किनारे पर जो हंस-लताएँ लगाई थीं, वे कैसी घनी हो उठी हैं, देखा है बाबूजी? किनारे-किनारे स्पाइडर लिली की बहार भी अब की खूब है। चाँदनी में चलेंगे वहाँ घूमने?

मुझे तकलीफ होती, ुगलप्रसाद के इतने शौक के उस जंगल को और कितने दिनों तक बचा पाऊँगा? पता नहीं, हंस-लता और जंगली हरसिंगार का मेला कहाँ गायब हो जायगा। उनकी जगह भुट्टे के पौधे सिर उठाए खड़े रहेंगे, फूँस के घर, सटे-सटे छप्पर, घर के सामने खटिया, कीचड़ भरे आँगन में नाद में मुँह गाड़े मवेशी सानी खाते रहेंगे।

इतने में आया मटुकनाथ पंडित। आजकल उसकी पाठशाला में

प्राय: पन्द्रह छात्र कलाप और मुग्धबोध पढ़ रहे थे। हालत उसकी सुधर गई। इस बार फसल के दिनों में यजमानों से गेहूँ और मकई इतनी मिली कि आँगन में उसे छोटी-सी मोटी बाँधनी पड़ी।

मटुकनाथ इस बात का जलता प्रमाण है कि अध्यवसायी की उन्नति होकर ही रहती है।

फिर वही उन्नति की बात आ पड़ी।

मगर उन्नति की बात आए बिना चारा भी क्या ? आँखों के आगे ही उदाहरण है कि मटुकनाथ ने चूँकि उन्नति की है, इसलिए आज-कल उसका आदर-सम्मान बढ़ गया है। कचहरी के जो अमले-प्यादे पगला समझकर उसे टाला करते थे, आँगन में मोटी बाँधने के बाद से वही उसकी खातिर करते हैं। पाठशाला में छात्रों की संख्या भी दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है। और युगलप्रसाद या गनौरी तिवारी को कोई टके को भी नहीं पूछता ! नए रैयतों में राजू पांडे ने भी अपनी शाख जमा ली है—जब देखिए, जड़ी-बूटी की पोटली लिए वह गृहस्थों के बाल-बच्चों की नब्ज देखता फिरता रहता है ; लेकिन राजू पांडे पैसे को नहीं चीन्हता, आदर पाकर गपशप से ही सन्तुष्ट हो जाता है।

[चार]

तीन-चार महीने के अन्दर-अन्दर महालिखारूप पहाड़ से लेकर लवटोलिया और नाढ़ा बैहार की सीमा तक रैयत बस गए। जमीन की बन्दोबस्ती होकर खेती तो पहले ही शुरू हो गई थी ; पर आबादी इतनी नहीं बढ़ी थी—इस साल दल-के-दल लोग आकर रातोंरात बस्तियाँ बसाने में लग गए।

तरह-तरह के लोग। जर्जर टट्टू की पीठ पर बिछौने, बर्तन, पीतल का घड़ा, लकड़ी का बोझा, देवता, चूल्हा तक लिए एक परिवार को आते देखा। दूसरा एक परिवार आया—भैंस की पीठ पर लदे बच्चे, बर्तन-भाँड़े, टूटी लालटेन, यहाँ तक कि चारपाई भी। किसी-किसी परिवार

की पति-पत्नी बँहगी में असबाब लादे, बच्चों को बिठाए बड़ी दूर से आए ।

आनेवालों में सदाचारी मैथिल ब्राह्मण से लेकर गंगोता और दुसाध, समाज के सभी वर्ग के लोग थे । मैंने युगलप्रसाद से पूछा—"ये सारे लोग अब तक क्या बिना घर-बार ही के थे ? कहाँ से आ रहे हैं इतने सारे लोग ?"

युगलप्रसाद मूड में नहीं था । बोला—"इधर के लोग ही ऐसे हैं बाबूजी ! पता चला कि यहाँ जमीन सस्ती मिल रही है—बस दल-के-दल लोग चले आ रहे हैं । अगर सहूलियत हुई तो हुई, न हुई तो डेरा-डंडा समेट कर चल देंगे ।"

—"अपने बपौती घर-द्वार का इन्हें मोह नहीं होता ?"

—"कतई नहीं । नए निकले चौर या जंगल बंदोबस्त लेकर खेती-बारी से गुजारा करना ही इनका पेशा है । बसना आनुषंगिक बात है । जब तक उपज अच्छी होती रहेगी, मालगुजारी कम लगती रहेगी, तब तक ये रहेंगे ।"

—"उसके बाद ?"

—"उसके बाद पता लगाएँगे कि नया चौर कहाँ निकला है, या जंगल कहाँ बन्दोबस्त हो रहा है—वहीं चल देंगे ।"

[पाँच]

उस दिन ग्रांट साहब के बरगद के नीचे जमीन की नाप-जोख कराने गया था । अशर्फी टंडेल जमीन नाप रहा था और मैं घोड़े पर से निगरानी कर रहा था । इतने में देखा, रास्ते से कुंता जा रही है ।

बहुत दिन से उसे देखा नहीं था । अशर्फी से मैंने पूछा—"कुंता आज कल कहाँ रहती है—देखता नहीं हूँ उसे ।"

अशर्फी बोला—"आपने उसका किस्सा सुना नहीं है—बीच में वह बहुत दिनों तक यहाँ नहीं थी—"

—"सो क्या ?"

—"रासबिहारीसिंह उसे अपने घर ले गया था। कहा—'तुम मेरे जात-भाई की स्त्री हो, यहीं रहो'—"

—"फिर ?"

—"वहाँ रही कुछ दिन। शक्ल-सूरत देख रहे हैं उसकी—इतने दुःख-कष्टों के बावजूद—रासबिहारीसिंह ने उससे बहुत कुछ कहा, उस पर अत्याचार करने की भी कोशिश की—सो लगभग महीने भर से वह यहीं आ गई भाग कर। सुना, रासबिहारी ने उसे छुरा दिखाकर डराया। वह बोली—'चाहे मार ही डालो मुझे, जान दे दूँगी, मगर धरम नहीं दे सकती'।"

—"कहाँ रहती है ?"

—"झल्लू टोले के एक गंगोते के यहाँ पनाह ली है। गुहाल में एक छोटी-सी चलिया है, उसी में रहती है।"

—"गुजारा कैसे होता है ? उसके तो दो-तीन बाल-बच्चे भी हैं ?"

—"भीख माँगती है, खेतों के कटने पर फसल बीनती है, कटाई करती है। बड़ी अच्छी औरत है हुजूर कुंता। थी तो बाईजी की बेटी, मगर भले घर की औरतों-जैसा सुभाव है—कोई बुरा काम वह कर नहीं सकती।"

नाप-जोख खत्म हो गई। इस जमीन को बलिया जिले के एक आदमी ने बन्दोबस्त में लिया था—कल से वह यहाँ अपना घर बनाएगा। ग्रांट साहब के बरगद की महिमा भी जाती रही !

महालिखारूप के पहाड़ पर खड़े पेड़ों पर धूप रंगीन हो आई। झुंड-के-झुंड सिल्ली सरस्वती-कुंड की तरफ उड़ चले। साँझ होने में ज्यादा देर न थी।

एक बात मन में आई।

जो रवैया है, देखता हूँ, इस विशाल लवटोलिया और नाढ़ा बैहार में जरा भी जमीन कहीं नहीं रह जायगी। बाहर के अजाने लोगों ने आ-

आकर सारी जमीन ले ली ; लेकिन इसी भूमि में जो सदा से रहे, मगर निहायत गरीब और अभागे हैं, क्या वे इसीलिए यहाँ की जमीन से वंचित रहेंगे, क्योंकि उनके पास सलामी देने को पैसे नहीं हैं ? जिन्हें मैं प्यार करता रहा हूँ, उनका इतना-सा उपकार तो जरूर ही करूँगा ।

अशर्फी से मैंने कहा—"अशर्फी, कल कुंता को तुम कचहरी में बुला लाना ? जरूरत है ।"

—"जरूर हुजूर, जब कहें ।"

दूसरे दिन सबेरे नौ बजे अशर्फी उसे मेरे सामने ले आया ।

मैंने पूछा—"कैसी हो कुंता ?"

उसने दोनों हाथ बाँध कर मुझे प्रणाम किया । बोली—"अच्छी हूँ हुजूर ।"

—"और तुम्हारे बच्चे ?"

—"हुजूर की दुआ से वे भी अच्छे हैं ।"

—"कितना बड़ा हो गया तुम्हारा बड़ा लड़का ?"

—"आठवें साल में पहुँचा है हुजूर ।"

—"भैंस नहीं चरा सकता है ?"

—"उतने छोटे लड़के को भैंस कौन चराने देगा हुजूर ?"

सचमुच ही कुंता अभी भी देखने में अच्छी थी । जीवन के दुःख कष्टों ने उसके चेहरे पर जैसी छाप छोड़ी थी—साहस और पवित्रता ने भी वैसे ही जय-चिह्न अंकित कर दिए थे ।

यह काशी की बाईजी की वही लड़की है—प्रेम-विह्वला कुंता ! प्रेम की उज्ज्वल बाती इस अभागिन के हाथों आज भी गौरव के साथ जल रही है—इसी से उसे इतना दुःख है, इतनी हीनता, इतना अपमान। कुंता ने प्रेम की मर्यादा रक्खी है ।

पूछा—"जमीन लोगी कुंता ?"

मानो वह समझ नहीं सकी कि वह जो सुन रही है, ठीक है । बोली—"जमीन हुजूर ?"

—"हाँ जमीन ? बन्दोबस्ती ।"

कुंता ने जरा देर तो कुछ सोचा । फिर बोली—"पहले तो अपनी ही जोत थी कितनी । शुरू-शुरू में जब आई थी, देखा था मैंने । उसके बाद एक-एक करके सब-कुछ चला गया । अब क्या देकर जमीन मैं लूँगी हुजूर ?"

—"क्यों, सलामी के रुपए नहीं दे सकोगी ?"

—"कहाँ से दूँ ? रात को छिप-छिपाकर तो कटे खेतों से बिखरी बालें बीनती हूँ, दिन में शायद कोई अपमान कर बैठे । एक टोकरी, आधी टोकरी उड़द लाती हूँ, वही बच्चों को खिलाती हूँ । हर रोज अपने लिए नहीं बचता—"

चुप होकर उसने आँखें झुका लीं । दोनों आँखों से टप्-टप् आँसू बहने लगे ।

अशर्फी वहाँ से खिसक गया । जवान का कोमल कलेजा, अभी भी दूसरे का दुःख ठीक-ठीक बर्दाश्त नहीं कर सकता ।

मैंने कहा—"मान लो, सलामी न लगे, तब ?"

उसने अचरज-भरी आँखों से मेरी तरफ देखा ।

अशर्फी जल्दी-जल्दी उसके पास आ पहुँचा । हाथ हिला-हिला कर बोला—"हुजूर तुम्हें यों ही जमीन देंगे, यों ही । समझा ?"

अशर्फी से मैंने पूछा—"लेकिन जमीन दी भी जाय, तो वह खेती कैसे करेगी ?"

अशर्फी बोला—"वह सब हो जायगा । हुजूर—इसे हल-बैल सभी दे देंगे । इतने तो गंगोते हैं, घर पीछे एक-एक दिन भी हल दे देंगे, तो इसकी खेती हो जायगी । यह जिम्मा मेरा रहा हुजूर ।"

—"अच्छा अशर्फी, कितने बीघे में कुंता का काम चल जायगा ?"

—"जब मेहरबानी करके देही रहे हैं हुजूर, तो दस बीघे तो दे दीजिए ।"

कुंता से पूछा—"तुम्हें बिना सलामी के दस बीघा जमीन अगर

दे दी जाय, तो खेती करके जमींदार की मालगुजारी तो अदा कर ही दिया करोगी ! पहले दो साल तुम्हारी मालगुजारी भी माफ रहेगी । तीसरे साल से देनी पड़ेगी ।"

कुंता मानो हतबुद्धि-सी हो गई । मानो वह यही नहीं समझ रही हो कि हम यह ठीक कह रहे हैं या उससे मजाक कर रहे हैं ।

कुछ-कुछ दिक्भ्रमित-सी होकर बोली—"जमीन ! दस बीघे ।"

अशर्फी ने कहा—"हाँ-हाँ, हुजूर तुम्हें दस बीघा जमीन दे रहे हैं । दो साल की मालगुजारी माफ । तीसरे साल से देना । क्यों, राजी हो ?"

लाज-भरी आँखों से उसने मुझे देखा । बोली—"हुजूर दयालु हैं ।" बाद में अचानक विह्वल होकर रो पड़ी ।

मैंने इशारा किया, अशर्फी उसे बाहर ले गया ।

सत्रहवाँ परिच्छेद

[एक]

शाम के बाद लवटोलिया की नई बस्तियाँ बड़ी अच्छी दिखाई देतीं। कुहरा था, इसलिए चाँदनी जरा धुँधली हो रही थी। दूर तक फैले हुए खेत, भिन्न-भिन्न बस्तियों में दूर-दूर दो-चार जलती बत्तियाँ। अन्न के सहारे कहाँ-कहाँ से कितने लोग यहाँ पर आ गए—जंगल काट-काटकर गाँव बसाए, खेती शुरू की। सभी बस्तियों के मैं नाम भी नहीं जानता, सब को चीन्हता भी नहीं। कुहरे से धुँधली हुई चाँदनी में यहाँ-वहाँ बिखरी बस्तियाँ कैसी रहस्यमयी लग रही हैं। जो लोग इन बस्तियों में बसते हैं, उनका जीवन भी मेरे लिए इस धुँधली चाँदनी जैसा ही रहस्यमय है। इनमें से किसी-किसी से मैंने बातें की हैं—जीवन के बारे में इनके दृष्टिकोण, इनके रहन-सहन के तौर-तरीके, सब मुझे अजीब-से लगते।

इनके खान-पान की ही बात ली जाय। अपने इलाके में साल में तीन फसल होती हैं—भादों में मकई, पूस में उड़द और वैशाख में गेहूँ। मकई बहुत ज्यादा नहीं होती, क्योंकि उसके लायक जमीन नहीं थी। उड़द और गेहूँ खूब होते—उड़द बहुत होता, उसका आधा होता गेहूँ। सो लोगों का मुख्य खाद्य था उड़द का सत्तू।

धान बिलकुल नहीं होता। धान के लिए जैसी जमीन होनी चाहिए, वैसी जमीन इलाके भर में कहीं नहीं—कड़ारी और सरकारी खास महाल में भी नहीं; लिहाजा यहाँ के लोगों को कभी-कभी ही भात नसीब होता—भात खाना यहाँ विलासिता में गिना जाता है। खाने के शौकीन कुछ लोग गेहूँ और उड़द बेंच कर चावल खरीदा करते हैं; पर ऐसों की संख्या अँगुलियों पर ही गिनी जा सकती है।

फिर उनके मकानों की बात लें। गाँव के दस हजार बीघे के घेरे में जो अनगिन बस्तियाँ बस गई हैं—सब में जो घर हैं, छौनी कसाल की, कसाल की टट्टियाँ, किसी-किसी ने उन पर मिट्टी पोत दी है, बहुतों ने वह भी नहीं पोती। बाँस इधर मिलते ही नहीं, इसलिए घर की खंभा-खूँटी ज्यादातर केंद और पियार की डालों की बनी हैं।

धर्म की तो चर्चा करना ही यहाँ फिजूल है। हैं तो ये हिन्दू, मगर नहीं जानता कि तैंतीस कोटि देवताओं के होते हुए—इन्होंने हनुमानजी को ही कैसे चुन कर निकाल लिया है—जिस बस्ती को देखिए, हनुमानजी की ध्वजा जरूर है—इस ध्वजा की नियम से पूजा होती है—डंडे में सिन्दूर पोता जाता है। सीता-राम का नाम कभी-कभी ही सुनने में आता है, उनके सेवक के गौरव ने उनके देवत्व को ढँक दिया है। विष्णु, शिव, दुर्गा, काली—इन देवी-देवताओं की पूजा का वैसा खास प्रचार नहीं—कुछ भी प्रचार है, इसमें भी मुझे संदेह है। कम-से-कम अपने इलाके में तो मैंनें कभी नहीं देखा।

भूलता हूँ, एक शिव का भक्त मुझे जरूर मिला था। नाम हैं द्रोण महतो—गंगोता है। दस-बारह साल पहले किसी ने कचहरी की महावीरी ध्वजा के नीचे एक शिलाखंड लाकर रख दिया था—प्यादे समय-समय पर उसमें सेंदूर मलते हैं, कोई-कोई जल भी चढ़ा देता है। लेकिन ज्यादा-तर वह अनादृत ही पड़ा है।

कचहरी से कुछ ही फासले पर एक नई बस्ती बनी है, द्रोण महतो ने वहीं अपना घर बनाया है। उम्र उसकी सत्तर से ज्यादा ही होगी, कम नहीं। पुराना आदमी है, इसीलिए नाम द्रोण है। आज का होता तो डोमन, लोधई, महाराज, ऐसा कुछ नाम होता। तब के माँ-बाप ऐसे बाबू कोटि के नाम रखने में शर्माते थे।

खैर; द्रोण एक बार कचहरी में आया। महावीरी ध्वजा के नीचे पड़े उस पत्थर पर उसकी निगाह पड़ी। तब से वह बूढ़ा रोज सुबह कलबलिया नदी में नहाकर और वहाँ से एक लोटा पानी लाकर रोजाना

उस पत्थर पर ढाला करता। सात बार उसकी प्रदक्षिणा करके साष्टांग दंडवत् करके तब अपने घर जाता।

मैंने द्रोण से एक दिन कहा भी था—"कलबलिया नदी तो एक कोस पर है। पास के कुंड के पानी से भी तो काम चल सकता है—"

वह बोला—"महादेवजी बहती धार के पानी से प्रसन्न होते हैं बाबूजी! मेरा जन्म सार्थक है कि उन्हें रोज स्नान कराने का सौभाग्य मिला है।"

भक्त भी भगवान् को बनाते हैं। द्रोण महतो की पूजा की चर्चा लोगों में फैली और धीरे-धीरे कुछ भक्त नर-नारियों का आना-जाना शुरू हो गया। इधर के जंगलों में एक तरह की खुशबू वाली घास होती है। उसके पत्ते या डंठल को सूँघने से खुशबू आती है। घास जितनी ही सूखती है, खुशबू उतनी ही तेज होती है। न जाने किसने लाकर शिवजी के चारों तरफ वही घास लगा दी। एक दिन मटुकनाथ ने आकर मुझ से कहा—"बाबूजी, एक गंगोता रोज यहाँ आकर शिवजी को जल चढ़ाया करता है। यह अच्छा है?"

मैंने कहा—"पांडेजी, उसी गंगोता ने लोगों में शिवजी का प्रचार किया है। आप भी तो यहीं रहे, कभी तो एक लोटा पानी ढालते आपको नहीं देखा मैंने।"

गुस्से से मटुकनाथ की बुद्धि चकरा गई। बोला—"असल में वह शिवजी नहीं हैं बाबूजी। प्रतिष्ठा किए बिना ठाकुर पूजा के योग्य नहीं होते। यह तो महज एक पत्थर है।"

—"फिर कहते क्यों हो? कोई पत्थर पर पानी ढालता है, तो तुम्हें उज्र क्यों होता है?" तब से द्रोण महतो कचहरी के शिवजी का चार्टर्ड पुजारी बन गया।

कातिक की छठ यहाँ का बहुत बड़ा त्योहार है। टोले-टोले से हलदी से रंगी साड़ियाँ पहनकर दल-की-दल औरतें कलबलिया नदी में अर्घ्य देने जाती हैं। दिन-भर धूम-धाम रहती है। शाम को बस्ती के पास से

गुजरिए, तो पकवान की खुशबू मिलती है। काफी रात बीतने तक बच्चों के शोरोगुल, औरतों के गीत——जहाँ रात को नीलगायों के झुंड दौड़ा करते थे, हायना की हँसी और बाघ की खाँसी (जानकारों को पता है कि बाघ ठीक आदमी की खाँसी जैसी आवाज करता है) सुनी जाती थी, वहाँ आज हास-मुखरित, गीत गुंजित-उत्सवमय जनपद है।

छठ की साँझ को न्योते में झल्लू-टोला गया। वहीं नहीं, कचहरी के सभी लोगों को पन्द्रह टोलों से छठ का न्योता मिला था।

पहले मैं टोले के मुखिया झल्लू महतो के यहाँ गया।

देखा, उसके घर के एक ओर अभी भी थोड़ा-बहुत जंगल है। आँगन में उसने एक फटा शामियाना लगा रक्खा था, उसी के नीचे हमें आदर से बिठाया गया। मुहल्ले के लोग साफ-साफ धोती-मिरजई पहन कर एक तरह की घास की बनी चटाई पर बैठे थे। मैंने कहा——"खाना नहीं खा सकूँगा। अभी और भी बहुत जगह जाना है।"

झल्लू ने कहा——"जरा मुँह मीठा तो करना ही पड़ेगा। घर की औरतों का जी बड़ा छोटा हो जायगा। आपके चरणों की धूल पड़ेगी, इसलिए उन्होंने बड़े जतन से पकवान बनाए हैं।"

अब कोई चारा न था। गोष्ठ बाबू मुहर्रिर, मैं और राजू पांडे बैठ गए। सखुए के पत्ते पर आटे और गुड़ के कई ठेकुए आए——एक-एक इंच मोटे और ईंट की तरह कड़े। फेंक कर मारिए, तो आदमी मरे चाहे नहीं, जख्मी तो हो ही जाय। हर पकवान साँचे का बना था, सब पर लता-पत्रादि अंकित थे। साँचे में बना कर तब उन्हें घी में छाना गया था।

जिन्हें औरतों ने बड़े जतन से बनाया था, उन पकवानों का सदुपयोग मैं नहीं कर सका। बड़ी-बड़ी कठिनाई से आधा खाया। न तो मीठा, न कोई स्वाद। समझ गया कि गंगोतिनें पकाना-वकाना कुछ भी नहीं जानतीं। लेकिन देखते-ही-देखते राजू पांडे चार-पाँच खा गया और शायद शरम के मारे हम लोगों के सामने वह दुबारा माँग भी नहीं सका।

वहाँ से लोधई टोला गया। वहाँ से पर्वत-टोला, भीमदास-टोला।

अशर्फी-टोला, लछमिनिया-टोला। हर टोले में गीत-नाच और हँसी-खुशी की धूम थी। रात-भर लोग जगेंगे। इस-उस घर में खाते फिरेंगे और नाच-गान करते हुए ही तमाम रात कटेगी।

एक बात जानकर खुशी हुई। हर टोले की औरतों ने हम लोगों के लिए बड़े जतन से पकवान पकाया। चूँकि मैनेजर बाबू आयँगे ; इसलिए बड़े ही उत्साह और यत्न से सब ने अपनी-अपनी पाक-कला की कुशलता का परिचय देने की कोशिश की थी ; लेकिन मेरे लिए यह बड़े दुःख का कारण रहा कि औरतों की सहृदयता का आभार मन में मानते हुए भी उनकी पाक-कला की तारीफ मैं नहीं कर सका। झल्लू-टोले से भी कहीं-कहीं गए-बीते पकवान मिले।

हर जगह यह देखा कि रंगीन साड़ियाँ पहने ओट में खड़ी-खड़ी औरतें बड़ी ही कौतुकपूर्ण आँखों से हमें खाते हुए देखती रहीं। राज पांडे ने किसी का जी न दुखाया, पकवान खाने की सीमा पार करके धीरे-धीरे वह असीम की ओर बढ़ने लगा। फल-स्वरूप मैंने गिनना छोड़ दिया और इसलिए यह मैं नहीं बता सकता कि उसने कितने खाए।

और राजू क्या, न्यौते पर आने वाले गंगोतों में से एक-एक ने बीस-बीस तीस-तीस वैसे ईंट-से कड़े पकवानों की खबर ली। यदि अपनी आँखों से न देखें, तो सहज ही यकीन नहीं आ सकता कि आदमी इतना-इतना भी खा सकता है।

छनिया और सुरतिया के यहाँ भी गया।

मुझे देखते ही सुरतिया दौड़ी आई।

—"इतनी देर कर दी बाबूजी? माँ और मैंने मिलकर आपके लिए खास तरह से पकवान बनाए हैं और तब से राह देखती हुई यही सोच रही हूँ कि इतनी देर आखिर क्यों हो रही है। आइए, आइए!"

नकछेदी ने सबको आदर से बिठाया।

तुलसी को बड़े यत्न से आसन आदि लगाते देख कर मैं मन-ही-मन हँसा। खा सकने की गुंजाइश ही अब कहाँ रह गई थी पेट में?

सुरतिया से कहा—"माँ से कहो, पकवान निकाल ले। इतना कौन खाएगा?"

वह अचरज से मेरी तरफ देखकर बोली—"कहते क्या हैं बाबूजी, दो-ही चार तो हैं, इतना भी नहीं खाएँगे? मैंने और सुरतिया ने तो पंद्रह-सोलह खाए हैं। आप खाएँगे, इसलिए माँ ने इसमें किशमिश मिलाया है, बाबूजी, भीमदास-टोले से बढ़िया आटा ले आए हैं—"

न खाने की कहकर मैंने अच्छा नहीं किया। साल-भर ये बच्चियाँ पकवान की शक्ल नहीं देख सकतीं। इनके लिए यह कितने कष्ट, कितनी आशाओं की चीज हैं। उन बच्चियों का मन रखने के लिए किसी-किसी तरह खा लिए दो।

सुरतिया को खुश करने के लिए कहा—"वाह, खूब बने हैं। आज कई जगह खाना पड़ा है, इसलिए ज्यादा खा नहीं सका। फिर कभी देखा जायगा।"

राजू पाँडे के हाथ में एक पोटली। हर घर से उसने परोसा लिया। एक-एक ठेकुए के वजन के हिसाब से राजू की पोटली दस-बारह सेर से तो हर्गिज कम न होगी।

राजू बहुत खुश था। बोला—"यह ठेकुआ जल्दी खराब नहीं होता है बाबूजी!—दो-तीन दिन रसोई से छुट्टी मिल गई। यही खाकर काम चल जायगा।"

दूसरे दिन पीतल की एक थाली लिए कचहरी में कुंता आई। संकोच के साथ उसने थाली मेरे सामने रख दी। थाली कपड़े के एक सफेद टुकड़े से ढँकी थी।

मैंने पूछा—"क्या है कुंता?"

—"छठ का पकवान है बाबूजी! कल रात दो बार आ-आकर लौट गई।"

मैंने कहा—"कल बहुत रात बीते लौटा था, छठ के न्योते जो थे। अच्छा रख दो जरूर खाऊँगा।"

कपड़ा उघार कर देखा, थाली में कई तो ठेकुए थे, थोड़ी-सी चीनी थी, दो केले, एक टुकड़ा नारियल और एक नारंगी ।

मैंने कहा—"अच्छा, बहुत बढ़िया पकवान है यह तो ।"

कुंता संकोच के साथ धीमे-धीमे बोली—"दया करके सब खाइएगा, बाबूजी ! आपके लिए बनाया है । यही दुःख रहा कि आपको गरम-गरम न खिला सकी ।"

—"कोई हर्ज नहीं—सब खा लूँगा मैं । बहुत अच्छा है ।"

कुंता प्रणाम करके चली गई ।

[दो]

एक दिन मुनेश्वरसिंह प्यादे ने आकर कहा—"हुजूर, जंगल में पेड़ के नीचे फटा हुआ कपड़ा बिछा कर एक आदमी सोया हुआ है, लोग उसे बस्ती में नहीं जाने देते—ढेले से मारते हैं। हुक्म दें, तो उसे यहाँ ले आऊँ ।

मुझे ताज्जुब हुआ । तीसरे पहर का समय, साँझ हो चली है, सर्दी ज्यादा नहीं है, फिर भी कातिक का महीना, रात को काफी ओस पड़ती है, भोर के समय काफी ठंढ होती है । ऐसे में एक आदमी जंगल में पेड़ के नीचे क्यों सोया है, लोग उसे ढेले से मारते ही क्यों हैं—समझ नहीं सका ।

मैं गया । देखा ग्रांट साहब के बरगद के पास (कोई बीस-तीस साल पहले ग्रांट साहब यहाँ नाप-जोख करने आए थे और यहीं तंबू डाला था—तब से बरगद का यही नाम पड़ गया) झाड़ियों में एक अर्जुन गाछ के नीचे मैला कपड़ा बिछाकर एक आदमी सोया हुआ है । अँधेरे में ठीक से उसे देख नहीं सका, सो आवाज दी—"कौन है ? कहाँ घर है ? इधर आ जाओ—"

वह बाहर निकल आया—लगभग घुड़ककर निकला—धीरे-धीरे । पचास से ऊपर उम्र होगी, जर्जर चेहरा, मैला और फटा कपड़ा, मिरजई पहने ! झाड़ी में से जब वह बाहर निकल रहा था, एक अजीब असहाय

भाव से शिकारी द्वारा भगाए गए पशु की तरह भयभीत निगाह से मुझे देख रहा था।

निकल आने पर देखा, उसके बाएँ हाथ और पाँव में बड़ा भारी जख्म है। इसीलिए बैठ जाने या सो रहने पर वह सहसा उठ नहीं सकता।

मुनेश्वरसिंह बोला—"शायद घाव के कारण ही लोग इसे बस्ती में नहीं घुसने देते। माँगने से पानी भी नहीं देते, दुरदुरा कर निकाल देते हैं।"

समझ गया कि सर्दी की रात में उसने इस झाड़ी में क्यों शरण ली है।

मैंने पूछा—"तुम्हारा नाम ? घर कहाँ है ?"

मुझे देखकर भय के मारे वह न जाने कैसा हो गया—आँखों में रोग-कातर, भीत और बेबस दृष्टि। मेरे पीछे लाठी लिए खड़ा था मुनेश्वरसिंह। उसने शायद यह समझा कि हम उसे इस झाड़ी में से भी निकालने को आए हैं।

बोला—"मेरा नाम ? नाम गिरधारीलाल है हुजूर, घर मेरा तिनटंगा है।" दूसरे ही क्षण एक अजीब आवाज में—विनती, आरजू और विकार के रोगी की मिली-जुली आवाज में बोला—"जरा पानी पीता—पानी"—

मैंने उसे पहचान लिया। उस बार पूस के मेले में मैंने उसे ब्रह्मा महतो के तंबू में देखा था—वही गिरधारीलाल। वही डरी-डरी निगाह, चेहरे में वही विनम्र भाव—

भगवान् क्या नम्र, डरपोक और गरीब को इतनी तकलीफ दिया करते हैं दुनिया में ? मैंने मुनेश्वरसिंह को कहा—"कचहरी से जाकर चार-पाँच आदमियों को एक चारपाई के साथ बुला लाओ।"

वह चला गया।

मैंने पूछा—"तुम्हें हुआ क्या है गिरधारीलाल ? मैं तुम्हें पहचानता हूँ। तुमने मुझे नहीं पहचाना ? उस बार मेले में ब्रह्मा महतो के खेमे में भेंट हुई थी—याद नहीं है ? डरो मत—तुम्हें क्या हो गया है ?"

गिरधारीलाल जोर से रो पड़ा। हाथ-पाँव दिखाकर बोला—"कटकर घाव हो गया था हुजूर। बहुत उपाय किया, जिसने जो कहा, वही किया। घाव बढ़ता ही गया। अन्त में सब ने कहा—'तुम्हें कोढ़ हो गया है।' इसी से चार-पाँच महीने से ऐसा ही कष्ट पा रहा हूँ। गाँव में लोग घुसने नहीं देते। भीख पर किसी तरह गुजारा करता हूँ। रात को कहीं आश्रय नहीं मिलता—इसी से इस झाड़ी में—"

—"इधर कहाँ जा रहे थे ? यहाँ कैसे आए ?"

इतने ही में वह हाँफ उठा था। जरा दम लेकर बोला—"पूर्णियाँ जा रहा हूँ हुजूर—अस्पताल। नहीं तो घाव तो जाना नहीं चाहता।"

अचरज हुआ, जीने की कैसी लालसा होती है आदमी में। जहाँ वह था, पूर्णियाँ वहाँ से चालीस मील से कम नहीं—सामने मोहनपुरा जैसा खतरनाक जंगल और ऐसा जख्म लेकर वह बीहड़ राह से पूर्णियाँ जा रहा है।

चारपाई आ गई। प्यादों के रहने के घर के पास उसे एक खाली कमरे में ले जाकर उसे सुला दिया। प्यादों ने भी कोढ़ के नाम से जरा एतराज किया था। समझाने से वे समझ गए।

लगा कि गिरधारीलाल बड़ा भूखा है। कई दिनों से पेट भर खाना उसे नहीं मिला है। थोड़ा-सा गरम दूध पिलाने से वह जरा होश में आया।

साँझ को उसके कमरे में गया, तो वह बेखबर सो रहा था।

दूसरे दिन वहाँ के नामी वैद राजू पाँडे को बुलवाया। गंभीर होकर उसने बड़ी देर तक रोगी की नब्ज देखी। मैंने कहा—"देखो, तुमसे कुछ होगा भी या पूर्णियाँ भेजना पड़ेगा ?"

राजू के अभिमान को चोट लगी। बोला—"आपके माँ-बाप के आशीर्वाद से सालों से यही काम करता आया हूँ। पन्द्रह दिन के अन्दर घाव ठीक हो जायगा।"

बाद में मैंने समझा, उसे अस्पताल ही भेज देता, तो अच्छा था।

घाव के लिए नहीं, घाव का रंग तो राजू की जड़ी-बूटी से पाँच ही छै दिन में बदल गया। मुसीबत हुई सेवा की। कोई उसे छूना नहीं चाहता था। घाव में दवा नहीं लगाना चाहता था, पानी पीने के बाद कोई लोटा माँजने को भी तैयार नहीं था।

ऊपर से हो आया उसे बुखार—जोरों का बुखार।

लाचार कुंता को बुलवाया। कहा—"बस्ती से किसी गंगोतिन को बुला दो, इसकी देख-रेख करे। पैसे मैं दूँगा।"

कुंता ने बिना आगा-पीछा सोचे कहा—"मैं सेवा करूँगी बाबूजी, पैसे आपको नहीं देने पड़ेंगे।"

कुंता राजपूत की स्त्री थी। वह गंगोता रोगी की सेवा कैसे करेगी? मैंने समझा, उसने मेरा आशय नहीं समझा।

बोला—"उसके जूठे वर्त्तन धोने हैं, खिलाना है। वह उठ तो नहीं सकता। यह सब तुम कैसे करोगी?"

कुंता बोली—"आपका हुक्म होगा, तो मैं सब कुछ करूँगी। मैं राजपूत कहाँ हूँ बाबूजी, मेरी जात-बिरादरी वालों ने इतने दिनों में मेरी खोज-पूछ भी की? आप जो भी कहेंगे, मैं करूँगी। मेरी जात क्या।"

राजू की जड़ी-बूटी और कुंता की सेवा से गिरधारी महीने भर में चंगा हो गया। इसके लिए देने पर भी कुंता ने कुछ नहीं लिया। देखा, इस बीच गिरधारीलाल को वह बाबा कहकर पुकारने लगी है। बोली—"अहा, बाबा को कष्ट है, मैं सेवा का पैसा क्या लूँगी। माथे के ऊपर धरमराज नहीं हैं?"

जीवन में मैंने जो दो-एक अच्छे काम किए, उनमें से एक प्रधान काम था गिरधारीलाल को बिना सलामी लिए कुछ जमीन देकर लवटोलिया में बसाना।

उसके झोंपड़े में एक दिन गया था।

अपने ही हाथों पाँचेक बीघा जमीन साफ करके उसने गेंहूँ बोया था। झोंपड़े के चारों तरफ जमीरी नीबू के पेड़ लगाए थे।

—"जमीरी नीबू के इतने पेड़ों का क्या करोगे ?"

—"हुजूर ये सरबती नींबू हैं। मैं इसे बहुत पसन्द करता हूँ। चीनी-मिसरी नहीं जुटती, बूरा या गुड़ का शरबत बना कर इसी नीबू का रस मिलाने से बेहतरीन हो जाता है।"

देखा, आशा के आनन्द से उसकी दो निरीह आँखें चमक उठीं।

—"अच्छी जात का है। पाव-पाव भर का एक-एक नीबू होगा। बड़े दिनों से साध थी, जमीन-जगह कभी होगी, तो सरबती नीबू के पेड़ लगाऊँगा। दूसरे के यहाँ नीबू के लिए बहुत बार अपमानित होना पड़ा है। वह दुःख अब न रहेगा।"

अट्ठारहवाँ परिच्छेद

[एक]

यहाँ से चल देने का समय आ गया। एक बार भानुमती से मिलने की बड़ी इच्छा हुई। धनझरी शैलमाला एक सुन्दर सपने की तरह मेरे मन में बैठ गई है....उसके वन...उसकी चाँदनी रातें.....

साथ लिया युगलप्रसाद को।

वह तहसीलदार सज्जनसिंह वाले घोड़े पर चला—अपने मौजे की हद पार होते-न-होते बोला—"हुजूर, यह घोड़ा नहीं चलने का। जंगल के रास्ते में इसने रहल चाल पकड़ी नहीं कि ठोकर खाकर गिरेगा। मेरा भी पैर टूटेगा। मैं दूसरा घोड़ा ले आऊँ।"

मैंने भरोसा दिया। सज्जनसिंह खासा घुड़सवार है। जाने कितनी बार मुकद्दमे की पैरवी में इसी घोड़े पर वह पूर्णियाँ गया। पूर्णियाँ का रास्ता कैसा बीहड़ है, तुमसे छिपा नहीं।

हम कारो नदी पार हुए।

उसके बाद जंगल—देखने लायक, अनोखा, घना और निर्जन जंगल। यह पहले ही कह चुका हूँ, इस जंगल में माथे के ऊपर डालों की आपसी टकराहट नहीं—सखुआ, केंद, पलाश, महुआ और बेर के पेड़—चट्टानों वाली रंगीन भूमि—ऊबड़-खाबड़। मिट्टी पर कहीं-कहीं जंगली हाथी के पैर के निशान। आदमी का नाम-निशान नहीं।

लवटोलिया के गंदे और घने मुहल्लों, जुते हुए खेतों से बाहर निकल कर जान-में-जान आई। ऐसे जंगल इधर और कहीं नहीं हैं।

रास्ते में पड़ने वाले बुरुडी और कुलपाल गाँव को बारह बजे से पहले ही हम पार कर गए। पतला जंगल उन्हीं के साथ पीछे छूट गया—

सामने बड़े पेड़ों वाला सघन वन। कातिक के आख़िरी दिन, हवा में खुनकी—गरमी नाम को भी नहीं।

दूर पर धनझरी की पहाड़ियाँ साफ दीखने लगीं।

साँझ को बीड़ी-पत्ते का जंगल इजारा लेने वाले की कचहरी में पहुँचा।

वह शाहाबाद का रहने वाला मुसलमान था। नाम था अब्दुल वाहिद। बड़ी आवभगत की उसने। बोला—"अच्छा ही हुआ कि साँझ होते-होते पहुँच गए। जंगल में बाघ का बड़ा डर है।"

निस्तब्ध रात्रि।

पेड़ों में हवा की सनसनाहट।

बाघ की बात सुनकर कचहरी के बरामदे में बैठने का साहस भी न हुआ।

खिड़की खोल कर कमरे में बातें करने लगा। अचानक जंगल में से किसी जंतु की आवाज आई। मैंने युगल से पूछा—"क्या है?"

युगल बोला—"जी कुछ नहीं, भेड़िया है।"

गहरी रात को जंगल में हायना की हँसी सुनाई पड़ी—ऐसी हँसी कि सहसा सुनकर मारे डर के छाती का लहू जम जाय, ठीक जैसे दमे के रोगी की हँसी हो—बीच-बीच में गुम, फिर हँसी।

दूसरे दिन सबेरे रवाना हुआ। नौ बजे के करीब दोबरू पन्ना की राजधानी पहुँच गया। मेरे इस अप्रत्याशित आगमन से भानुमती की खुशी का ठिकाना न रहा। हँसी होठों और आँखों में दबाए नहीं दब रही थी, छिटकी पड़ रही थी।

—"कल भी आपकी बात सोच रही थी मैं। इतने दिनों से आए क्यों नहीं?"

भानुमती जरा लम्बी लग रही थी—दुबली भी; मगर मुखमंडल वैसा ही लावण्य-भरा, बनावट वैसी ही सुन्दर।

—"झरने में ही नहाएँगे न? तेल महुए का लाऊँ या सरसों का?

इस बार बरसात में झरने में कितना अच्छा पानी आया है, चलिए देखिए। ''

मैं एक बात और भी गौर से देख रहा था---भानुमती रहती बड़ी साफ-सुथरी है, इस बात में दूसरी संथाल स्त्रियों से उसकी तुलना ही नहीं हो सकती। वेश-भूषा और प्रसाधन का सहज सौन्दर्य और रुचि-बोध ही उसके अभिजातवंश की लड़की होने का परिचय दे देता है।

मिट्टी के जिस घर के बरामदे में मैं बैठा था, उसके आँगन के चारों तरफ आसान और अर्जुन के बड़े-बड़े पेड़ थे। तोतों का झुंड आसान पेड़ पर कलरव कर रहा था। हेमंत का आरंभ था, समय ज्यादा हो जाने पर भी हवा में नमी थी। सामने आधे मील से भी कम फासले पर धनझरी की पहाड़ियाँ, माँग की तरह उसमें से उतरती हुई पगडंडी--- एक तरफ बहुत दूर पर नीले मेघ-सी दीखती हुई गया की पर्वत-पंक्तियाँ।

काश, मैं बीड़ी के पत्ते का जंगल खरीद कर इस शान्त जन-विरल प्रदेश की छाया-सघन उपत्यका के किसी पहाड़ी झरने के किनारे झोंपड़ा बनाकर रहता होता! लवटोलिया तो गया, लेकिन भानुमती के देश के इस जंगल को कोई नष्ट नहीं करेगा। इधर की माटी में कंकड़ और पायो-राइट ज्यादा है, फसल वैसी नहीं होती---फसल होती तो कभी-न-कभी यह भी जंगल नष्ट हो जाता। हाँ, ताँबे की खान निकल पड़े, तो और बात है।.....

ताँबे के कारखाने की चिमनी, ट्राली की लाइन, कुलियों के घरों की कतार, इंजन से झड़े कोयले की राख का ढेर---दूकान, चाय की दूकान, सस्ता सिनेमा---'जवानी की हवा', 'शेर-शमशेर', 'प्यार का फंदा' (मैटिनी में तीन आने, पहले से जगह दखल कर लें)---देशी शराब की दूकान---दरजी की दूकान। होम्यो फारमेसी (गरीब रोगियों का मुफ्त इलाज किया जाता है)। आदर्श और पवित्र हिन्दू होटल।

तीन का भोंपू बजा।

भानुमती इंजन से झड़े कोयले की टोकरी माथे पर लिए हुए बेचने चली—'लो, कोयला लो, चार पैसे टोकरी.....'

तेल लेकर भानुमती आ पहुँची। घर के सभी लोगों ने नमस्कार करके मुझे घेर लिया। भानुमती का छोटा चचा नौजवान जगरू एक डाल छीलता हुआ आया और हँस कर मेरी तरफ देखने लगा। इस जगरू को मैं बहुत चाहता था। राजकुमार जैसा चेहरा, रंग का काला, मगर कैसा रूप! इस घर में जगरू और भानुमती, इन दो को देखने से संदेह नहीं रह जाता कि वन्य जातियों में ये अभिजात वंश के हैं।

पूछा—"क्यों जगरू, शिकार का क्या हाल है?"

हँसकर उसने कहा —"आप फिक्र न करें, आज ही आपको खिला दूँगा। कहिए, क्या खाएँगे, साही, हरियल या वनमुर्गा?"

मैं नहा कर आया। बाल झाड़ने के लिए भानुमती ने वही आईना (जो मैंने पूर्णियां से ला दिया था) और लकड़ी की एक कंघी लाकर दी।

भोजन के बाद आराम कर रहा था। बेला झुक आई थी। भानुमती ने आकर कहा—"पहाड़ पर नहीं चलेंगे? आप तो पहाड़ पसन्द करते हैं।"

युगलप्रसाद सो रहा था। उसके जग जाने के बाद हम पहाड़ के लिए निकले। साथ में भानुमती, भानुमती की चचेरी बहन—जगरू के मँझले भाई की लड़की—बारह साल की, और युगलप्रसाद।

आध मील चलकर पहाड़ के पास पहुँचे।

धनझरी के नीचे जंगल का दृश्य ऐसा अनोखा है कि यहाँ जरा देर तक रुककर देखने की इच्छा होती। जिधर भी देखता, उधर ही बड़े-बड़े पेड़, लता, कँकरीला झरने का कुंड, जहाँ-तहाँ बिखरे हुए छोटे-बड़े शिलाखंड। जंगल और पहाड़ की ओट से आसमान कैसा शुरू हो गया है! सामने कँकरीली लाल मिट्टी की राह जंगल से होती हुई पहाड़ के ऊपर चली गई है—कैसी सूखी सख्त मिट्टी, न ओदी, न सीलवाली। झरने में भी पानी नहीं।

घने जंगल को चीर कर पहाड़ पर चढ़ते ही जाने किस चीज की मधुर गंध से मन-प्राण मत्त हो उठे, गंध बड़ी परिचित-सी थी, पहले समझ नहीं सका, बाद में जब चारों तरफ निगाह फैलाई, तो देखा सप्तपर्ण के फूलों से लदे पेड़ों की भरमार---खुशबू उसी की थी।

और केवल दो-चार पेड़ नहीं, सप्तपर्ण का पूरा जंगल था। और थे केलि-कदंब, कदंब नहीं, केलि-कदंब की जात ही और होती है। साग-वान के पत्तों से बड़े-बड़े पत्ते। आँकी-बाँकी खूबसूरत डालियाँ।

हेमंत के अपराह्न की शीतल बयार में, फूलों से लदे सप्तपर्ण के वन में खड़े होकर स्वस्थ किशोरी भानुमती की ओर देखकर जी में आया, मूर्तिमती वनदेवी के संग-लाभ से मैं धन्य हो गया हूँ। वह राजकुमारी तो है ही, यह जंगल, यह पहाड़, वह मिट्टी और कारो नदी की तलहटी, इधर धनझरी और उधर नवादा की पहाड़ियाँ---ये सारे इलाके कभी जिस राजवंश के कब्जे में थे, यह उसी राजवंश की लड़की है। वह राज-वंश आज नए युग की आब-हवा, भिन्न सभ्यता के संघात से विपन्न, गरीब और प्रभावहीन हो गया है, इसी से भानुमती को हम संथाल की लड़की-सी देखते हैं। उसे देखते ही भारत के इतिहास के अलिखित करुण अध्याय मेरी आँखों के आगे थिरक उठते हैं।

आज का यह अपराह्न मेरे जीवन के दूसरे अनेक सुन्दर अपराह्नों से जड़ित होकर स्मृतियों के समारोह में उज्ज्वल हो उठा---सपने-जैसा ही मधुर, सपने-जैसा ही अवास्तविक।

भानुमती बोली---"और ऊपर नहीं जाएँगे ?"

---"फूल की कैसी मीठी महक है। जरा देर यहाँ बैठोगी नहीं ? सूरज डूब रहा है---देख लूँ---"

मुस्काती हुई भानुमती बोली---"आपकी जो मर्जी ! बैठने को कहते हैं, बैठती हूँ ; लेकिन बाबा की कब्र पर फूल नहीं चढ़ाएँगे ? आपने ही तो सिखा दिया था, मैं रोज यहाँ फूल चढ़ाने आती हूँ। अभी तो यहाँ फूलों की भरमार है।"

आगे भिट्टी नदी उत्तरवाहिनी होकर पहाड़ के नीचे की तरफ घूम गई है। नवादा की ओर जो पहाड़ियाँ धुँधली दीख रही थीं, उन्हीं के पीछे सूरज डूब गया। सूरज के डूबते ही पहाड़ी हवा और भी ठंढी हो गई। सप्तपर्ण की सुवास और भी गाढ़ी हो गई, और भी गहरी छाया उतरी वनस्थली में, नीचे की उपत्यका में, कारो नदी के पार की पहाड़ियों पर।

भानुमती ने जूड़े में एक गुच्छा फूल खोंस लिया। बोली—"बैठूँ कि यहाँ से चलेंगे बाबूजी?"

फिर ऊपर चढ़ने लगा। सब के हाथों में फूलों से भरी सप्तपर्ण की एक-एक डाल। एकबारगी ऊपर चढ़ गया। बरगद का वही पुराना पेड़, पेड़ के नीचे राज-समाधि। चारों तरफ बिखरे पड़े शिलाखंड। भानुमती और उसकी बहन ने राजा दोबरू पन्ना की कब्र पर फूल बिखेरे, मैंने और युगलप्रसाद ने भी बिखेरे।

बच्ची तो है ही भानुमती—भोली बालिका-सी ही बेहद खुश हो गई। नन्ही नादान-जैसी ही बोली—"यहाँ जरा रुक जाऊँ बाबूजी, क्यों? अच्छा लग रहा है। है न?"

मैं सोच रहा था—बस, यही आखिरी है। यहाँ फिर कभी नहीं आऊँगा। यह समाधि, यह जंगल—इन्हें फिर नहीं देख सकूँगा। यहाँ के सप्तपर्णों से, भानुमती से यही हमारी सदा के लिए बिदाई है। छै साल का वनवास काट कर कलकत्ता जाना है, लेकिन जाने के दिन ज्यों-ज्यों समीप आ रहे हैं, मैं इन्हें और भी कसकर क्यों पकड़ता जा रहा हूँ?

इच्छा हुई कि भानुमती से यह कह दूँ। देखूँ कि मेरे जाने की बात पर वह क्या कहती है; मगर इस भोली वन-बाला को प्यार और आदर की बात कह कर होगा भी क्या?

साँझ होते-होते एक और भी नई खुशबू मिली। आस-पास बहुत-से हरसिंगार के पेड़ थे। साँझ होते-होते हरसिंगार की गाढ़ी खुशबू ने साँझ की हवा को और भी मधुर कर दिया। सप्तपर्ण के पेड़ और नीचे हैं।

इसी बीच पेड़ों पर जुगनू जलने लगे। हवा कैसी तेज, मीठी, मनोरम। साँझ के समय यह हवा सेवन की जाय, तो आयु बढ़ने में क्या सन्देह ? उतरने को जी नहीं चाह रहा था, लेकिन जानवरों का भय था, फिर साथ में थी भानुमती। युगलप्रसाद शायद इस फिक्र में लगा था कि यहाँ से कौन-कौन-से नए पेड़ ले जाकर वहाँ रोपे जायँ। मैंने देखा उसकी नजर और कहीं नहीं, नई लताओं, नए पौधों, फूल और अच्छे पत्तों पर गड़ी थी। युगलप्रसाद को पागल ही कहिए, इसी तरह का पागल।

सुनते हैं, फारस से चनार के पेड़ मँगवा कर नूरजहाँ ने काश्मीर में लगवाए थे। आज नूरजहाँ तो नहीं रहीं ; पर सारा काश्मीर चनार के पेड़ से भर गया है। युगलप्रसाद मर जायगा, मगर सरस्वती-कुंड में सौ साल के बाद भी हेमंत में खिले हुए स्पाइडर लिली के फूल अपनी खुशबू बिखेरते रहेंगे, या किसी-न-किसी झाड़ी में वन्य हंस-लता के हंसनुमा फूल डोलते रहेंगे—चाहे कोई यह न भी कहे कि युगलप्रसाद ने ही उन फूलों को लाकर नाढ़ा बैहार में लगाया था !

भानुमती बोली—"बाएँ वह जो है, वह उसी टांड़बारो का पेड़ है। पहचानते हैं ?"

मैं जंगली भैंसों के दयालु देवता टांड़बारो के पेड़ को अँधेरे में पहचान नहीं सका।

बड़ी दूर तक उतर आया। सप्तपर्ण के पेड़ आ गए। कैसी मन को नशे से भर देने वाली खुशबू !

भानुमती से कहा—"जरा बैठ लूँ।"

अंधकार-भरी वन-वीथि से उतरते-उतरते मैंने सोचा—लवटोलिया, गया, नाढ़ा और फुलकिया बैहार गया, लेकिन महालिखारूप का पहाड़ रहा, रही भानुमती की यह धनझरी पहाड़ी ! देश में शायद ऐसा भी एक समय आए, जब मनुष्यों को जंगल देखना नसीब न हो—जहाँ नजर जायगी—खेत ही खेत होंगे, जूट और कपड़े की कलों की चिमनियाँ होंगी।

तब लोग इन निर्जन वन-प्रदेशों में आएँगे—जैसे लोग तीर्थों में जाया करते हैं। उन अनागत दिनों के लोगों के लिए ये सारे वन अक्षुण्ण रहें।

[दो]

रात को जगरू पन्ना और उसके दादा के मुँह से उन लोगों की बहुतेरी बातें सुनीं। महाजन का कर्ज अभी तक चुकाया नहीं जा सका है, रुपये उधार लेकर दो भैंसें खरीदनी पड़ीं, बिना इसके काम नहीं चल रहा था; गया का एक मारवाड़ी घी खरीद कर ले जाया करता था, पिछले तीन-चार महीने से उसका भी कहीं पता नहीं। आध मन के करीब घी तैयार है, कोई लेने वाला ही नहीं!

भानुमती आकर एक तरफ बैठ गई। युगलप्रसाद चाय का बहुत आदी है। मुझे पता था कि वह अपने साथ चाय-चीनी ले आया है। यह भी जान रहा था कि संकोच से वह गरम पानी की बात कह नहीं पा रहा है। मैंने कहा—"भानुमती, चाय के लिए थोड़ा-सा पानी गरम हो सकेगा?"

राजकुमारी भानुमती ने चाय कभी नहीं पी। चाय पीने का इधर रिवाज भी नहीं। उसे बता दिया गया। वह गरम करके पानी ले आई। उसकी बहन कुछ पत्थर के कटोरे ले आई। भानुमती से चाय पीने का आग्रह किया। उसने नहीं पी। जगरू ने एक कटोरा पीकर थोड़ी-सी और माँगी।

चाय पीकर और सब तो उठ गए, भानुमती बैठी रह गई। पूछा—"यहाँ कितने रोज डेरा रहेगा बाबूजी? अबकी बहुत दिनों बाद आए हैं। कल तो हर्गिज नहीं जाने दूँगी। कल चलिए, आपको झांटी झरना दिखा लाऊँ। वहाँ और भी घनघोर जंगल है। जंगली हाथी बहुत हैं। वन-मयूर भी बहुत हैं। सुन्दर जगह है—दुनिया में वैसी दूसरी जगह नहीं।

बड़ी इच्छा हुई यह जानने की कि भानुमती की दुनिया कितनी बड़ी है। पूछा—"कभी कोई शहर देखा है?"

—"जी नहीं।"

—"दो-एक शहर के नाम तो बताओ।"

—"गया, मुंगेर, पटना।"

—"कलकत्ता का नाम नहीं सुना?"

—"जी, सुना है।"

—"जानती हो, किधर है?"

—"क्या जानूँ बाबूजी।"

—"हम लोग जहाँ रहते हैं, उस देश का नाम जानती हो?"

—"हम गया जिले में रहते हैं।"

—"भारतवर्ष का नाम सुना है?"

सिर हिलाकर उसने बताया—"नहीं सुना है। चकमकी-टोला को छोड़कर गई भी नहीं कहीं। भारत किधर है?"

जरा देर बाद बोली—"बूढ़े बाबा एक भैंस लाए थे, वह इस बेला तीन सेर और उस बेला तीन सेर दूध देती थी। उस समय हमारी हालत इससे अच्छी थी। उस वक्त आप आए होते, तो आपको खोआ खिलाती। बाबा अपने हाथों से खोआ बनाते थे—क्या ही मीठा खोआ! अब तो उतना दूध ही नहीं होता, तो खोआ कहाँ हो। उस समय हम लोगों का आदर भी खूब था।

उसके बाद उसने हाथ को चारों तरफ घुमाकर गर्व के साथ कहा—"जानते हैं बाबूजी, इस तमाम देश में अपना ही राज्य था! सारी दुनिया में। जंगल में आप जो गोंड़ और संथाल देखते हैं, ये सब हमारी जात के नहीं हैं। हम हैं राजगोंड़। वे सब हमारी प्रजा हैं, हमें वे अपना राजा मानते हैं।"

उसकी बात पर हँसी भी आई, दुःख भी हुआ। कर्ज के रहते हुए महाजन जिसकी भैंसें दोनों शाम खोल ले जाया करते हैं, वह भी राजवंश का नाज करने से बाज नहीं आता।

मैंने कहा—"मुझे पता है, तुम्हारा राजवंश कितना बड़ा है"—

भानुमती बोली—"उसके बाद की सुनिए, हमारी उस भैंस को बाघ ले गया, जो भैंस बूढ़े बाबा ले आए थे।"

—"सो कैसे?"

—"बूढ़े बाबा चराने ले गए थे। खुद एक गाछ के नीचे बैठे थे। धर दबोचा बाघ ने।"

पूछा—"तुमने कभी बाघ देखा है?"

अचरज के भाव में अपनी काली भँवों को ऊपर करती हुई भानुमती ने कहा—"मैंने बाघ नहीं देखा! जाड़े में कभी आइए चकमकी-टोला—आँगन से बाघ गाय-बछरू पकड़ ले जाता है।"

यह कहकर उसने आवाज दी—"निछनी-निछनी, सुन तो।"

उसके आने पर बोली—"जरा बता तो दे बाबूजी को, पिछले साल जाड़े में बाघ अपने आँगन में क्या तमाशा करता था। जगरू ने फंदा डाला था एक दिन। फँसा नहीं।"

फिर अचानक बोली—"अच्छा एक चिट्ठी पढ़ देंगे? कहीं से कोई चिट्ठी आई थी। पढ़े कौन? पड़ी है। "जा तो निछनी, चिट्ठी ले आ। जगरू चाचा को भी बुलाती आना।"

निछनी को चिट्ठी न मिली। वह खुद गई। खोज-ढूँढ़ कर ले आई और मुझे दी।

पूछा—"कब आई है यह?"

भानुमती बोली—"छै-सात महीने हुए होंगे आए। आपके आने की इन्तजार में रख दिया था इसे। हम तो पढ़ना जानते नहीं। अरी निछनी, जगरू चाचा को बुला ला। सब को बुला ले, चिट्ठी पढ़ी जायगी।"

छै-सात महीने पहले की चिट्ठी को मैं युगलप्रसाद के चूल्हे के उजाले में पढ़ने बैठा। सुनने के लिए घर-भर के लोग मुझे घेर कर बैठे। राजा दोबरू के नाम थी—कैथी अक्षरों में लिखी हुई। पटना के किसी महाजन ने राजा से पूछा था कि बीड़ी के पत्ते का जंगल इधर है या नहीं। है तो उसकी बन्दोवस्ती कैसे होती है।

चिट्ठी से इनका कोई ताल्लुक नहीं था——इनके अख्तियार में बीड़ी के पत्ते का जंगल ही नहीं। राजा दोबरू नाम के ही राजा थे——वह खत लिखने वाला अगर यह जानता होता कि चकमकी-टोला में अपने घर के अतिरिक्त उसके पास गज-भर भी जमीन नहीं है, तो टिकट खर्च करके यह खत हर्गिज नहीं लिखता।

बरामदे में उस तरफ युगलप्रसाद रसोई बना रहा था। चूल्हे की आँच से बरामदे पर थोड़ा-सा उजाला फैला था। और इधर थोड़ी दूर तक चाँदनी पड़ी थी, यद्यपि आज बदी तृतीया थी। जरा देर हुई कि धन-झरी पहाड़ की ओट में से चाँद निकला। सामने कुछ दूर पर आधे चाँद की शक्ल की पर्वतश्रेणी.... चकमकी-टोला के बच्चों का शोर-गुल सुनाई पड़ रहा था। यहाँ बिताई गई यह रात कितनी भली लग रही थी! बलभद्र ने उस दिन जो उन्नति करने की बात कही थी, सो याद हो आई।

आखिर मनुष्य क्या चाहता है, उन्नति, या आनन्द? उन्नति करके होगा क्या, अगर उसमें आनन्द न हो? मैं ऐसे बहुतों की बात जानता हूँ, जिन्होंने जिन्दगी में उन्नति तो की, मगर आनन्द से हाथ धो बैठे। जरूरत से ज्यादा भोग से मनोवृत्ति की धार घिस-घिस कर भोथरी हो गई——अब किसी बात में आनन्द नहीं मिलता, उनका जीवन एकांगी, नीरस और अर्थहीन हो गया है। मन के अन्दर रस का प्रवेश ही नहीं हो पाता।

यहीं अगर रह पाता मैं! भानुमती से ब्याह करता। इस माटी के घर में चांदनी वाले बरामदे पर भोली वन-बाला खाना पकाती हुई ऐसी ही बच्चों की-सी बातें करती और मैं बैठा-बैठा सुनता। और सुना करता काफी रात गए वन में भेड़िए की आवाज, वन-कुक्कुट की पुकार, जंगली हाथी की चिंघाड़, हायना की हँसी। भानुमती है तो काली; पर ऐसी तन्दुरुस्त लड़की बंगाल में नहीं मिलती। और इसका यह तेज, सरल मन! दया है, ममता है, स्नेह है——इसके अनेक प्रमाण मैं पा चुका हूँ।...

सोचते हुए भी अच्छा लगता। कितना सुन्दर सपना ! उन्नति करके भी क्या होगा ? उन्नति करे जाकर बलभद्दर सेंगात। रासबिहारीसिंह उन्नति करे।

युगलप्रसाद ने पूछा—"रसोई तैयार हो गई, चौका लगाऊँ ?" भानुमती के यहाँ आतिथ्य में कोई कोर-कसर नहीं होती। इधर खास कुछ मिलता नहीं, फिर भी जगरू कहीं से बैंगन और आलू ले आया था। उड़द की दाल, चिड़िया का मांस, घर का शुद्ध घी, दूध। युगलप्रसाद की बनाई रसोई भी खूब बनती।

आज जगरू, जगरू के दादा, निछनी—सब मेरे चौके में खायँगे। मैंने उन्हें खाने को कहा है ; इसलिए कहा है कि ऐसी रसोई उन्हें नसीब नहीं। मैंने कहा—"तुम लोग भी एक ही साथ बैठ जाओ एक तरफ। युगलप्रसाद को परसने में भी सहूलियत होगी। आज साथ ही खाया जाय।"

मगर वे तैयार नहीं हुए। जब तक हम लोग खा नहीं लेते, वे नहीं खाएँगे।

दूसरे दिन आते वक्त भानुमती गजब कर बैठी। अचानक मेरा हाथ थाम कर बोली—"आज आपको नहीं जाने दूँगी बाबूजी—"

मैं अवाक् हो उसके मुँह की ओर देखता रह गया। दुःख हुआ। उसके आग्रह से सुबह नहीं चल सका—दोपहर के भोजन के बाद विदा हुआ।

फिर दोनों तरफ छाया-सघन वन-वीथी। राह के किनारे कहीं जैसे राजकुमारी भानुमती खड़ी हो, बालिका नहीं, युवती भानुमती—उसे मैंने कभी नहीं देखा। उसकी नजर उसके प्रेमी के आगमन-पथ की ओर बिछी है।—शायद वह पहाड़ के उस पार शिकार को गया है—आने ही वाला है अब। मैंने मन-ही-मन तरुणी को आशीर्वाद दिया। धनझरी पहाड़ के जुगनू जले निस्तब्ध प्राचीन सप्तपर्ण के वन और अपूरब दूर-च्छन्दा साँझ की ओट में वन-बाला का गोपन अभिसार सार्थक हो।

अपने स्थान पर लौट आया और हफ्ते भर में सब से विदाई लेकर लवटोलिया से चल दिया।

आते समय राजू पांडे, गनौरी, युगलप्रसाद, अशर्फी टंडेल आदि पालकी को चारों तरफ से घेर कर लवटोलिया की सीमा पर बसी नई बस्ती, महाराज-टोला तक साथ-साथ आए। मटुकनाथ ने संस्कृत का श्लोक पढ़कर मुझे आशीर्वाद दिया। राजू ने कहा—"हुजूर आपके चले जाने से लवटोलिया उदास हो जायगा।"

'उदास' शब्द का व्यवहार और उसके अर्थ की व्यापकता यहाँ बहुत ज्यादा है, प्रसंगवश यह कह दूँ। मान लीजिए भुनी मकई खाने में अच्छी न लगी, तो लोग कहेंगे—भुँजा उदास लगता है। मैं नहीं कह सकता, मेरे लिए यह 'उदास' किस अर्थ में व्यवहृत हुआ।

मैं जब विदा होने लगा, तब एक औरत रोई थी। वह सुबह से ही कचहरी के अहाते में आकर खड़ी रही—जब मेरी पालकी चलने लगी, तब मैंने देखा, वह जोरों से रो रही है। वह थी कुंता!

कुंता को जमीन देकर मैंने बसाया, यह मेरे मैनेजरी जीवन का एक सत्कार्य था। एक उस मंची के लिए मैं कुछ नहीं कर सका। न जाने कौन उस अभागिन को भगा ले गया! आज वह होती, तो मैं बिना सलामी लिए उसे जमीन देता।

नाढ़ा बैहार में नकछेदी के घर पर जो नजर पड़ी, तो उसकी बात याद हो आई। सुरतिया बाहर कुछ कर रही थी। मेरी पालकी पर नजर पड़ते ही वह चीख उठी—"बाबूजी, बाबूजी—जरा रुकिए!"

वह पालकी के पास दौड़ी आई। पीछे-पीछे आई छनिया।

—"कहाँ जा रहे हैं बाबूजी?"

—"भागलपुर। तेरे बाबूजी कहाँ हैं?"

—"गेहूँ लाने गए हैं झल्लू-टोला। आप लौटेंगे कब?"

—"मैं अब नहीं लौटूँगा।"

—"हुँः, झूठी बात!"

नाढ़ा बैहार पार हो गया, तो पालकी से गर्दन निकाल कर एक बार उलट कर देखा।